B.Com-101

व्यवसायिक संगठन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड – एक : व्यापारिक संगठन की मूलभूत संकल्पनाएँ एवं प्रकार 3–44

इकाई 1 : मूलभूत संकल्पनाएँ

इकाई 2 : व्यवसायिक संगठन के रूप–I

इकाई 3 : व्यवसायिक संगठन के रूप– II

इकाई 4 : व्यासायिक प्रवर्तन

खण्ड – दो : व्यापार एवं वित्त 45–112

इकाई 5 : वित्त संवर्धन की रीतियां

इकाई 6 : पूँजी ढाँचा

इकाई 7 : दीर्घकालीन वित्त के साधन एवं अभिगोपन

इकाई 8 : स्कन्ध विनिमय

खण्ड – तीन : विपणन 113–168

इकाई 9 : विपणन संस्थायें

इकाई 10 : वितरण माध्यम

इकाई 11 : फुटकर विपणन

इकाई 12 : थोक विपणन

खण्ड – चार : व्यवसायिक संयोजन 169–220

इकाई 13 : व्यवसायिक संयोजन

इकाई 14 : व्यवसायिक संयोजनों के प्रकार

PLONE-029

इकाई 15 : व्यवसायिक संयोजनों के प्रारूप

इकाई 16 : व्यावसाय की व्यवहार्यता

खण्ड – पाँच : सरकार और व्यवसाय 221–270

इकाई 17 : व्यवसाय में सरकार की भूमिका

इकाई 18 : सार्वजनिक भूमिका

इकाई 19 : सार्वजनिक उपक्रमों में संगठन के स्वरूप

इकाई 20 : लोकोपयोगी सेवा संस्थाए

PLONE-029

B.Com-101

व्यावसायिक संगठन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड — 1

व्यापरिक संगठन की मूलभूत संकल्पनाएँ एवं प्रकार

इकाई — 1 **7**

मूलभूत संकल्पनाएँ

इकाई — 2 **17**

व्यवसायिक संगठन के रूप–I

इकाई — 3 **31**

व्यवसायिक संगठन के रूप– II

इकाई — 4 **37**

व्यासायिक प्रवर्तन

PLONE-029

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 अरविन्द कुमार	वाणिज्य संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो0 गीतिका	विभागाध्यक्ष, प्रबन्ध अध्ययन विद्याशाखा एम0एन0आई0टी0 प्रयागराज
प्रो0 एच0के0 सिंह	वाणिज्य संकाय बी0एच0यू0 वाराणसी
डॉ0 ओमजी गुप्ता	निदेशक प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा प्रयागराज

लेखक

डॉ0 एस0एस0 मजहर	सहायक आचार्य डी0आई0एम0टी0 प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 एच0 के0 सिंह	वाणिज्य संकाय बी0एच0यू0 वाराणसी

परिमापक

अनुवाद की स्थिति में
मूल लेखक अनुवाद
मूल सम्पादकभाषा सम्पादक
मूल परिमापकपरिमापक

सहयोगी टीम

संयोजक

डॉ0 देवेश रंजन त्रिपाठी	सहायक आचार्य, व्यापार प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज.

प्रकाशक

मार्च, 2024 (मुद्रित)

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2024

ISBN - 978-93-83328-76-5

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नही है।

प्रकाशक– उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष – 2024.

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी , मथुरा – 281003.

खण्ड परिचय

व्यापारिक संगठन की मूलभूत संकल्पनाएँ एवं प्रकार

प्रस्तुत खण्ड स्नातक वाणिज्य के अति महत्त्वपूर्ण व प्रारम्भिक पाठ्यक्रम ''व्यापारिक संगठन'' का प्रथम सोपान है। इस खण्ड में व्यापारिक संगठन की आधारभूत संकल्पनाओं तथा इसके विभिन्न स्वरुपों को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। वर्गीकरण, उद्यमी और उद्यमिता, विभिन्न व्यावसायिक क्रियाएँ, व्यवसाय का वर्गीकरण, उद्यमी और उद्यमिता, विभिन्न व्यावसायिक संगठनों का प्रवर्तन तथा विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक संगठनों के सम्बन्ध में विस्तार से अध्ययनोपयोगी सामग्री को क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आइये इस खण्ड की विभिन्न इकाईयों की विषय वस्तु को क्रमशः जानने का प्रयास करें:–

इकाई 01 में मानवीय कार्यकलाप, व्यवसाय तथा व्यवसायिक क्रियाएँ, व्यवसाय तथा रोजगार में भिन्नता, व्यवसाय का वर्गीकरण, वाणिज्यिक क्रियाओं का सम्मिलित किया गया है।

इकाई 02 में व्यावसायिक संगठन के विभिन्न स्वरुपों यथा एकल स्वामित्व संगठन, संयुक्त हिन्दू परिवार तथा सहकारी संगठनों का परिचय, विषेषताएँ, गुण तथा सीमाओं को प्रस्तुत किया है।

इकाई 03 इकाई 02 की विस्तारित इकाई है, जिसमें आदर्ष व्यवसायिक संगठन के गुण, संगठनों के विभिन्न रुपों की तुलना, संगठन चुनाव के मापदण्ड, तथा संगठन के रुप का चुनाव को प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 04 मूलतः उद्यम और उद्यमिता से सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत उद्यमिता की संकल्पना, विषेषताएँ, उद्यमी का अर्थ तथा उसके कार्य, प्रर्वतन तथा प्रवर्तक, प्रवर्तक तथा उद्यमी में अन्तर, प्रवर्तन के विभिन्न प्रकारों के साथ–साथ विभिन्न प्रकार के संगठनों का प्रवर्तन किस प्रकार किया जाये, जैसी विषयवस्तु को विस्तारित स्वरुप प्रदान किया गया है।

PLONE-029

इकाई–1 मूलभूत सकल्पनाएँ

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मानवीय कार्यकलाप

1.2.1 अनार्थिक क्रियाएँ

1.2.2 आर्थिक क्रियाएँ

1.3 व्यवसाय व्यवसाय के अन्तर्गत आने वाली विषेश बाते।

1.3.1 विशेषताएँ

1.3.2 क्षेत्र

1.3.3 वर्गीकरण

1.4 उद्योग

1.5 व्यवसाय तथा रोजगार में भिन्नता

1.6 व्यवसाय का वर्गीकरण

1.7 वाणिज्य

1.8 सारांश

1.9 उपयोगी शब्दावली

1.10 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- माननीय कार्यकलाप के स्थूल वर्गों को पहचान सकेंगें,
- ''व्यवसाय क्या है'' इसका वर्णन कर सकेंगें,
- व्यवसाय के लक्षणों तथा उद्देश्यों को सूचीबद्ध कर सकेंगें,
- व्यावसायिक कार्यकलाप का वर्गीकरण कर सकेंगे,
- व्यावसायिक संगठन के स्वरुप का वर्णन कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

आदि काल से मानव किसी न किसी रूप में व्यवसाय करता चला आ रहा है । परन्तु उसके स्वरूप में धीरे –धीरे परिवर्तन होता रहा। आज व्यवसाय जितना ही जटिल हो गया है उतना ही महत्वपूर्ण भी । बिना व्यवसाय के हम किसी समाज की कल्पना ही नहीं कर सकते । व्यवसाय का तात्पर्य उन आर्थिक कार्यकलापों से है जो कि वस्तुओं के उत्पादन अथवा उनके क्रय विक्रय से सम्बन्धित हों । इसके बारे में आप अधिक ज्ञान इस इकाई में प्राप्त कर सकेंगे । अन्य महत्वपूर्ण बातें जो व्यवसाय आदि से जुडी हैं उनका ज्ञान आप इस इकाई का गहन अध्ययन कर प्राप्त कर सकेंगे ।

1.2 मानवीय कार्यकलाप

व्यवसाय एक अत्यन्त व्यापक शब्द है, जिसका अर्थ''किसी कार्य में व्यस्त रहने की दशा' से भी इसकी व्यापकता का आभास होता है । व्यवसाय मानवीय आर्थिक क्रियाओं का एक महत्वपूर्ण अंग है । मानवीय कार्यकलाप एक ऐसा कार्यकलाप है जो मूलरूप से मनुष्य पर आधारित है । अगर मनुष्य को उसके किये कार्य को प्रथक कर दे तो मानवीय कार्यकलाप का अर्थ समझना अति कठिन होगा । मानव की प्रतिदिन की क्रियाए मानवीय कार्यकलाप कहलाती है ।

मानवीय कार्यकलाप को दो वर्णो में विभक्त किया जा सकता है :–जैसे कि :–

(1) अनार्थिक क्रियाएं एवं (2) आर्थिक क्रियाएँ

1.2.1 अनार्थिक क्रियाएँ

अनार्थिक क्रियाओं से तात्पर्य उन क्रियाओं से है जो धन कमाने के उद्‌देश्य से नहीं वरन मानव की सहानुभूति, प्रेम, धर्म आदि से सम्बनधित होती है । पत्नी द्वारा पती की सेवा, मां द्वारा बच्चे को प्यार करना, मन्दिर में जाना आदि अनार्थिक क्रियाओं के उदाहरण हैं ।

1.2.2 आर्थिक क्रियाएँ

आर्थिक क्रियाओं से तात्पर्य मनुष्य की उन क्रियाओं से है, जिनके पीछे कोई आर्थिक प्रयोजन हो, अर्थात जो धनोपार्जन के उद्‌देश्य से की गयी हो । व्यवसाय मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का वह महत्वपूर्ण अंग है जिनका सम्बन्ध वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन, विनिमय व वितरण से होता है ।

मनुष्य की समस्त आर्थिक क्रियाओं को प्रमुख रूप से तीन उपभागों में विभक्त किया जा सकता है । जैसे कि :–

(अ) पेशाः– जिसमें एक व्यक्ति अपने विशिष्ट ज्ञान, प्रशिक्षण एवं अनुभव के आधार पर विशेष प्रकार की व्यक्तिगत सेवाएं प्रदान करता है। जैसे वकालत, डाकटरी, अध्यापन आदि ।

(ब) नौकरीः– जिसमें एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के अधीन कार्य करता है, जैसे प्राइवेट या सरकारी नौकरी आदि। नौकरी को रोजगार भी कहते है। कारखानों में काम करना, बुनाई करना कडहाई करना, होटल, कार्यालय में काम आदि करना नौकरी अथवा रोजगार कहलाता है ।

(स) व्यवसाय :— वास्तव में व्यवसाय के अन्तर्गत मनुष्य की समस्त आर्थिक क्रियाओं का समावेश नहीं किया जाता। व्यवसाय' की परिभाषा के अन्तर्गत मानव की उन आर्थिक क्रियाओं का समावेश किया जाता है जिनका उद्‌देश्य वस्तुओं व सेवाओं के द्वारा समाज की आवश्यकता की पूर्ति करके लाभ कमाना होता है ।

1.3 व्यवसाय का अर्थ

व्यवसाय का तात्पर्य उन आर्थिक कार्यकलापों से है जो कि वस्तुओं के उत्पादन अथवा उनके क्रय –विक्रय से सम्बन्धित हो और जिनका उद्‌देश्य लाभ प्राप्त करके धनोपार्जन अथवा क्रय शक्ति बढाना हो । आइये इस अवधारणा से सम्बन्धित कुछ प्रमुख परिभाषाओं को आत्मसात करने का प्रयास करेः

नीचे कुछ प्रमुख विद्धानों द्वारा दी गयी व्यवसाय की परिभाषाएं है, जो कि इस प्रकार है :—

(क) '' व्यवसाय से आशय उन मानवीय क्रियाओं से है जो वस्तुओं के क्रय–विक्रय द्वारा धन उत्पादन अथवा धन प्राप्ति के लिए की जाती है । **(एल.एच हैने)**

(ख) व्यवसाय का अर्थ आपसी लाभ के लिए वस्तुओं, द्रव्य अथवा सेवाओं के विनियम से है । **(मेकनाटन)**

(ग) व्यवसाय केवल ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जो वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन तथा वितरण के लिए नियमित रूप से संगठित किये जाते है । **(कीथ एवं गुललिनि)**

1.3.1 व्यवसाय की विशेषताएं अथवा लक्षण

व्यवसाय में निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती है :—

(क) मानवीय क्रिया— व्यवसाय सदैव केवल मानव द्वारा ही किया जाता है, पशु—पक्षियों द्वारा नहीं ।

(ख) आर्थिक क्रिया— व्यवसाय एक आर्थिक क्रिया है, जो धनोत्पादन के उद्‌देष्य से की जाती है । अनार्थिक क्रियाएं व्यवसाय के क्षेत्र में नहीं आती ।

(ग) साहस— प्रत्येक व्यवसायिक क्रिया में साहस का तत्व अवश्य होता है। व्यवसाय साहस की आधारशिला पर निर्मित होते है। साहसी व्यक्ति व्यवसाय की स्थापना की ओर अग्रसर होता है ।

(घ) जोखिम एवं भावी सफलता का तत्वः— प्रत्येक व्यवसाय में जोखिम का तत्व अवश्य होता है, साथ ही व्यक्ति व्यवसायिक जोखिम को वहन करने का साहस करके व्यवसाय को आरम्भ करता है ।

(ड़) व्यवहारों में नियमितताः— वस्तुओं तथा सेवाओं के उसी विनियम को व्यवसाय कहा जाता है जो नियमित रूपसे किया जाए तथा निरन्तर जारी रहे ।

(घ) उपयोगिता का सृजनः— व्यवसायिक क्रियाओं से उपयोगिता का सृजन होता है व्यवसायी व्यवसायिक क्रियाओं द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं में रूप उपयोगिता, स्थान उपयोगिता, समय उपयोगिता तथा अधिकार सम्बन्धी उपयोगिता का सृजन करता है ।

PLONE-029

(घ) लाभ उद्देश्यः– व्यवसायिक क्रियाएं लाभ कमाने के उद्देश्य से की जाती है। वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण द्वारा लाभ कमाना व्यवसाय की एक महत्वपूर्ण विशेषता है ।

(ज) सेवाभाव– व्यवसायी को केवल अपने लाभ का ही ध्यान नहीं रखना चाहिए, अपितु समाज के हित का ध्यान रखना चाहिए ।

1.3.2 व्यवसाय का क्षेत्र

व्यवसाय का सम्बन्ध, मुख्यता, उन मानवीय कार्यकलापों से है जो वस्तुओं के उत्पादन तथा क्रय – विक्रय या विभिन्न सेवाओं के आदान–प्रदान से है । वास्तव में, व्यवसाय के दो प्रमुख तत्व या अंग है । जो इस प्रकार है :–

(क) **उद्योगः**– उद्योग का तात्पर्य केवल वस्तुओं के उत्पादन से लिया जाता है और अनेक प्रकार के कारखानों से जहाँ वस्तुओं का निर्माण होता है । चीनी, सीमेन्ट आदि से हम भली भांति परिचित है । उद्योग को हम कई अर्थो में प्रयोग कर सकते है ।

मोटे तौर पर उद्योग के द्वारा हम या तो उपभोक्ता पदार्थो या उत्पादक पदार्थो का निर्माण करते है । इस प्रकार से या तो उपभोक्ता पदार्थ उद्योग अथवा उत्पादक पदार्थ उद्योग की ही बहुलता पायी जाती है ।

1.3.3 उद्योगों का वर्गीकरण

उद्योगों की प्रकृति के आधार पर, हम उन्हें प्रमुख भागों में विभक्त कर सकते है ।

(क) जननिक उद्योग– इसके अन्तर्गत वे सभी प्राथमिक उद्योग आते है जिनके द्वारा भूमि या प्रकृति से प्राप्त प्राथमिक साधनों का विदोहन करके उत्पादन का कार्य किया जाता है ।

(ख) निष्कर्षण उद्योग– इसके अन्तर्गत ऐसे उद्योग आते है जिनका सम्बन्ध भूमि अथवा वायु जैसे प्राकृतिक सेतों से पदार्थो का निष्कषर्ण करने से होता है इन उद्योगों की क्षयवान उद्योग भी कहते है ।

(ग) विश्लेषणात्मक उद्योग– इनके अन्तर्गत ऐसे उद्योग आते हैं जिसमें एक ही कच्चे माल का विश्लेशण करके उसे कई भागों में बांटा जाता है ।

(घ) सांश्लेषिक उद्योग– विश्लेशाणात्मक उद्योग के अन्तर्गत एक वस्तु से कई वस्तु का निर्माण करते है जबकि सांश्लेषिक उद्योग के अन्तर्गत इस कई वस्तुओं को मिलाकर एक वस्तु का निर्माण करते हैं, जैसे चूना पत्थर, जिपसम, कोयला आदि पदार्थो को मिलाकर सीमेन्ट बनाया जाता है ।

(ड़.) एकीकरण उद्योग– इस श्रेणी में ऐसे उद्योग आते है जिनमें वस्तुओं को विभिन्न प्रविधियों के अनुसार एकीकृत स्वरूप, प्रदान किया जाता है । बिजली का तार – टेलीफोन का तार, रबड, टायर, आदि उद्योग इसके प्रमुख उदाहरण है ।

(च) रचनात्मक उद्योग– इसका सम्बन्ध ऐसे उद्योगों से है जो किसी निश्चित स्थान पर स्थाई रूप्से निर्माण करते है ।इस प्रकार से निमित वस्तुओं का निर्माण किया जाता है ।

(ज) संयोजन उद्योग– इसके अन्तर्गत ऐसे उद्योग आते है जिनमें कई निर्मित वस्तुओं एकत्रित करके बेचने योग्य अथवा उपयोगी वस्तुओं का निर्माण किया जाता है कार, हवाई जहाज,स्कूटर आदि ।

(ख) वाणिज्य– उत्पादक एवं उपभोक्ता के बीच में वाणिज्य एक कडी के रूप में कार्य करता है और एक दूसरे को जोडता है । अन्य शब्दों में, माल को उसके उत्पादन स्थल से उपभोग के स्थान तक पहुंचाने में जो बाधाएं आती है उनको दूर करने से सम्बन्धित प्रक्रियाओं को ही वाणिज्य कहा जाता है ।

वाणिज्य की निम्नलिखित परिभाषायें ध्यान देने योग्य है :–

(इवालिन थामस के शब्दों में)'' वाणिज्यिक पेशों का सम्बन्ध वस्तुओं के क्रय एवं विक्रय वस्तुओं के विनियम तथा निर्मित उत्पादों के वितरण से होता है ।

(जेम्स स्टीफेन्सन के शब्दों में) ''वाणिज्य के अन्तर्गत वे सब क्रियायें आती है जो कि उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के बीच की दीवारों को तोडने में सहायता करती है । यह सब उन प्राविधियों का कुल मोह है जो कि वस्तुओं के विनियम से व्यक्तियों स्थान तथा समय की बाधाओं को दूर करने में संलग्न होती है ''

(ग) व्यापार– व्यापार का तात्पर्य वस्तुओं अथवा सेवाओं के क्रय– विक्रय से है। व्यापार का प्रमुख उद्देश्य उत्पादकों से उपभोक्ताओं को मिलाना है। प्रायः व्यवसाय तथा व्यापार को ही अर्थ में प्रयोग में लाया जाता है, जो सही नही है।

1.4 व्यवसाय का उद्देश्य

व्यवसाय के उद्देश्यों को चार भागों में विभक्त किया जाता है जैसे कि–

(1) आर्थिक या लाभार्जन उद्देश्य– व्यवसाय के आर्थिक उद्देश्य से तात्पर्य है लाभ कमाना । यह सत्य है कि व्यवसाय एक ऐसी मानवीय क्रिया है जो वस्तुओं के क्रय विक्रय के द्वारा लाभ कमाने के लिए सम्पत्र की जाती है । व्यवसाय में लाभ के महत्व पर प्रकाश डालते हुए रेल्फ हारबिज ने लिखा है कि ''लाभ व्यवसायिक क्रिया का नवजीवन स्रोत है । लाभ के बिना व्यवसायिक क्रियाओं का संचालन नहीं किया जा सकता ।

(2) सामाजिक उद्देश्य– आर्थिक उद्देश्य के साथ साथ –साथ व्यवसाय का उद्देश्य उपभोक्ता की सेवा करना भी होना चाहिए। वर्तमान प्रतियोगी युग में ग्राहक ही बाजार का राजा है । वर्तमान अर्थव्यवस्था ग्राहक प्रधान है तथा उपभोक्ता सदैव सही है के आधार पर ही व्यवसाय का सफल संचालन किया जा सकता है ।

(3) मानवीय उद्देश्य– व्यावसायिक क्रियाओं का तीसरा उचित उद्देश्य'मानवीय' कहा जा सकता है। व्यवसाय में भूमि कच्चा माल व मशीन जैसे जड़ पदार्थ ही नहीं होते, वरन उनमें प्रबन्धक संगठकर्ता व श्रमिको की एक विशाल सेना भी होती है । मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति हेतु व्यवसायी को निम्न कार्य करना चाहिए ।

(क) पूंजी के विनियोजकों को उचित लाभांश देना चाहिये।

(ख) पूर्तिकर्ताओं को उचित मूल्य देना चाहिए।

(ग) दुर्घटनाओं की रोक थाम की जाये।

(घ) शिक्षण व प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था हो।

(ड़) कर्मचारियों के विकास की समुचित व्यवस्था हो इत्यादि।

PLONE-029

(3) **राष्ट्रीय उद्देश्य**– इससे आशय राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन किए जाने से है निम्न कार्य किए जा सकते है (क) सरकार के नियमों को धर्म समझकर दृष्ठता से पालन करना चाहिए (ख) करों का समय पर भुगतान करना चाहिए आदि ।

1.5 व्यवसाय वृत्ति तथा रोजगार में भिन्नता

आप व्यवसाय की मूलभूत विषेषताओं के बारे में पढ़ चुके हैं। इन विषेषताओं को ध्यान में रखते हुए आइये अब हम यह विश्लेषण करें कि व्यवसाय वृत्ति तथा रोजगार से किस प्रकार भिन्न है।

व्यवसाय	**वृत्ति**	**रोजगार**
1.लाभ के लिए व्यवसाय किया जाता है।	वृत्ति के शुल्क	मजदूरी अथवा वेतन
2.मुख्य रूप से लाभ अर्जित करना ही इसका प्रयोजन_होता है।	यद्यपि कुछ शुल्क वसूल किया जात है फिर भी मुख्य प्रयोजन होता है।	कोई विशिष्ट प्रयोजन नहीं होता।
3.पूंजी की आवश्यकता होती है।	कार्यालय बनाने के लिए कुछ पूंजी की आवश्यकता होती है।	पूंजी की आवश्यकता ही होती है।
4.विशिष्ट योग्यताएं आवश्यक नहीं है।	विशिष्ट क्षेत्र में वृत्तिक ज्ञान और प्रशिक्षण आवश्यक है।	कुछ मामलों में विशिष्ट योग्यताएं आवश्यक है जबकि कुछ में नहीं हस्तान्तरण संभव नहीं होता।
5.अपेक्षित विधिक औपचारिकताएं पूरी करने के बाद व्यवसाय को दूसरों को हस्तान्तरित किया जा सकता है।	हस्तान्तरण संभव नहीं	हस्तान्तरणसंभव नहीं होता।

1.6 व्यवसाय का वर्गीकरण

व्यवसाय के क्षेत्र अथवा वर्गीकरण के अन्तर्गत व्यापार 'वाणिज्य, उद्योग, व प्रत्यक्ष सेवाओं का समावेश किया जाता है। इन शब्दों की उदाहरण सहित व्याख्या निम्न प्रकार है

व्यापार– जैसा कि हम आपको पहले भी बता चुके हैं, व्यापार का आशय वस्तुओं के क्रय–विक्रय से होता है। उदाहरण के लिए 500 रूपये प्रति क्विंटल की दर से गेहूँ खरीद कर 650 रूपया प्रति क्विंटल की दर से बेंच दिया तो इस व्यवहार को व्यापार कहेंगें। व्यापार मुख्यतः दो प्रकार का होता है – 1. देशी व्यापार, 2. विदेशी व्यापार।

(1) देशी व्यापार– देशी या आन्तरिक व्यापार से आशय उस व्यापार से है जो एक ही देश के विभिन्न स्थानों अथवा क्षेत्रों के बीच किया जाता है।

(2) विदेशी व्यापार– विदेशी व्यापार से हमारा आशय उस व्यापार से है जो विभिन्न देशों अथवा सरकारों के बीच होता है। जैसे – भारत–पाक व्यापार, भारत–रूस व्यापार, भारत–अमरीका व्यापार।

1.7 वाणिज्य

वाणिज्य उन समस्त प्रक्रियाओं के योग को कहते हैं जो कि वस्तुओं के विनिमय में आने वाली कठिनाईयॉ, स्थान व समय सम्बन्धी बाधाओं को दूर करने से सम्बन्धित है जैसे– व्यापार, बीमा, बैंकिंग, परिवहन, आदि।

वाणिज्य के अंग– वाणिज्य के प्रमुख दो अंग है –

1. व्यापार 2. व्यापार के सहायक

इसी आधार पर प्रायः कहा जाता है कि –

C= T+A

उपर्युक्त सूत्र में 'C' का अर्थ वाणिज्य 'T' का व्यापार और 'A' का व्यापार के सहायक है।

व्यापार के सहायक– व्यापार के प्रमुख सहायक जिन्हें वाणिज्य के महत्वपूर्ण अंग कहा जा सकता है निम्नांकित हैं :–

क. परिवहन के साधन– परिवहन के साधनों को पुनः तीन भागों में बांटा जा सकता है 1. थल परिवहन जैसे तांगा, मोटर आदि, जल परिवहन जैसे समुदी जहाज एवं वायु परिवहन जैसे हवाई जहाज आदि।

ख. संचार– डाक, तार, बेतारका तार, टेलीफोन, रेडियों के द्वारा व्यापारियों के माल को क्रय विक्रय में बड़ी सहायता मिलती है।

ग. – इसके अन्तर्गत उन समस्त संस्थाओं के क्रिया कलापों का समावेश किया जाता है, जो जनता की बचत को एकत्रित करती है।

घ. बीमा– व्यवसाय में पग पग पर अनिश्चितताएॅ रहती हैं। जैसें – गोदाम मे आग लग जाना, जहाज डूब जाना, दैवीय प्रकोपों से सम्पत्ति नष्ट होना, इत्यादि। इन विभिन्न प्रकार के जोखिमों पर विजय_पाने हेतु विभिन्न प्रकार के बीमे कराये जा सकते हैं। जैसे– जीवन बीमा, समुद्री बीमा आदि।

ड़. विपणन क्रियाएँ– इन से तात्पर्य उन क्रियाओं का है जिनके सहयोग से वस्तुएॅ उत्पादन से उपभोग के स्थान तक पहुॅचायी जाती है।

संगठन का अर्थ– उत्पादन के विभिन्न साधनों को एकत्र करने तथा उनको अनुकूलतम अनुपात में मिलाने के कार्य को संगठन कहते है ।

मानव शरीर की संरचना हाथ, पैर, कान, नाक,आंख आदि अंगों से हुई है जिनका सुचारू संगठन एवं संचालन मस्तिष्क द्वारा होता है ।

संगठन का अर्थ समझने के लिए प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाओं का अध्ययन आवश्यक है । कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैः–

हैने के शब्दों में "सामान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन विशिष्ट अंगों का सुसंगत समायोजन करना है " ।

लुण्डी के अनुसार – "संगठन गतिशील अर्थ में स्थितियों के ढांचे को एक साथ बांधने की प्रक्रिया है जिसे किसी संस्था के उद्देश्यो की प्रभावकारी ढंग से पूर्ति के लिए प्रबन्धकीय उपकरण के रूपमें प्रयोग किया जा सकता है ।

मैकफारलैण्ड ", संगठन का आशय व्यक्तियों के एक समूह से है जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिलकर कार्य करता है ।

शुल्ज के अनुसार "संगठन, आवश्यक, व्यक्तियों, पदार्थो, उपकरणों कार्य स्थल तथा साज समान का संयोजन है जो कुछ वांछित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्रमबद्ध एवं प्रभावकारी ढंग से एक साथ जाते है ।

व्यावसायिक संगठन का अर्थ एवं परिभाषा– व्यवसायिक संगठन से हमारा तात्पर्य किसी व्यवसाय को एक निश्चित योजना के अनुसार चलाना तथा उसमें न्यूनतम व्यय पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना है ।

व्यवसायिक संगठन की परिभाषा– नीचे व्यवसायिक संगठन की कुछ परिभाशाएं दी गयी है ।

"व्यवसायिक इकाई भूमि श्रम तथा पूंजी का स्वतन्त्र भिन्न है जो साहसी की योग्यता के द्वारा उत्पादन सम्बन्धी उद्देश्य के लिए संगठित तथा संचालित किया जाता है **। (एच0एल0हैने)**

1.8 सारांश

मानवीय कार्यकलाप को दो भागों में विभाजित किया गया है। एक गैर आर्थिक दूसरा आर्थिक कार्यकलाप। मनुष्य की समस्त आर्थिक क्रियाओं को प्रमुख रूप से तीन उप भागों में विभाजित किया गया जो कि इस प्रकार है –

1. पेशा 2. नौकरी 3. व्यवसाय

व्यवसाय की विशेषताएँ कुछ इस प्रकार है, व्यवसाय एक आर्थिक क्रिया है, प्रत्येक व्यवसायिक क्रिया में साहस का तत्व अवश्य होता है। व्यवसाय जोखिम एवं भावी सफलता का तत्व है। व्यवसायिक क्रियाओं में उपयोगिता का सृजन होता है। उत्पादक एवं उपभोक्ता के बीच वाणिज्य कड़ी के रूप में कार्य करता है। व्यवसाय के उद्देश्य को निम्न चार भागों में बताया गया है, जो इस प्रकार है :–

लाभार्जन उद्दश्य, सामाजिक उद्देश्य, राष्ट्रीय उद्देश्य एवं मानवीय उद्देश्य। व्यवसाय,रोजगार एवं वृत्ति में अधिक अन्तर है। ये आपस में पृथक हैं। व्यवसाय के वर्गीकरण के अन्तर्गत व्यापार, वाणिज्य, उद्योग तथा प्रत्यक्ष सेवाओं का समावेश किया जाता है। व्यापार को दो भाग में विभाजित किया जाता है। देशी व्यापार एवं विदेशी व्यापार। वाणिज्य के भी दो अंग होते हैं, जैसे कि :– व्यापार एवं व्यापार के सहायक आदि। व्यापार में सहायक कार्य कुछ इस प्रकार हैं –परिवहन, भण्डारण, बीमा आदि।

1.9 कुछ उपयोगी शब्दावली

- **व्यवसाय** – किसी कार्य में व्यस्त रहना।

- **अनार्थिक क्रिया** –वे कार्य जो धन कमाने के उद्देश्य से ना किया गया हो।
- **आर्थिक क्रिया**– वे कार्य जो धन कमाने के उद्देश्य से किया जाता है।
- **पेशा**– एक विशिष्ट ज्ञान होता है।
- **वाणिज्य**– वे कार्यकलाप जिनका संबंध वस्तुओं के क्रय तथा विक्रय है।
- **रोजगार** – किसी समझौते या सेवा–नियमों के अधीन किसी नियोक्ता के साथ काम करने की क्रिया।
- **उद्योग**– इसका तात्पर्य केवल वस्तुओं के उत्पादन से लिया जाता है।
- **सांसलेशिक उद्योग** – जहॉ एक वस्तु से अनेक वस्तु का निर्माण करते हैं।
- **सामाजिक** – किसी की सेवा करना होता है।
- **राष्ट्रीय उद्देश्य** –राष्ट्र के प्रति उद्देश्य।
- **निर्यात** – दूसरे देश में बेंचना।
- **आयात** – दूसरे देश से खरीदना।
- **बैंकिंग –ए**क ऐसा कार्य जो जन साधारण को धन जमा कराने के लिए प्रोत्साहित करता है।
- **भण्डारण** – ऐसा कार्य जो वस्तु को सुरक्षित करने के सम्बन्ध में हो।

1.10 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1 मानवीय कार्यकलाप से आप समझते है? मानवीय कार्यकलाप के वर्गो को उदाहरण सहित समझाईये ?

प्रश्न 2 व्यवसाय का क्या अर्थ है ? व्यवसाय की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3 व्यवसाय का क्षेत्र समझाइये अथवा इसके क्षेत्र की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए?

प्रश्न 4 उद्योग से क्या तात्पर्य है? उनके वर्गीकरण की व्याख्या कीजिए ?

प्रश्न 5 रोजगार एवं व्यवसाय में भिन्नता स्पष्ट रूप से बताइए ?

प्रश्न 6 व्यापार क्या होता है ? व्यापार के प्रकार को बताइये ?

प्रश्न 7 वाणिज्य क्या होता है ? वाणिज्य के अंगों को विस्तारपूवर्क बताइए ?

प्रश्न 8 वृत्ति एवं रोजगार में अन्तर स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 9 व्यवसाय के उद्देश्य को विस्तारपूवर्क बताइये ? व्यवसाय से होने वाले लाभ एवं हानि को समझाइये ?

प्रश्न 10 व्यापार के सहायक का वर्णन कीजिए ।

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

1. डॉ0 पदमाकर अस्थाना (साहित्य भवन) आगर/1994 व्यावसायिक संगठन पूर्णतः संशोधित, परिवर्तित एवं परिमार्जित संस्करण।
2. डॉ0 जगदीश प्रकाश (एम0काम, डी0 फिल0) प्रोफेसर, वाणिज्य एवं व्यवसाय प्रशासन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद आधुनिक व्यवसायिक संगठन, 1991
3. जी0एल जोशी, जी0 एल शर्मा, एल0एस0सी0 जोशी : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध (दिल्ली : श्री महावीर बुक डिपो, 1988 अध्याय 1, 3)
4. डाॅ एस0सी0 सक्सेना – व्यापारिक संगठन (बंसल पब्लिशिंग हाउस) ब0पा0ह
5. वी0पी0सिंह – व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध का परिचय, इलाहाबाद किताब महल, 1988

इकाई–2 व्यवसायिक संगठन के रूप–I

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 एकल स्वामित्व संगठन

2.2.1 एकांकी व्यापार की विशेषतायें

2.2.2 एकांकी व्यापार के गुण

2.2.3 एकांकी व्यापार की सीमाएं

2.3 साझेदारी संगठन

2.3.1 प्रमुख विशेषतायें

2.3.2. साझेदारी के भेद

2.3.3. साझेदारी संलेख का अर्थ

2.3.4. साझेदारी सलेख के गुण

2.3.5. साझेदारी संलेख की सीमाएं

2.4 संयुक्त हिन्दु परिवार

2.4.1 विशेषतायें

2.5 कम्पनी

2.5.1 कम्पनी की मुख्य विशेषतायें

2.5.2 कम्पनी के प्रकार

2.6 सहकारी संगठन

2.6.1 सहकारी संगठन की विशेषताऐं एवं सीमायें

2.7 सारांश

2.8 उपयोगी शब्दावली

2.9 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्न बातों का वर्णन कर सकेंगे जैसे कि :–

- व्यावसायिक संगठन के प्रकार का अर्थ व्यवसायिक संगठन के प्रकार के गुण सीमाएं,
- एकल स्वामित्व संगठन की विशेषताएं बता सकेंगे,
- एकल स्वामित्व संगठन के गुणत **था** सीमायें का वर्णन कर सकेंगे,
- साझेदारी संगठन का अर्थ समझ सकेंगे एवं साझेदारी संलेख **पर** व्याख्या कर सकेंगे,
- प्रत्येक कम्पनी का वर्णन, कम्पनी के प्रकार गुण तथा **सीमायें** का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर सकेंगे तथा
- सहकारी संगठन के क्रमबद्ध ढंग से विस्तारित कर पायेगे।

2.1 प्रस्तावना

एकांकी व्यापार या एकांकी स्वामित्व व्यवसाय जगत का सबसे पुराना फिर भी सबसे अधिक प्रचलित संगठन का रूप है। जब व्यवसाय का एक ही व्यक्ति स्वामी और वही व्यक्ति उस व्यवसाय को चलाता है तब यह एकल स्वामित्व कहलाता है। आज इस आणुविक तथा स्पुतनिक युग में भी, जबकि तकनीकी क्षेत्र में मौलिक व क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है, एकांकी व्यापार अपना अस्तित्व बनाए हुए है और निकट भविष्य में इसका स्थान गौण नहीं होगा। अन्य महत्वपूर्ण बातों जिनका वर्णन नहीं हुआ है, उसका वर्णन आप इस इकाई के अध्ययन के माध्यम से प्राप्त कर सकेंगे।

2.2 एकल स्वामित्व संगठन का अर्थ

एकल स्वामित्व वाला स्वरूप व्यवसायिक संगठन का वह प्रारूप है जिसका अध्यक्ष केवल एक व्यक्ति होता है जिसे एकांकी व्यापारी कहते है । व्यापार का समस्त उत्तरदायित्व इस एक व्यक्ति के ही कंधो पर होता है । असफल होने की दिशा में व्यापार के साथ जोखिम भी उसे ही झेलना पडता है । एकांकी व्यापारी स्वयं ही व्यापार का स्वामी, उसका प्रबन्धक और कर्मचारी होता है । आइये इस अवधारणा से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं को आत्मसात करने का प्रयास करेः–

(क) "ऐसा उपक्रम जिसका स्वामित्व एवं प्रबन्ध एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता है एकांकी व्यवसाय अथवा एकल स्वामित्व कहलाता है ।" **(शिल्ट तथा विल्सन)**

(ख) "एकांकी स्वामित्व वाले व्यवसाय के अन्तर्गत एक व्यक्ति का स्वामित्व होती है और वही व्यक्ति उसका प्रबन्धक या मैनेजर होता है " **(चार्ल्स डबल्य गर्सटनबर्ग)**

2.2.1 एकांकी व्यापार की विशेषताएं

एकांकी व्यापार की निम्नलिखित विशेषताएं :–

(क) एकांकी स्वामित्व– जैस कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसका सर्व प्रमुख लक्षण यह है कि एकांकी व्यापार का स्वामी केवल एक व्यक्ति होता है ।

(ख) पूंजी– एकांकी व्यापार में पूंजी उसके मालिक के द्वारा ही लगाई जाती है । यह पूंजी अपने सगे भाई एवं किसी भी परिचित से ले सकता है ।

(ग) पृथक अस्तित्व नहीं– सामान्य व्यवहार या कानून के तहत व्यापारी व व्यापार में कोई अन्तर नहीं माना जाता।

(घ) व्यक्तिगत नियन्त्रण– एकांकी व्यापार पर उसके स्वामी का सम्पूर्ण नियन्त्रण रहता है । प्रबन्ध का भी सम्पूर्ण भार उसी पर रहता है ।

(ड़) असीमित दायित्व– इस प्रकार के प्रारूप की यह भी विशेषता है कि इसके मालिक का दायित्व उसके द्वारा प्रदत्त पूंजी तक ही सीमित नहीं रहता परन्तु उसके निजी सम्पत्ति का भी प्रयोग व्यापार के दायित्व का चुकता करने के लिऐ किया जा सकता है ।

(च) सीमित कार्यक्षेत्र– सीमित पूंजी, साधन व प्रबन्ध योग्यता, ऐसे व्यापार का कार्य –क्षेत्र भी अत्यन्त संकुचित व सीमित रहता है ।

(घ) सम्पूर्ण जोखिम व लाभ का मालिक– व्यापार के मालिक को ही जोखिम उठाना पडता है तथा वही सभी हानि का वहन करता है । साथ ही, लाभ होने पर सम्पूर्ण लाभ भी उसी का होता है ।

2.2.2 एकांकी व्यापार के गुण

एकांकी व्यापार के गुण कुछ इस प्रकार है :–

(क) शीघ्र निर्णय– व्यापार सम्बन्धी सभी निर्णय स्वतन्त्र रूप से इसके स्वामी को ही करना पड़ता है और कोई भी अन्य व्यक्ति इसमें हस्तक्षेप नहीं करता ।

(ख) गोपनीयता– अपने व्यापार के बारे में जानकारी मात्र उसी को पता होती है जो स्वामी होता है ।

(ग) लोच– यह सबसे अधिक लोचपूर्ण संगठन होता है ।

(घ) अधिक व्यक्तिगत सम्पर्क– ऐसे व्यापार के स्वामी व उसके ग्राहको के बीच सीधा, प्रत्यक्ष वव्यक्तिगत सम्पर्क रहता है ।

(ई) कर सम्बन्धी लाभ– एकांकी व्यापार की दशा में, मालिक व व्यवसाय में कुछ भी भेद नहीं किया जाता। उस पर करोरोपण एक व्यक्ति के रूप में किया जाता है ।

(घ) सामाजिक लाभ– इससे अनेक सामाजिक लाभ प्राप्त होते है – (1) यह रोजगार प्रदान करने का प्रमुख साधन है (2) यह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा व्यापार चलाने का समान अवसर प्रदान करता है ।

(च) अन्य गुण– निम्न गुण के पश्चात और भी बहुत से गुण पाये जाते है एकांकी व्यापार में जो इस प्रकार है,

- व्यापारियों में अनेक गुण प्रदान करने में मदद करता है ।
- यह जनता को अधिकतम सेवा प्रदान करता है ।

2.2.3 एकांकी व्यापार की सीमायें

अनेक एकांकी व्यापार की सीमाएं है । कुछ इस प्रकार है '–

(क) **सीमित पूंजी**– सबसे प्रथम दोष एकांकी व्यापार में पाया जाता है तो सीमित पूंजी के रूप पाया जाता है । इस व्यापार में बहुत कम मात्रा मे पूंजी का इस्तेमाल किया जाता है ।

(ख) **सीमित प्रबन्ध की योग्यता**– ऐसे व्यवसाय के प्रबन्धन का भार, सामान्यतया उसके मालिक के ऊपर ही होता है । वह कितना ही योग्य, चतुर व बुद्धिमान क्यों ना हो ।

(ग) **असीमित दायित्व**– ऐसे व्यवसाय में सारा जोखिम एक व्यक्ति को उठाना पडता है। ज़रा सी असावधानी से पूंजी डूब जाती है साथ ही स्वामी की निजी सम्पत्ति का प्रयोग असाीमित दायित्व होने के कारण व्यवसाय के कर्जो के भुगतान के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है ।

(घ) **गलत निर्णय**– एक ही व्यक्ति के द्वारा लिया गया निर्णय गलत सिद्ध होता है । और वह व्यवसाय के लिए प्रायः घातक सिद्ध होता है ।

(ड़) **अनुपस्थिति में हानि**– एक ही व्यक्ति के द्वारा व्यापार के संचालन के कारण यह कठिनाइ भी उत्पन्न होती है,कि यदि वह किसी कारण से दूकान न जा पाये तो वह बन्द हो जाती है ।

(च) **सीमित विस्तार की संभावना**– सीमित धन, प्रबन्ध योग्यता आदि के कारण एकांकी व्यापार का आकार बहुत नहीं बढ़_पाता।

(झ) **सीमित साख**– एक ही व्यक्ति के मालिक व प्रबन्धक होने के फलस्वरूप व्यवसाय को साख भी शामिल होती है ।

(ज) **साझेदारी की कम शक्ति**– सीमित पूंजी, साधन व कार्य क्षेत्र होने के कारण एकांकी व्यापारी को साझेदारी की क्षमता भी सीमित हो जाती है ।

2.3 साझेदारी संगठन (भारतीय साझेदारी अधिनियम 1932)

साझेदारी दो या दो से अधिक व्यक्तियों, जो ठहराव के योग्य हो के मध्य एक समझौता है जो किसी वैध व्यवसाय को चलाने तथा उसके लाभ में हिस्सा बांटने के लिए सहमत होते है ।इसमें या तो सभी मिलजुल कर व्यवसाय करते या उनमें से एक या दो साझेदार अन्य साझेदारों की ओर से व्यवसाय चलाते है। जो लोग साझीदारी में सम्मिलित होते है । उन्हें साझीदार तथा उन्हें सामूहिक रूप में फर्म कहते है । आइये इस अवधारणा से सम्बन्धित कुछ विद्ववानों द्वारा दी गयी परिभाषाओं को समझने का प्रयास करेंः–जो इस प्रकार है :–

(क) किम्वाल एवं किम्बाल'' एक साझेदारी अथवा फर्म जैसा कि प्रायः उसे कहा जाता है, व्यक्तियों का एक समूह है जिन्होंने किसी व्यवसायिक उपक्रम को चलाने के उद्देश्य से पूंजी अथवा सेवाओं का एकीकरण किया है ''

(ख) ''डॉ जॉन ए शुबिन '' दो अथवा दो से अधिक व्यक्ति इस आशय का कोई लिखित या मौखिक अनुबन्ध करके कि अमुक व्यवसाय को चलाने का पूर्ण उत्तरदायित्व संयुक्त रूप से अपने ऊपर लेंगे, साझेदारी का निर्माण कर सकते है ''।

2.3.1 साझेदारी की विशेषताएं या लक्षण

साझेदारी की अनेक विशेषताएं हैं। कुछ इस प्रकार से है :–

(क) दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों का होना— साझेदारी की सबसे प्रमुख विशेषता दो या दो से अधिक व्यक्ति का होना ।

(ख) साझेदारी के बीच वैध अनुबन्ध होना— साझेदारी की दूसरी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है साझेदारी के बीच वैध अनुबन्ध होना ।

(ग) वैध व्यापार का होना— साझेदारी का निर्माण किसी वैध व्यापार करने के लिए किया जाता है । अवैध व्यापार को करने के लिए बनाई गयी साझेदारी अवैध मानी जायेगी ।

(घ) व्यापार का उद्देश्य लाभ कमाना— साझेदारी का मूल उद्देश्य लाभ कमाना होना चाहिए, उदाहरण के लिए यदि 'अ' और 'स' मिलकर आगरा कैण्ट में टी0वी0का व्यवसाय करते हैं, व्यवसाय से मिलने वाला पैसा लाभ कहलाता है ।

(ड़) असीमित दायित्व— साझेदारी को एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि फर्म के ऋणों के भुगतान के लिए प्रत्येक साझेदार का दायित्व असीमित होता है ।

(च) फर्म का निशचित नाम होना— फर्म का एक निश्चित नाम होना आवश्यक है । जिस नाम से साझेदार कारोबार करते, उसी को फर्म का नाम कहते है ।

(घ) हित के हस्तान्तरण पर रोक— साझेदारी के अन्तर्गत कोई भी साझेदार अपने हितों का हस्तान्तरण किसी बाहरी व्यक्ति को नहीं कर सकता ।

2.3.2 साझेदार के भेद

सामान्यतः साझेदारी के प्रमुख भेद निम्नलिखित है—

साझेदारी के भेद

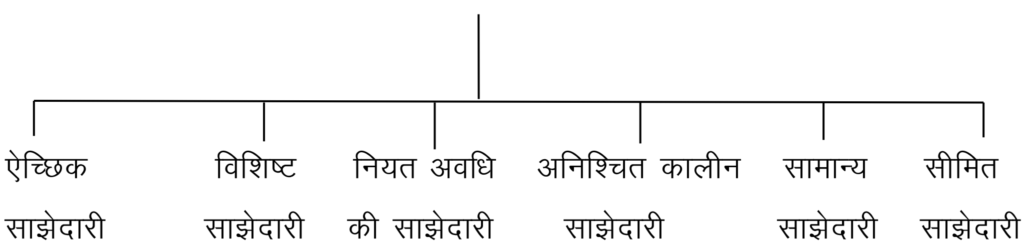

(क) ऐच्छिक साझेदारी— यदि साझेदारी के अनुबन्ध से साझेदारी की अवधि अथवा उसके विघटन या समापन के सम्बन्ध में कोई नहीं दी गयी है तो ऐसी साझेदारी को ऐच्छिक साझेदारी कहेंगे।

(ख) विशिष्ट— भारतीय साझेदारी अधिनियम की धारा के अनुसार जब किसी विशिष्ट व्यवसाय अथवा विशेष कार्य के लिए साझेदारी का निर्माण किया जाता है, तो उसे विशिष्ट साझेदारी कहते है।

(ग) नियत अवधि की साझेदारी— यदि किसी साझेदारों का निर्माण एक नियत अवधि के लिए किया जाता है तो उसे नियत अवधि की साझेदारी कहते है।

(घ) अनिश्चितकालीन साझेदारी— यदि साझेदारी के अनुबन्ध में अवधि या समय के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं है और न ही उसका निर्माण किसी कार्य या उद्देश्य विशेष के लिए किया हो तो उसे अनिश्चितकालीन साझेदारी कहेंगे।

(ड़) **सामान्य साझेदारी**– जिन फर्मो का नियम व नियन्त्रण भारतीय साझेदारी अधिनियम 1932 द्वारा किया जाता है, उन्हें साधारण साझेदारी कहेंगे।

(च) **सीमित साझेदारी**– जिस साझेदारी संस्था में कुछ साझेदारो ंका उत्तरदायित्व उनके द्वारा दी गयी पूंजी की सीमा तक सीमित होता है, उनको सीमित साझेदारी कहेंगे।

2.3.3 साझेदारी संलेख का अर्थ

अनुभव के आधार पर हम ये कह सकते हैं कि यदि साझेदारी के प्रबन्ध एवं संगठन से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण बातों को पहले से ही तय कर लिया जाए तथा साझेदारों द्वारा एक लिखित समझौता करके उसकी रजिस्ट्री करा ली जाए तो भविष्य में मतभेद की आशंका न्यूनतम रह जाती है तथा साझेदारी संगठन में स्थापित आ जाता है । इस लिखित समझौते या अनुबन्ध को साझेदारी संलेख कहते है ।

2.3.4 साझेदारी सलेख के गुण

साझेदारी संलेख के गुण कुछ इस प्रकार दिये गये है ।

(क) **सुगम स्थापना**– किसी स्वामित्व संगठन की तुलना में यद्यपि साझेदारी फर्म की स्थापना इतनी सरल नहीं है, तथपि कम्पनी की स्थापरना की तुलना में यह कम कठिनहै ।

(ख) **अधिक पूंजी का मौजूद होना**– साझेदारी फर्म एक ही व्यक्ति की पूंजी के सहारे नहीं चलती। साझेदारी की वित्तीय स्थिति के आधार परफर्म की ऋण लेने की क्षमता में वृद्धि हो जाती है ।

(ग) **लचीलापन**– साझेदारी व्यवसाय में साझेदार ही फर्म के स्वामी होते है और वे ही उसका कार्य संचालन करते है ।

(घ) **गोपनीयता**– साझेदारी फर्मो मेंभी कुछ गोपनीयता रखी जाती है,क्योंकि फर्म के लेखों का प्रकाशित करना आवश्यक नहीं है ।

(ड़) **सुरक्षा**– आधारभूत कार्यो में एकमत से निर्णय लिए जाने के नियम के कारण सभी साझेदारो ंके अधिकार पूण्रतः सुरक्षित होते है ।

(च) **जोखिम का बंटवारा**– फर्म की हानियां सभी साझेदारों द्वारा बांटी जाती है । अतः एकल स्वामित्व संगठन की तुलना में प्रत्येक साझेदार के हिस्से में हानि का बहुत थोडा भाग आता है ।

2.3.5 साझेदारी संलेख की सीमाएं

- **असीमित दायित्व**– साझेदारी फर्म की सबसे महत्वपूर्ण कमी यह है कि उसके साझेदारों का दायित्व असीमित होता है ।

- **जन विश्वास नहीं**– चूंकि लेखे अप्रकाशित तथा अविज्ञापित होते है इसलिए फर्म को जनता का विश्वास प्राप्त नहीं हो पाता है ।

- **अनिश्चितता**– किसी साझेदार की आकस्मिक मृत्यु होने अथवा उसके पागल अथवा दिवालिया होने की स्थिति में साझेदारी फर्म का विघटन हो जाता है इस कारण से फर्म के आगे चलने में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है ।

- **सीमित पूंजी**– साझेदारी फर्म की पूंजी जुटाने की क्षमता संयुक्त स्टाक कम्पनी की तुलना में कम होती है ।

- **साझेदारों में विरोध**– साझेदारों में गलतफहमी और विरोध होने की आशंका रहती है ।

2.4 संयुक्त हिन्दु परिवार

संयुक्त हिन्दु परिवार का नियम हिन्दु लॉ के अनुसार होता है। संयुक्त हिन्दु परिवार में अनुबन्ध की आवश्यकता नहीं होती। जैसे ही कोई पुरूष सदस्य किसी परिवार में जन्म लेता है।वह इस संयुक्त हिन्दु परिवार का सदस्य बन जाता है। संयुक्त हिन्दू परिवार में एक सदस्य दूसरे का प्रतिनिधि नहीं होता। सुयक्त हिन्दू परिवार में अवयस्क भागीदार हो सकता है। इस परिवार में सदस्यों की अधिकतम संख्या पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। संयुक्त हिन्दु परिवार में व्यवसाय के प्रबन्ध संचालन का अधिकार केवल परिवार के मुखिया को ही प्राप्त होता है। इस हिन्दु परिवार में केवल कर्ता ऋण ले सकता है।

संयुक्त हिन्दु परिवार की महत्वपूर्ण विशेषताएं निम्नानुसार है :–

कर्ता को कारोबार के लिए ऋण लेने का अधिकार प्राप्त है। कर्ता का असीमित दायित्व होता है,जबकि अन्य सदस्यों का दायित्व कारोबार में उनके हित तक सीमित होता है ।

- परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने से परिवार का कारोबार बंद नहीं हो जाता है ।

- आपसी मतैक्य द्वारा ही संयुक्त हिन्दु पारिवारिक फर्म का विघटन किया जाता है।

- परिवार का ज्येष्टतम सदस्य जो कर्ता कहलाता है कारोबार चलाता है ।

- अन्य सदस्य कर्ता के अधिकार पर आपत्ति नहीं कर सकते है ।

2.5 कम्पनी

भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 3 (1) के अन्तर्गत इसकी एक संक्षिप्त परिभाषा दी गयी है। इसके अनुसार कम्पनी का अशय एक ऐसी कम्पनी से है जिसका निर्माण एवं पंजीकरण इस अधिनियम या पिछले किसी भी कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत किया गया हो । यह परिभाषा कम्पनी के अर्थ एवं विशेषताओं को भी स्पष्ट नही ंकरती । आइये इस अवधारणा से सम्बन्धित

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी कम्पनी की परिभाषा निम्नलिखित है ।

(क) हैने के अनुसार– संयुक्त पूंजी की कम्पनी लाभोपार्जन हेतु व्यक्तियों की एक ऐच्छिक संस्था है, जिसकी पूंजी हस्तान्तरण योग्य अंशों में विभक्त होती है, जिनका स्वामित्व सदस्यता की शत प्रतिशत होती है ।

PLONE-029

(ख) **विलियम ए0वुड''** विधान द्वारा यह एक कृत्रिम 'व्यक्ति' है जो अपने अंशपारियों से पृथक तथा मित्र होता है, और कुछ अर्थो मे ंएक नागरिक होता है ''

2.5.1 कम्पनी की मुख्य विशेषताएँ

मूलरुप से कम्पनी की प्रमुख विषेषताओं को निम्नानुसार समझा जा सकता हैः–

कम्पनी की मुख्य विशेषताएँ

(क) **कानून द्वारा कृत्रिम व्यक्ति**– कम्पनी विधान द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति है । सामान्य व्यक्तियों की भांति कम्पनी हाड मांस, व रक्त द्वारा बना व्यक्ति नहीं है । इसका निर्माण, संगठन, तथा सामापन केवल विधान द्वारा ही किया जा सकता है ।

(ख) **सीमित दायित्व**– इसके अंशधारियों का दायित्व उसके द्वारा लिये गये अंशों के अंकित मूल्य तक ही सीमित रहता है ।

(ग) **शाश्वत अस्तित्व**– पृथक वैयक्तिक अस्तित्व होने के फलस्वरूप, कम्पनी का अस्तित्व शाश्वत रहता है ।

(घ) **सदस्यों की संख्या**– सार्वजनिक कम्पनी की दशामें न्यूनतम सदस्यों की संख्या 7 और अधिकतम इनके द्वारा नियमित अंशों की संख्या तक होती है। निजी कम्पनी की दशा में न्यूनतम संख्या 2 और अधिकतम संख्या 50 तक ही सकती है ।

(ड़) **सार्व मुद्रा**– कम्पनी की एक सार्व मुद्रा होती है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है । कम्पनी व्यक्ति की तरह हस्ताक्षर नहीं कर सकती क्योंकि कम्पनी कानून द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति है ।

(च) **अंशधारी एजेण्ट नहीं**– साझेदारी की तरह अंशधारी एजेण्ट नहीं होता और कार्यो से कम्पनी को नही ंबांध सकता।

(छ) मुकदमा चलाने का अधिकार' कृत्रिम व्यक्ति होने के कारण कम्पनी स्वयं किसी पर मुकदमा चला सकता है ।

(ज) **अनिवार्य अंकेक्षण**– कम्पनी के खातों का अंकेक्षण कराना कानूनी तौर पर अनिवार्य होता है।

(झ) **निर्धारित ढंग से समापन**– कम्पनी की स्थापना कानूनी तौर पर होती है,उसी प्रकार से इसका समापन भी कानूनी प्रावधानों के अनुसार ही होता है।

(ञ) **फैला हुआ स्वामित्व**– कम्पनी का स्वामित्व बहुत अधिक फैला, बिखरा हुआ होता है ।

(ट) **ऐच्छिक संस्था**– यह व्यक्तियों की एक ऐच्छिक संस्था होती है । जिसकी स्थापना कानूनी प्रावधानों के अन्तर्गत लाभ कमाने के उद्देश्य से की जाती है ।

2.5.2 कम्पनी के प्रकार

कम्पनी का वर्गीकरण अनेक दृष्टिकोणों से किया जा सकता है इनमें प्रमुख रुप से पाँच आधारों को सम्मिलित किया जाता है जो कि इस प्रकार से हैः–

(क) **विधान के आधार पर**– कम्पनियों के निर्माण की दृष्टि से इनके तीन भेद किये जा सकते है, जो इस प्रकार है :–

(i) राजाज्ञा के द्वारा स्थापित कम्पनियां– राज्य से विशेष आज्ञा –पत्र या फरमान द्वारा स्थापित कम्पनी को चार्टर्ड कम्पनी कहा जाता है ।

(ii) विशेष विधान द्वारा निर्मित कम्पनियाँ– इन कम्पनियों की स्थापना संसद द्वारा पारित विशेष विधानों द्वारा की जाती है इसका प्रबन्ध और संचालन इनके अपने विशेष विधान द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार किया जाता है ।

(iii) कम्पनी अधिनियम द्वारा निर्मित कम्पनियाँ– यह कम्पनियां वे हैं जिनका समामेलन कम्पनी अधिनियम 1956 अथवा पूर्ण के किसी कम्पनी अधिनियम अथवा आर्डिनेंस के द्वारा हुआ हो ।

(ख) दायित्वों के आधार पर– सदस्यों के दायित्व के आधार पर कम्पनियो ंको दो वर्णो में विभाजित किया जा सकता है।

1. **सीमित कम्पनी**– सीमित कम्पनियों के सदस्यों का दायित्व सीमित होता है। ऐसी कम्पनियों के लिए अपने नाम के साथ 'सीमित' शब्द का प्रयोग अनिवार्य होता है।

2. **अंशो द्वारा सीमित कम्पनी** – ऐसी कम्पनी अपनी पूंजी को कुछ निश्चित राशि के अंशों में बांट देती है और प्रत्येक अंशधारी का दायित्व उसके अंशों के अंकित तक सीमित रहता है।

3. **प्रत्याभूति या गारण्टी द्वारा सीमित कम्पनी**– गारण्टी द्वारा सीमित कम्पनी के सदस्य कम्पनी को इस बात की गारण्टी देते है कि यदि उनके सदस्य रहने के समय में अथवा सदस्यता समाप्त होने से एक वर्ष के भीतर कम्पनी दिवालिया हो जाय,तो वे कम्पनी के कोष में एक निश्चित राशि जमा कर देंगे।

(ग) असीमित कम्पनी– आधार पर

1. **सरकारी कम्पनियाँ** – भारतीय कम्पनी अधिुनियम 1956 अनुसार, सरकारी कम्पनी वह कम्पनी होती है। जिसमे कम से कम 51 प्रतिशत अशं पूजी सरकार द्वारा प्रदान की गयी हो।

2. **पब्लिक कम्पनी**– भारतीय कम्पनी अधिनियम की धारा 3 (1) (4) के अनुसार पब्लिक कम्पनी से आशय ऐसी कम्पनी के अन्तर्गत हुआ है, और जो प्राइवेट कम्पनी न हो।

3. **प्राइवेट कम्पनी**–भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 3 (1) (3) के अनुसार प्राइवेट कम्पनी से आशंय ऐसी कम्पनी से है, जिसके अन्तर्नियम (अ) से अंशो के हस्तात्तरण पर प्रतिबन्ध लगा देती है। (ब) कम्पनी के कर्मचारियो के छोडकर इसके सदस्यो की संख्या 50 तक सीमित कर देते है। (स) कम्पनी के अंशो या ऋणु पत्रो के खरीदने के एिल जनता को निमन्त्रण देने का निर्देश कर देते है।

(घ) राष्ट्रीयता के आधार पर–

1. **विदेशी कम्पनियाँ**– जो कम्पनियॉ भारत के बाहर रजिस्टर्ड हुई है किन्तु अपना व्यापर भारत में भी करती है, उन्हे विदेशी कम्पनी कहा जाता है।

PLONE-029

2. **देशी कम्पनियाँ**– जिन कम्पनियो का समामेलन भारत में हुआ है, उन्हे देशी या भारतीय कम्पनियां कहते है।

(ङ) अन्य आधार पर–

1. **सूत्रधारी कम्पनी**– भारतीय कम्पनी अधिनियम की दूसरी कम्पनी की सूत्रधारी कम्पनी तभी माना जायेगा जबकि दूसरी कम्पनी उसकी सहायक हो। उदाहरण के लिए यदि, (अ) कम्पनी (ब) कम्पनी की साधारण पूजी मे अंकित मूल्यु के 50% से अधिक की स्वामी सहायक कम्पनी कहलायेगी।

2. **सहायक कम्पनी**– भारतीय कम्पनी अधिनियम की धारा 2(47) के अनुसार, सहायक कम्पनी या सहायक का आशय उसे सहायक कम्पनी से है। जिसकी परिभाषा धारा 4 में दी गयी है। धारा 4 के अनुसार एक कम्पनी किसी अन्य कम्पनी की सहायक निम्नलिखित दशाओं में हो सकती है।

क– जबकि अन्य कम्पनी इसके संचालक मण्डल के गठन पर नियन्त्रण करती है।

ख– जबकि अन्य कम्पनी साधारण पूंजी के अंकित मूल्य मे से 50 प्रतिशत से अधिक भाग की स्वामी है।

2.6 सहकारी संगठन

सहकारी संगठनों का मूल सिद्धान्त स्वयं की सहायता तथा परस्पर सहायता करना है। किसी भी सहकारी संगठन का मूल उद्देश्य अपने सदस्यों की सेवा करना होता है। सहकारी संगठन की महत्वपूर्ण विशेषताएं लाभ के स्थान पर सेवा, प्रतियोगिता के स्थान पर परस्पर सहायता, नैतिक एकता बनाए रखना है। भारतीय सहकारी सोसाइटी अधिनियम ***1912 की धारा 4*** में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है। ''यह एक संस्था है, जिसका उद्देश्य सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर अपने सदस्यों के आर्थिक हितों का प्रवर्तन करना होता है।

2.6.1 सहकारी संगठन की विशेषताएं

सहकारी संगठन की विशेषताओं में प्रमुखरुप से निम्नलिखित को क्रमबद्ध किया जा सकता है:–

(क) लोकतंत्रात्मक प्रबन्ध– सहकारी संगठन का प्रबन्ध समिति करती है जिसका निर्वाचन सदस्य ,एक सदस्य के एक मत के आधार पर करते हैं,चाहे उनके पास कितने ही शेयर क्यों न हो।

(ख) सहकारी नियंत्रण– भारत में सभी सरकारी समितियां 1919 के सहकारी सोसाइटी अधिनियम अथवा अन्य राज्य सहकारी सोसाइटी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत होती है ।

(ग) सेवाभाव– किसी भी सहकारी समिति का प्रमुख उद्देश्य अपने सदस्यों को सेवा प्रदान करना है। इसके विपरीत जैसा कि आप जानते हैं,अन्य तीनों संगठनों का उद्देश्य लाभ कमाना होता है।

(घ) पूंजी पर सीमित लाभ– सरकारी व्यवस्था में भी लाभ सदस्यो के बीच बांटा जाता है क्योंकि उन्होंने पूंजी जुटाई है। लेकिन अंशधारियों को दिए जाने वाले

लाभांश की दर की सीमा 9 प्रतिशत ही है जो सहकारी सोसाइटी अधिनियम द्वारा निर्धारित की गयी है।

(च) समाज सेवा— सहकारिता सदस्यों के बीच भाईचारे की भावना बढाती है और उनके दैनिक जीवन में नैतिक तथा शैक्षणिक मूल्यों का महत्व जगाती है जो श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक है।

(छ) सरकारी सहायता— सराकर ने सहकारी समितियों को आर्थिक नीति का एक अंग माना है। अतः इन समितियों को कारगर ढंग से चलाने में सहायता देने के लिए सरकार अनेक प्रकार के अनुदान ऋण तथा वित्तीय सहायता प्रदान करती है।

इसी प्रकार सहकारी संगठनों की निम्नलिखित सीमायें भी दृष्टिगत होती है। आइये इन्हे भी समझाने का प्रयास करेः—

(क) गोपनियता की कमी— सहकारी समिति के कार्य प्रायः सभी सदस्यों को ज्ञात हो जाते है और इन समितियों के लिए व्यवसायिक कार्यो की गोपनियता बनाये रखना कठिन हो जाता है।

(ख) रूचि की कमी— किसी भी व्यवसाय की सफलता के लिए कुछ वर्षो के लिए निरंतर प्रयास की आवश्यकता होती है। परन्तु बहुत सी सहकारी समितियां से इस प्रकार की स्थिति नहीं पाई जाती है।

(ग) भ्रष्टाचार— प्रबन्ध और कार्य संचालन में व्याप्त भ्रष्टाचार सहकारी संगठन की एक बहुत ही महत्वपूर्ण कमी रही है। ये सहकारी भ्रष्टाचार के स्रोत बन चुके है।

(घ) अपर्याप्त प्रेरणा— पूंजी पर मिलने वाला प्रतिफल क्योंकि बहुत कम होता है अतः सहकारी समितियों के सदस्य के कार्यो में अपने को उलझाना नहीं चाहते है।

2.7 सारांश

एकल स्वामित्व वाला स्वरूप व्यावसायिक संगठन का वह प्रारूप है जिसका अध्यक्ष केवल एक व्यक्ति होता है । व्यवसायिक संगठन के चार रूप होते है जो इस प्रकार है :—

क— एकल व्यापारी संगठन

ख— साझेदारी संगठन

ग— कम्पनी संगठन

घ— सहकारी संगठन

व्यवसायिक इकाई एवं स्वामी में कोई अन्तर स्पष्ट नहीं होता है। साझेदारी दो या दो से अधिक व्यक्तियों का समूह है जो सहस्वामी के रूप में लाभ के लिए कारोबार चलाते है। साझेदारों के विभिन्न प्रकार है जिनका आधार, कारोबार में भाग लेने की सीमा लाभ में भाग आदि है। एकल स्वामित्व व्यावसाय का सबसे पुराना, सरल तथा स्वामित्व स्वरूप है। एकांकी व्यापार के प्रमुख गुण है जैसे— स्थापना तथा समापन सम्बन्धी सुगमता, प्रयक्ष, प्रेरण, शीघ्र निर्णय आदि। कम्पनी संगठन शेयरों द्वारा सीमित कम्पनी होता है जिसकी निश्चित मूल्य के शेयरो में विभाजित स्थायी प्रदत्त पूंजी अथवा निश्चित रकम की अधिकृत पूंजी होती है। कम्पनी की प्रमुख विशेषताएं है— जैसे संस्थापन कृत्रिम व्यक्ति पृथक विधिक अस्तित्व आदि। इसके कई प्रकार होते है जैसे सांविधिक, पंजीकृत, चार्टर्ड प्राइवेट सरकारी आदि।

सहकारी संगठन प्रायः आर्थिक रूप से कमजोर वर्णो द्वारा व्यवसायों के माध्यम से अपने आर्थिक हितों को सामूहिक रूप से पूरा करने के लिए स्थापित किए जाते है। इसकी प्रमुख गुण है जैसे स्वेच्छिक, स्वायत्ता, लोकतंत्रात्मक, पूंजी आदि ।

2.8 उपयोगी शब्दावली

- **सक्रिय साझेदार**– ऐसा साझेदार जो साझेदारी व्यवसाय के कार्यकलाप में सक्रिय रुप में भाग लेता है।
- **चार्टर्ड कम्पनी**– ऐसी कम्पनी जो राजा द्वारा विषेष राजाज्ञा देने के फलस्वरुप स्थापित होती है।
- **कम्पनी**– व्यक्तियों का एक संघ जो कम्पनी अधिनियम के अंतर्गत पंजीकृत कराया गया है। यह विधि द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति है, इसका अपना नाम होता है, एक मुद्रा होती है, शाष्वत जीवन होता है और सदस्यों से पृथक अस्तित्व होता है।
- **गारंटी द्वारा सीमित कम्पनी**– ऐसी कम्पनी जिसके सदस्यों का दायित्व उसकी संगम ज्ञापन द्वारा एक ऐसी राषि तक सीमित होता है, जिसको कम्पनी के समापन की दषा में सम्पत्ति में अंषदान करने के लिए सदस्य क्रमषः गारंटी देते है।
- **शेयरों द्वारा सीमित कम्पनी**– ऐसी कम्पनी जिसके सदस्यों का दायित्व उसकी संगम ज्ञापन के द्वारा उनके शेयरों के मूल्य तक सीमित होती है।
- **सहकरी संगठन**– व्यक्तियों का संघ जो सहकारी सोसाइटी अधिनियम के अर्न्तगत स्वेच्छापूर्वक गठित किया जाता है।
- **सामान्य साझेदार**– साझेदारी संगठन के एक साझेदार जिसका असीमित दायित्व होता है तथा जो कारोबार के संचालन में भाग लेने का अधिकार रखता है।
- **सरकारी कम्पनी**– ऐसी कम्पनी जिसमें कम से कम 51 प्रतिषत प्रदत्त शेयर पूँजी सरकार के अधिकार में होती है।
- **सीमित साझेदारी**– ऐसा साझेदार जिसकी देयता उसके द्वारा प्रदत्त पूँजी तक ही सीमित होती है।
- **संयुक्त हिन्दू कुटुंब फर्म**– व्यावसायिक फर्म जिसका स्वामित्व संयुक्त हिन्दू कुटुंब के पास हाता है।
- **नाममात्र का साझेदार**– ऐसा साझेदार जो फर्म को अपना नाम ही देता है। न तो वह फर्म में पूँजी लगाता है और न ही उसके संचालन में भाग लेता है।
- **साझेदार**– वह व्यक्ति जो साझेदारी फर्म का सदस्य होता है।

2.9 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न–1 एकल स्वामित्व संगठन को उदाहरण के माध्यम से विस्तार पूर्वक

प्रश्न–2 साझेदारी संगठन को उदाहरण के माध्यम से विस्तार पूर्वक समझाइये?

प्रश्न–3 संयुक्त हिन्दू परिवार से सम्बन्धित विभिन्न प्रावधानों, अवधारणाओं को सम्मिलित करते हुये एक लेख लिखें?

प्रश्न–4 कम्पनी की अवधारणा को समझाते हुए इसकी विशेषताओं तथा इसके विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डालिये?

प्रश्न–5 सहकारी संगठन किस प्रकार सामान्य संगठन से भिन्न है? इसकी विभिन्न विशेषताओं को समझातें हुए, इसकी सीमाओं पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न–6 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी करें:–

क) एकाकी व्यापार के गुण

ख) साझेदारी संलेख

ग) संयुक्त हिन्दू परिवार की सीमाये

घ) हित का स्थानान्तरण

च) सूत्राधार कम्पनी

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

1. आधुनिक व्यवसायिक संगठन लेखक : जगदीश प्रकाश एम0काम0 डी0 फिल इलाहाबाद विश्वविद्यालय (प्रयाग पुस्तक सदन) इलाहाबाद

2. व्यवसायिक संगठन प्रबन्ध एव ंप्रशासन लेखक : डा0 पद्माक अस्थाना (1994) (साहित्य भवन– आगरा)

3. व्यापारिक संगठन लेखक–डा0 एस0सी0 सक्सेना (बंसल पब्लिशिंग हाउस)

4. आधुनिक व्यवसाय लेखक : राम नाराणय गोयल (इलाहाबाद किताब महल)

5. व्यवसायिक संगठन के सिद्धान्त लेखक : यदुकुल भूषण (नई – दिल्ली सुल्तान चन्द हाउस)

इकाई–3 व्यवसायिक संगठन के रूप–II

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 आदर्श व्यवसायिक के आवश्यक गुण

3.3 संगठन के विभिन्न संगठन रूपों की तुलना

3.4 संगठन चुनाव के मापदण्ड

3.4.1 व्यवसाय प्रारम्भ करते समय मापदंड

3.4.2 विस्तार के समय मापदंड

3.5 संगठन के रूप का चुनाव

3.6 सारांश

3.7 उपयोगी शब्दावली

3.8 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से आप व्यावसायिक संगठन में सम्बन्ध में निम्नलिखित बिन्दुओं को आत्मसात् कर सकेंगे–

- व्यवसाययिक संगठन के आदर्श रूप की व्याख्या कर सकेंगे,
- व्यवसायिक संगठन के विभिन्न रूपों की तुलना प्रकट कर सकेंग, तथा
- आदर्श व्यवसायी के गुणो को विस्तार से आत्मसात कर सकंगे।

3.1 प्रस्तावना

जैसा की हम जानते हैं व्यवसायिक संगठन बहुत ही बडा शब्द है। इस शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। इसके अर्थ की जानकारी आपने पिछली इकाई के अध्ययन के माध्यम से प्राप्त की। और भी बहुत सी जानकारी आपने पिछली इकाई के माध्यम से प्राप्त की जैसे– व्यवसायिक संगठन के कितने प्रकार होते है। व्यवसायिक संगठन की क्या विशेषताएं पाई जाती है। व्यवसायिक संगठन का महत्व, गुण तथा इससे होने वाली हानि। इस इकाई में आप आदर्श व्यवसायिक संगठन के आवश्यक गुण के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे तथा उनके रूपों में अन्तर स्पष्ट करेंगे।

3.2 आदर्श व्यवायिक संगठन के गुण

एक आदर्श व्यावसायिक संगठन के गुणों से निम्नलिखित को क्रमबद्ध कर सुव्यवस्थित रुप से आत्मसात किया जा सकता है। आइये इन्हें समझनें का प्रयास करें:–

(क) **पूंजी की मात्रा**– जिस पैमाने पर व्यापार करना हो उसके लिए कितनी पूंजी आवश्यक होगी इसका अनुमान लगाने के समय यह देखना चाहिए कि किस प्रारूप को अपनाने पर वह आसानी से उपलब्ध हो सकती है ।

(ख) **नियन्त्रण व निर्देशन की मात्रा**– कुछ व्यवसायों में स्वामी व्यक्तिगत नियन्त्रण, निर्देशन व सम्पर्क की निरन्तर आवश्यकता होती है, जबकि अन्य व्यवसायी में ये कार्य इतने आवश्यक नहीं होते क्योंकि उन्हे वेतन भोगी कर्मचारियों द्वारा भी सम्पन्न कराया जा सकता है । जैसे विभागीय भण्डार या बाटा शू कम्पनी जैसी बहुसंख्यक दुकानों का काम ।

(ग) **समायोजन क्षमता**– व्यवसायिक परिस्थितियों में परिवर्तन होते रहते है । अतः यह आवश्यक है कि संगठन प्रारूप ऐसा होना चाहिए जिसमें परिस्थितियों के अनुसार समायोजन की क्षमता हो ।

(घ) **स्वामित्व का हस्तान्तरण**– यदि इस बात की सम्भावना है कि कुछ समय तक चलते रहने के बाद व्यवसाय का स्वामित्व हस्तान्तरित करना होगा, तो ऐसा संगठन प्रारूप अपनाना चाहिए, जिससे एक कार्य सहज ही किया जा सके ।

(ङ) **जोखिम की मात्रा**– व्यवसाय जोखिम का ही खेल है कुछ व्यवसायों में जोखिम की मात्रा अधिक होती है और ये कम ।अधिक जोखिम वाले व्यवसायों को कम्पनी के रूप में संगठित करना उत्तम होगा जबकि कम जोखिम वाले व्यवसाय एकांकी या साझेदारी संगठन के रूप में संगठित किये जाते है ।

(च) **उत्पत्ति अथवा वितरण का पैमाना**– यदि उत्पत्ति अथवा वितरण का कार्य छोटे पैमाने पर करना है, तो एकांकी व्यापार श्रेष्ठ रहेगा और यदि बडे पैमाने पर करना है, तो कम्पनी व्यवसाय ठीक होगा ।

(छ)_**गोपनियता**– व्यवसायिक भेद कम्पनी संगठन में कम सुरक्षित रहते हैं, किन्तु एकांकी व्यवसाय में पूर्ण गोपनियता रहती है ।

(ज) **व्यवसाय की स्थापना में सुगमता**– कुछ व्यवसायिक संगठनों की स्थापना बहुत आसानी से की जा सकती है, जैसे एकांकी व्यापार या संयुक्त हिन्दु पारिवारिक व्यवसाय आदि।

3.3 संगठन के विभिन्न रूपों की तुलना

आपने पढ़ा है कि एक आदर्ष संगठन में स्थापना की सुगमता, सीमित देयता, पर्याप्त पूँजी एकत्र करने का अवसर, व्यावसायिक गापनीयता, लचीलापन, व्यापार का स्थायित्व, कम सरकारी नियंत्रण, कम कर–देयता आदि गुण होने चाहिये। आप जानते हैं कि संगठना के चार प्रमुख रुप है। ये हैं: (1) एकल स्वामित्व, (2) साझेदारी, (3) कम्पनी तथा (4) सरकारी समिति। संगठन के एक आदर्ष रुप के लिये आवष्यक उपर्युक्त गुणों का ध्यान में रखते हुए, आइये अब हम संगठन के इन चारों के गुणों की तुलना करें। ऐसी तुलना द्वारा, सम्भवतः हम संगठन के उस रुप को पहचान पाएँगे जिसमें ये समस्त आदर्ष

गुण हों। तालिका 1 देखिये तथा व्यावसायिक संगठन के चार रुपों के गुणों की तुलना कीजिये।

एकांकी व्यवसाय	**साझेदारी**	**संयुक्त हिन्दू परिवार**	**संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी**
यह व्यवसायिक संगठन का वह रूप है जिसमें व्यवसाय का स्वामित एक ही व्यक्ति होता है	इसमें कम से कम दो और अधिक से अधिक बीस व्यक्ति मिलकर एक समझौते के अनुसार व्यवसाय करते है ।	व्यवसायिक संगठन के इस स्वरूप का संगठन परिवार के मुखिया के हाथों में केंद्रित रहता है ।	नियमित क्षेत्र के अन्तर्गत कम्पनी सर्वाधिक लोकप्रिय व्यवसायिक संगठन है
कोई अलग कानून नहीं है ।	साझेदारी मे ंभी कोई अलग तरह का कायदा कानून नहीं है	इसमें हिन्दू लां संचालित होता है।	भारतीय अधिनियम 1956 के अन्तर्गत होती है
कोई आयकर विशेष रूप से नहीं पाया जाता है ।	इसमें भी कोई विशेष आयकर नहीं होता है		विशेष रूप से आयकर लगता है ।

3.4 संगठन चुनाव के मापदण्ड

व्यवसायिक संगठन के अनेक प्रारूप है जिनके अलग अलग गुण तथा दोष है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उनमें सर्वश्रेष्ठ कौन सा है। इसका चयन करना बहुत कठिन है। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर हैने, स्प्रीगल, एम0एल0एन्शेन आदि विद्वानों ने अपने –अपने दृष्टिकोण से अनेक घटकों का प्रतिपादन किया है, जिनका सार निम्नांकित निर्णायक घटकों में आ जाता है।

- ➢ कुछ व्यवसायिक संगठनें की स्थापना बहुत आसानी से की जा सकती है जैसे एकांकी व्यापार या संयुक्त हिन्द पारिवारिक व्यवसाय । ऐसे संगठनों में ना तो विशिष्ट औपचारिकताओं का ही पालन करना पड़ता है और न अधिक धन की जरूरत पड़ती है ।
- ➢ व्यवसायिक संगठन के प्रारूप का चयन करते समय वैधानिक औचित्य को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है ।
- ➢ वास्तव में समूह के दृष्टि कोण से व्यवसायिक संगठन के विभिन्न प्रारूप उन बच्चों के समान है । जिनमें पिता आर्थिक उपयुक्ता और माता विधान है । (हैने)
- ➢ जिस पैमाने पर व्यापार करना हो उसके लिए कितनी पूंजी आवश्यक होगी इसका अनुमान लगाने के उपरान्त यह देखना चाहिए कि किस प्रारूप को अपनाने पर वह सविधा से उपलब्ध हो सकती है।

3.4.1 व्यवसाय प्रारम्भ करते समय मापदण्ड

व्यवसाय प्रारम्भ करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना होता है :–

(क) **व्यवसाय का आकार**– विभिन्न व्यवसायों की अनेक आवश्यकताए होती है । उसी आवश्यकताओं के आधार पर व्यवसाय का आकार स्पष्ट होता है । जैसे कि अगर व्यवसाय छोटा है तो आकार में छोटा होगा । यदि व्यवसाय बड़ा है तो उसका आकार भी बडा होगा ।

(ख) **व्यवसाय में पूँजी**– जैसा कि आप सभी जानते है व्यवसाय पूंजी से चलता है और उसी पूंजी से व्यवसाय बढ़ता है । ऐसा स्व्यवसाय जिस में क्रम पूंजी की आवश्यकता है एकल स्वामित्व अथवा साझेदारी के आधार पर संगठित किया जा सकता है ।

(ग) **जोखिम**– जोखिम के बिना कोई व्यवसाय संभव नहीं। जोखिम चाहे जिस रूप में हो पर जोखिम उठाना ही पड़ता है व्यवसाय में । यदि व्यवसायिक उद्यम के प्रवर्तक समहित जोखिम से डरते है तो वे व्यवसाय एक कम देयता वाले संकठन के आधार पर करें ।

(घ) **कारोबार का वर्णीकरण**– कारोबार का वर्णीकरण भी संगठन के रूप के चुनाव को प्रभवित करता है। यदि क्षेत्र सीमित है। तथा एक विशेष इलाके तक प्रसिद्व है तो एकल स्वायितव संगठन उपयुक्त रूप हो सकता है।

3.4.2 विस्तार के समय मापदंड

हम सभी जानते है कि व्यवसाय में लाभ हानि का होना निश्चित है। परन्तु हमारी फर्म का विस्तार लाभ पर आधारित होता है। अपने व्यासाय को अधिक से अधिक बड़ा करना। व्यवसाय को पूरे क्षेत्र अथवा हर श्रेत्र में फैलाना चाहता है। जब आप का व्यासाय पूरी तरह से सफल हो तब आप अपने व्यवसाय को विस्तार कर सकते है। पर अपना विस्तार कार्यक्रम कार्य अस्तित्व करने के लिए आप संगठन के वर्तमान रूप से काम चला सकते है, अथवा संगठन को नया रूप दे सकते हैं।यदि आपको वर्तमान व्यवसाय एकल स्वामित्व संस्था के रूप मे संगठित है तो आप एक प्रबन्धक नियुक्त करते है अथवा यदि एक साझेदारी फर्म है तो आप साझेदारों की सख्यां बड़ा सकते और भी बहुत से परिवर्तन कर विस्तार कर सकते है। ऐसी फर्म जहॉ कम विक्रय हो रहा हो, तो उसे दूसरी जगह से कर सकते है, इसी प्रकार विस्तार कर सकते है।

3.5 संगठन के रुप का चुनाव

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि छोटे व्यवसाय, जैसे किराने की दुकान, नाई की दुकान, छोटे भोजनालय तथा होटल, छोटे ऑटोवर्कषाप, लेखन सामग्री की दुकाने, मिठाई की दुकाने, नानबाई की दुकाने, ड्राइक्लीनिंग की दुकाने, जूता निर्माण और पूर्ति उद्योग, बिजली तथा इलेक्ट्रानिक्स के सामान की मरम्मत करने वाली छोटी दुकानें नाई, दर्जी, आदि प्रधानतः एकल व्यापार संगठन होते है। इस प्रकार के व्यवसायों के लिये संगठन के एकल स्वामित्व रुप को तरजीह देने के कारण स्पष्ट है। वे छोटे पैमाने पर कार्य करते है, एक सीमित बाजार की आवष्यकताओं की पूर्ति करते है अथवा ग्राहकों या व्यापारियों की एक सीमित संख्या से व्यवहार करते हैं, तथा उन्हे सीमित पूँजी की आवष्यकता होती है। इसके अतिरिक्त इनमें आमने–सामने की स्थिति से निपटने के लिए स्वामियों के वैयक्तिक ध्यान की आवष्यकता होती है। प्रबन्धकीय कार्य स्वामी स्वयं सुगमतापूर्वक कर सकता है तथा सामान्यतः स्वामी स्वयं ही अपना हाकिम तथा सक्रिय प्रबन्धक होना चाहता है।

अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर व्यवसाय का गठन सामान्यतः साँझेदारी के रुप में किया जाता है। सेवा उद्यम, जैसे आटोवर्कषाप, बड़े भोजनालय तथा होटल, बड़े पैमाने के फुटकर व्यापार तथा मध्यम पैमाने के औद्योगिक संगठन सामान्यतः साझेदारी के रुप में संगठित किये जाते हैं। इनमें उद्यमकर्त्ता एक फर्म के साझेदारों के रुप में अपनी पूँजी कौषल तथा अनुभव करते है, जिन्हे उपक्रम की किसी विषेष क्रिया में विषेषज्ञता प्राप्त हो। उन उपक्रमों में जिनमें जोखिम काफी अधिक होती है। तथा जो मध्यम पैमाने पर कार्य करते हैं, सामान्यतः प्राइवेट कम्पनी का चुनाव किया जाता है। परिवहन उपक्रम, किराया खरीदा इकाईयाँ, वित्त तथा लीजिंग कम्पनियाँ, मध्यम पैमाने की विनिर्माण कम्पनियाँ समान्यतः प्राइवेट कम्पनियों के रुप में संगठित की जाती है। ऐसे उपक्रमों में एक साझेदारी फर्म की तुलना में अधिक पूँजी की अवष्यकता होती है।

वर्तमान समय के बड़े पैमाने पर व्यावसायिक कार्यों के लिये पब्लिक लिमिटेड कम्पनी व्यावसायिक संगठन का सबसे उपर्युक्त रुप है। बड़े पैमाने के विनिर्माण संयंत्र, बड़े परिवहन उपक्रम, इंजीनियरी तथा इलैट्रानिक कम्पनियाँ बड़े विभागीय भंडार, बड़ी बहुसंख्यक दुकानें, आदि सामान्यतः पब्लिक लिमिटेड कम्पनी के रुप में संगठित की जाती है। बड़ी मात्रा में पूंजी की आवष्यकता, तथा बड़ा जोखिम इसके मूख्य कारण है।

दूसरी ओर, संगठन का सहकारी रुप उस स्थिति में उपयुक्त होता है जबकि समाज के किसी एक विषेष वर्ग के हितों का परिरक्षण करना अभीष्ट हो। अतः संगठन के सहकारी रुप का उपयोग उपभोगताओं, उत्पादकों, कृषकों, आदि के लिये किया जाता है।

3.6 सारांश

आकार स्वामित्व एंव कानून की दृष्टि से किसी व्यवस्यिक संस्था के स्वरूप को ही उसका प्रारूप कहते है। कुछ संस्थाए बहुत आकार की होती है,कुछ आकार में मत्यम होती है तथा अत्यनत लघु आकार की होती है। इसी प्रकार कुछ का स्वामी एक व्यक्ति होता है, और कुछ में अनेक व्यक्ति होते है, कुछ व्यावायिक संगठन की स्थापना बहुत आसानी से की जा सकती है जैसे एंकाकी व्यापार आदि। जिस पैमाने पर व्यापार करना हो उसके लिए कितनी पूजी आवश्यक होगी किस प्रारूप को अपनाने पर व सुविधा से उपलब्ध हो सकती है। इस इकाई के अध्यन से यह भी ज्ञात हुआ कि कोई भी रूप आदर्श नही है। और भी बहुत से पहलु पर अध्ययन हुआ जैसे कि व्यावसायिक संगठन के विस्तार की व्याख्या की गई।

3.6 उपयोगी शब्दावली

- **सक्रिय साझेदार**– ऐसा साझेदार जो साझेदारी व्यवसाय के कार्यकलाप में सक्रिय रुप में भाग लेता है।
- **चार्टर्ड कम्पनी**– ऐसी कम्पनी जो राजा द्वारा विशेष राजाज्ञा देने के फलस्वरुप स्थापित होती है।
- **कम्पनी**– व्यक्तियों का एक संघ जो कम्पनी अधिनियम के अंतर्गत पंजीकृत कराया गया है। यह विधि द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति है, इसका अपना नाम होता है, एक मुद्रा होती है, शाष्वत जीवन होता है और सदस्यों से पृथक अस्तित्व होता है।
- **गारंटी द्वारा सीमित कम्पनी**– ऐसी कम्पनी जिसके सदस्यों का दायित्व उसकी संगम ज्ञापन द्वारा एक ऐसी राषि तक सीमित होता है, जिसको कम्पनी के समापन की दषा में सम्पत्ति में अंशदान करने के लिए सदस्य क्रमशः गारंटी देते है।

- **शेयरों द्वारा सीमित कम्पनी**– ऐसी कम्पनी जिसके सदस्यों का दायित्व उसकी संगम ज्ञापन के द्वारा उनके शेयरों के मूल्य तक सीमित होती है।
- **सहकरी संगठन**– व्यक्तियों का संघ जो सहकारी सोसाइटी अधिनियम के अन्र्तगत स्वेच्छापूर्वक गठित किया जाता है।
- **सामान्य साझेदार**– साझेदारी संगठन के एक साझेदार जिसका असीमित दायित्व होता है तथा जो कारोबार के संचालन में भाग लेने का अधिकार रखता है।
- **सरकारी कम्पनी**– ऐसी कम्पनी जिसमें कम से कम 51 प्रतिषत प्रदत्त शेयर पूँजी सरकार के अधिकार में होती है।
- **सीमित साझेदारी**– ऐसा साझेदार जिसकी देयता उसके द्वारा प्रदत्त पूँजी तक ही सीमित होती है।
- **संयुक्त हिन्दू कुटुंब फर्म**– व्यावसायिक फर्म जिसका स्वामित्व संयुक्त हिन्दू कुटुंब के पास हाता है।
- **नाममात्र का साझेदार**– ऐसा साझेदार जो फर्म को अपना नाम ही देता है। न तो वह फर्म में पूँजी लगाता है और न ही उसके संचालन में भाग लेता है।
- **साझेदार**– वह व्यक्ति जो साझेदारी फर्म का सदस्य होता है।

3.7 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. व्यावसायिक संगठन के एक आदर्ष रुप के लक्षणों की व्याख्या कीजिये। कौन सा रुप समस्त पहलुओं से आदर्श माना जा सकता है?

प्रश्न 2. व्यावसायिक संगठन के चारों रुपों में से किसी में भी संगठन के एक आदर्ष रुप के समस्त लक्षण नहीं होते। विवेचन कीजिये।

प्रश्न 3. व्यावसायिक संगठन के रुप के चुनाव का निर्णय करने वाले तत्वों की व्याख्या कीजिये।

प्रश्न 4. आपने एक व्यवसाय प्रारम्भ करने की योजना बनाई है। आप व्यवसाय के लिए संगठन के एक उपर्युक्त रुप का चुनाव किस प्रकार करेंगें।

प्रश्न 5. सब प्रकार के व्यवसायों के संगठन का कम्पनी रुप सबसे आदर्ष रुप है।

प्रश्न 6. एक साझेदारी फर्म ने अपने व्यवसाय का निस्तार करने का निर्णय लिया है, जिसके लिए अधिक पूँजी तथा विषेषता की आवष्यकता है। इसे अधिक साझेदार लेने चाहियें। अथवा अपने आपको प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी में परिवर्तित कर लेना चाहिये। उपयुक्त तर्क देते हुए अपनी सलाह दीजिये।

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

1. व्यावासायिक संगठन एवं प्रबनध का परिचय लेखक बी0पी0 सिंह इला0 किताब महल
2. आधुनिक व्यावसयिक संगठन लेखक:जगदीश प्रकाश इला0 प्रयाग पुस्तक भवन
3. व्यावसायिक संगठन प्रबन्ध एवं प्रशासन लेखक:पद्माकार अष्ठाना आगरा: साहित्य भवन
4. व्यापारिक संगठन लेखक–एस सी सक्सेना बंसल पब्लिशिंग हाउस

इकाई–4 व्यासायिक प्रवर्तन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्यमी

4.2.1 उद्यमिता

4.2.2 उद्यमी की विशेषताएँ

4.2.3 उद्यमी के कार्य

4.3 प्रवर्तन

4.3.1 प्रवर्तक का अर्थ तथा कार्य

4.3.2 प्रवर्तक तथा उद्यमी में अन्तर

4.4 प्रवर्तन के प्रकार

4.5 विभिन्न प्रकार के संगठनो का प्रवर्तन

4.5.1 एकल स्वामित्व

4.5.2 साझेदारी फर्म

4.5.3 संयुक्त पूँजी कम्पनी

4.5.4 सहकारी समिति

4.6 सारांश

4.7 उपयोगी शब्दावली

4.8 महत्वपूर्ण प्रश्न

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरान्त आप इस योग्य हो सकेंगे कि–

- उद्यमी कौन होता है, उद्यमी की क्या विशेषताऍ है, जान सकेगें,
- उद्यमी के कार्यों को सूचिबद्ध कर सकेगें,
- उद्यमी तथा प्रर्वतक के माध्य अन्तर जान सकेंगे,

PLONE-029

- प्रवर्तन के कार्य तथा प्रकारो का विष्लेषण कर सकेगें,
- एकल स्वामित्व वाले संगठनों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकेगे तथा
- अन्य विभिन्न प्रकार के संगठनों के प्रर्वतन सम्बन्धी प्रक्रिया का विस्तार से विष्लेषण कर सकेंगे।
- प्रर्वतक कितने प्रकार होते है, वे कौन होते है ?

4.1 प्रस्तावना

अभी तक हमने मानवीय कार्यकलाप के बारे जाना तथा उसके प्रकार के बारे मं जाना है। मानवीय कार्यकलाप का वर्गीकरण व व्यवसाय के बारे मे स्पष्ट रूप से जानकारी प्राप्त की । व्यवसाय के उदेश्य तथा व्यवसाय वृत्ति रोजगार में अन्तर स्पष्ट किया। वाणिज्य का अर्थ जाना, संगठन का अर्थ जाना। एकल स्वामित्व संगठन का अर्थ, गुण तथा सीमाएं का वर्णन किया। साझेदारी संगठन के बारे मे स्पष्ट रूप से जानकारी प्राप्त किया। कम्पनी संगठन का अर्थ उसकी भिन्न प्रकार की तुलना किया अब इस इकाई में हम लाभ उद्यमी का अर्थ उद्यमी के लक्षण उद्यमी के कार्य का वर्णन करेगे। प्रर्वतन की व्याख्या करेगे। और भी बहुत सी बातो का अध्ययन करेगे। जिसके बारे मे पहले भी अध्ययन कर चुके है जैसे एकल स्वाामित्व उपक्रम, साझेदारी फर्म आदि।

4.2 उद्यमी

जैसा की हम जानते है हर मनुष्य के अन्दर कुछ न कुछ गुणवत्ता होती है। यह गुणवत्ता किसी मनुष्य में कम किसी मे अधिक होती है। उद्यमी भी एक ऐसा व्यक्ति है जिसके अन्दर व्यवसाय से समबन्धित कुछ गुणवत्ता होती है। गुणवत्ता जैसे कि व्यवासियक अवसर की खोज मे रहना। कुछ न कुछ नया सोच पल–पल बदलाव लाता हो और कुछ अच्छा करने की सोचता हो विचार करता हो वह उद्यमी कहलाता है।

4.2.1 उद्यमिता

ऩ्द्यमत उद्यमी शब्द से बना है । जब भी उद्यमी कोई भी कार्य करता है जो व्यवसाय से सम्बन्धित हो, उस कार्यकलाप को उद्यमत कहते है। उद्यमत शब्द आन्प्रन का हिन्दी अनुवाद है जिसका अर्थ हें वास्तव में व्यक्ति तब तक उद्यमी नही कहा जा सकता जब तक वह किसी नई बात और भिन्न बात को अपने उपक्रम में पैदा नही करता है। अन्य व्यक्तियो से अलग कार्य करना ही नवाचार कहलाता है। आज तक जिस भी मनुष्य ने भले वह मनुष्य छोटा हो या बड़ा अगर उसने कोई भी आविष्कार किया हो वह मनुष्य उद्यमी कहलाता है।

4.2.2 उद्यमिता की विशेषताएँ

उद्यमत की विशेषताएँ कुछ इस प्रकार है।

(क) **लक्ष्य की प्राप्ति में लगन**– उद्यमी अपने कार्य के प्रति बहुत हो सक्रीय रहते हैं। उनके अन्दर लक्ष्य प्राप्ति की भूख रहती है। वे कोई भी कार्य प्रारम्भ करते है तो चाहते है कि उस कार्य को महनत और लगन से सफलता पूर्वक समाप्त करके लक्ष्य प्राप्त कर ले।

(ख) **कठिन परिश्रम**– उद्यमी वह मनुष्य होता जो परिश्रमी होता है अपने कार्य के प्रति। उसके अन्दर कार्य को करने की तडप रहती है।यह व्यक्ति आलसी नही होता और लगातार कार्य करता चला जाता है।

(ग) **गातिशीलता**– निर्णय लेने मे जो व्यक्ति देरी नही करता अर्थात जो भी फैसला लेना होता है उसे सही समय पर सही तरह से पूरी गताशीलता से निर्णय लेता है।

(घ) **खत पर आधरित**– उद्यमी वह व्यक्ति होता है जो दूसरी पर निर्भर नही रहता। वह अपना निर्णय खुद लेता। यह व्यक्ति किसी के वशं मे रहकर कार्य करना पसन्द नही करता। यह व्यक्ति खुद मालिक बनना पसन्द करता है।

(ड़) **क्रय विक्रय पर आदेश**– उद्यमी वह व्यक्ति होता जो आदेश लेता नही अपितु आदेश देता है।भले ही यह आदेश कय–विकय से समब्धित क्यो ना हो।

(च) **आशावादी दृष्टिकोण**– उद्यमी व्यक्ति सदैव अच्छी विचारघाटा के इच्छुक रहते है। उद्यमी रहते। उद्यमी सदैव अपने रहते है ताकि परिणाम उत्कुष्ट निकले और उन्हे गति महसूस हो।

(छ) **अच्छे संगठनकर्ता**– व्यवसाय को प्रारम्भ करने के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार के साधनो का समस्तीकरण करने तथा उनसे श्रेष्ठतम लाभ प्राप्त करना वे बखूबी जानते हैं।

(ज) **संगठन तैयार करना**– उद्यमी व्यक्ति संगठन को तैयार करने के पूर्ण कार्य को छोटे–छोटे भागों मे विभाजित करना होता है। फिर प्रत्येग विभाग के कार्यो को निधरित करता है तथा उनके बीच समन्वय का क्रिया की रूपरेखा भी बनाता है।

4.2.3 उद्यमी के कार्य

उद्यमी एक एसा व्यवसायाय करने का विचार करता है जिसमें उसे अधिक से अधिक फायदा पहुँचे। ऐसा कार्य करना चाहता है जिससे भारी मात्रा में लाभ की प्राप्ति हो सके । उत्पादन कार्य मे लगे हुए उद्यमी के कार्यो पर हम नज़र डालते है जो इस प्रकार हैं।

(क) **पूँजी की आवश्यकता**– व्यवसाय को प्रारम्भ करने से पूर्व पूँजी का एकत्रित होना अति आवश्यक है। बिना पूजी के कोई भी कार्य सभव नही है।

(ख) **बाजार का सर्वेक्षण**– उसे उम्पभोक्ताओ की प्राथमिकताओं व आवश्यकताओ पर तथ्य एकत्रित करने होते है। इन तथ्यो को वह बाजार शोध तकनीक द्वार एकत्रित करता है।

(ग) **श्रामिकों की भर्ती**– सारसी के रूप मे वह विभिन्न विभागो के लिए कुशल व अकुशल दोनो ही प्रकार के श्रामिको का चयन करता है। इस प्रकार वह श्रामिको की भर्ती का प्रबन्ध करता है।

(घ) **मशीनरी कय के लिए आदेश**– वह मशीनरी, उपकरण तथा अन्य आवश्यक मंत्रो को खरीदने का आदेश देता है। वह उत्पादन क्रिया प्रारम्भ करने के लिए मशीनो तथा उपकरणो की स्थापना कराता है।

(ड़) **नव–परिवर्तन के प्रति अभिरूचि**– सफल उद्यमियो मे से अनेको ने नवाचार के प्रति अभिरूचि दिखाई है।

(च) **उत्पादन कार्य प्रारम्भ करना**– प्रत्येक प्रकार के नये व्यवसाय के प्रारम्भ में कुछ औपचारिकताओ को पूरा करना होता है। विभिन्न प्रकार के व्यावासायिक संगठनो के लिए औपारिकताएँ भिन्न–भिन्न होती है।

(छ) **आशावदी द्वष्टिकोण**– उद्यमी सदैव अपने लक्ष्यो को श्रेष्ठम विधि से प्राप्ति करने के इच्छुक रहते है, ताकि परिणाम उत्कुष्ट निकले और उन्हे गर्व महसूस करने का अवसर प्राप्त हो।

(ज) **तरह–तरह के अवसर की खोज**– उद्यमी एक बहुत ही कठिन परिश्रमी होते है। वे अपने कार्य के प्रति बहुत महनती होते है। उनकी सोच दूसरों से पृथक होती है। कुछ न कुछ नवीन विचार प्रकट करने का प्रयास करते है।

4.3 प्रर्वतन

प्रर्वतन का आशय व्यापरिक सुअवसर की खोज करने और फिर उनसे लाभ प्राप्त करने के उदेश्य से पूँजी, सम्पत्ति तथा प्रबन्ध कला को एक व्यावासायिक सस्था के रूप में संगठित करने से हैं। ''लार्ड लिण्डेल के अनुंसार'' आइये इसे समझने का प्रयास करें ''प्रर्वतन शब्द का कोई निश्चित अर्थ नही है। कम्पनी के सम्बन्ध मे प्रर्वतन का अर्थ प्रभावपूर्ण किया से होता है जो कम्पनी को तैयार करने प्रारम्भ करने व प्रचलन मे लाने के लिए आवश्यक होती है''

उपरोक्त परिभाषा का विष्लेषित अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि प्रर्वतन की अवस्था में व्यवसायिक अवसरो की खोज की जाती है। ,आवश्यक साधन जुटाए जाते है। तथा प्रारम्भिक_आवश्यक कार्यवाही को पूरा करके व्यवसाय को कम्पनी को रूप प्रदान किया जाता है।

4.3.1 प्रर्वतक का अर्थ तथा कार्य

जो व्यक्ति कम्पनी के प्रर्वतन का कार्य करता है उसे प्रर्वतक कहते है। प्रर्वतक वह व्यक्ति होता है जिसके मसितष्क मे सबसे पहले कम्पनी के निर्माण का विचार आता है, जो व्यापार से सम्बन्धित अनुसंधान कार्य करता है। वह एक निश्चित योजना के अनुसार कम्पनी का निर्माण करता है।

न्यायाधीश सी0जे0 कर्बन'' प्रर्वतक एक ऐसा व्यक्ति हैजो किसी कम्पनी के निर्माण की योजना तैयार करता है। कम्पनी के पार्षद सीमानियम तैयार करता है, उनकी रजिस्ट्री करवाता है तथा प्रथम संचालाको को चुनता है।''

प्रवर्तक के कार्य

कम्पनी के प्रर्वतक के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैः–

कम्पनी संगठन की रूपरेखा तैयार करना– प्रर्वतक कम्पनी के निर्माण की कल्पना करता है तथा उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास करता हैं

व्यापार आरम्भ करने से पूर्व की समस्याओ पर विचार– प्रर्वतक व्यावसायिक सुअवसरो की खोज करता है। कम्पनी के स्थान, कच्चे माल, शक्ति के साधन, परिवहन व संचार के साधन श्रम तथा बाजार की उपलब्धता, आदि प्राम्भिक समस्याओ पर विस्तार से विचार करता है।

संचालको की खोज करना– प्रर्वतक ऐसे व्यक्तियो की खोज करात है जो क्म्पनी के प्रथम संचालन बनने तथा कम्पनी के सीमानियम पर हस्ताक्षर करने के एिल तैयार हो।

कम्पनी का नाम चुनना– प्रर्वतक ही कम्पनी के एिल उपर्युक्त नाम का चुंनास करता है।

कम्पनी के उदेश्य तथ पूजी की निर्णय करनाः– पर्वतक ही कम्पनी के उदेश्य निश्चित करते है तथा अधिकृत पूजी की मात्रा निश्चित करते है।

आवश्यक नियुक्तियाँ करना– पर्वतक समामेलन के समय रजिस्ट्रार के कार्यालय मे फाइल करने के लिए आवश्यक प्रलेख जैसे सीमानियम, प्रतिवरण आदि तैयार करता है।

4.3.2 प्रर्वतक तथा उद्यमी में अन्तर

प्रर्वतक कम्पनी के निर्माण की कल्पना करता है। तथा उसे व्यावाहारिक रूप देने का प्रयास करता है। उद्यमी वह व्यक्ति होता है जो जोखिम उठाकर कर व्यापार करता है और लाभ कमाता है। प्रर्वतक एक ऐसा व्यक्ति है जो, किसी कम्पनी के निर्माण की योजना तैयार करता है। कम्पनी पार्षद सीमा नियम तैयार करता है। उनकी रजिस्ट्री करवाता है। तथा प्रथम संचालको को चुनता है। उद्यमी वो होता, है जो विचार को विकसित करता है तथा अवसरो की खोज करता है। संगठन के रूप कर निर्धारण करता है। स्थान का निर्धारण करता है। मशीनरी क्रय के लिए आदेश देता है। संगठन के आंतरिक ढाँचे की रूपरेखा बनाता है।

4.4 प्रर्वतको के प्रकार

व्यापार के क्षेत्र में उद्यमी के इतर प्रवर्तको की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आइये विभिन्न प्रकार के प्रवर्तको के सम्बन्ध में क्रमबद्ध ढ़ंग से ज्ञान प्राप्त करेंः–

(क) **वित्तीय प्रर्वतक**–वित्तीय पर्वतक वह प्रर्वतक होते है जो बाजार में अनूकूल परिस्थितिया होने पर नया उद्यम स्थापित करते हैं।

(ख) **सास्थानिक प्रर्वतक**– ये संस्था उद्यमों की स्थापना में अन्य उद्यमियो को सहयोग देती है। जैसे कि राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम संस्था आदि।

(ग) **सरकार**– स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से भारत सरकार भी उद्यमो की स्थापना के लिए एक बडा प्रर्वतक बन गई है।

(घ) **पेशेवर प्रर्वतक**– ये प्रर्वतक नये उद्यम स्थापित करने में विशेष योग्यता रखते है। उद्यम का प्रर्वतन कर के उसका नियंत्रण तथा प्रंबध कम्पनी के शेयरधारियो को सौप देते है।

4.5 विभिन्न प्रकार के संगठनो का प्रवर्तन

इस अवधारणा के अर्न्तगत मूलरुप से निम्नलिखित संगठनों के सम्बन्ध में प्रवर्तन को समझा जा सकता हैः–

4.5.1 एकाकी व्यापार

व्यावसायिक संगठन का सबसे प्रारम्भिक प्रचीन प्रारूप है। यद्यपि यह निश्यचपूर्वक नही कहा जा सकता कि एकाकी व्यवसाय का प्रारम्भ कब हुआ किन्तु यह निर्विवाद है कि

वस्तु विनियम के सांथ व्यापार का जो प्रथम स्वरूप प्रकट हुआ वह एकाकी व्यापार ही था। एकल स्वामित्व वाली स्वरूप व्यावसायिक संगठन का वह प्रारूप हैं जिसकी आयु केवल एक व्यक्ति होता जिसे एकाकी व्यापारी कहते है। दो महत्वपूर्ण बातो पर ध्यान देना अति, आवश्यक है। एकाकी व्यापार का आशय सर्वथा छोटी मात्रा के व्यापार से नही होता है।

4.5.2 साझेदारी फर्म

साझेदारी फर्म का उद्‌गम वास्तव मे एकाकी व्यवसाय की सीमाओ व असफलतो का परिणाम हैं। एकाकी व्यवसाय के विभिन्न दोषो व कठिनाइयो ने जैसे 1 सीमित पूजी 2 साकित प्रबन्ध चातुर्थ 3 असीमित दाथित्व आादि। साझेदारी संगठन के सम्बन्ध में **मैकनाटन के अनुसार** ''साझेदारी संगठन व्यावसायिओ की पूरक क्षमताओ का लाभ उठाने तथा अधिक पूजी जुटाने की अभिलाषाओ का परिणाम है''। वस्तुतः सामान्य बोलचाल की भाषा में विशिष्ट गुणों वाले व्यक्तियो के सामूहिक संगठन को साझेदारी कहते है।

4.5.3 संयुक्त पूँजी कम्पनी

जिस प्रकार एकाकी व्यवसाय के दोषो ने साझेदारी संगठन को जन्म दिया उसी प्रकार साझेदारी संगठन की दुर्बलताओ वे इसके अवगुणो ने व्यावसायिक संगठन के एक नये प्रारूप को जन्म दिया जो कम्पनी के नाम से विख्यात हैं। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि कम्पनी का उद्‌गम किस तिथि को हुआ किन्तु ऐसा अनुमान है कि कम्पनी का प्रदुभवि सर्वप्रथम इटली मे 12 शताब्दी में हुआ। साधारणतया कम्पनी का आशय किसी सामान्य उदेश्य के लिए निर्मित अनेक व्यक्तितयो के एक संध से है। एक लोकप्रिय संगठन होने के कारण कम्पनी की कम्पनी की अनेक परिभाषाए है, जिन्हे अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन वर्गो में बाटा जा सकता है। प्रायः कम्पनी विधान द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति है,जिसकी पूजी स्थयी एवं हस्तातरणीय अशों मे विभक्त होती है। आइये देखे कम्पनी के पंजीकरण के लिए प्रर्वतको को क्या करना होता है।

1. **कम्पनी का पंजीकरण**– जैस की हम जानते है कम्पनी का पंजीकरण अति आवश्यक होता है। इसके लिए एक कम्पनी का प्रमाण पत्र प्राप्त करना होता है। उस प्रमाण पत्र को प्राप्त करने के लिए निम्न बातो का ध्यान रखाना चाहिए। जैसे कि :–

   क–कम्पनी के कनाम का चयन

   ख–संगम ज्ञापन

   ग–संगम अनुच्छेद आदि।

2. **विवतरण पात्रिका**– वास्तव में विवरण पत्रिका में वे बात ध्यान देन योग्य कि जो कम्पनी की पूजी में अशदान करने वाले व्यक्तियां के एिल जान लेना जरूरी है। विवरण पत्रिका की विषय वस्तु कम्पनी अधिनियम मे दी हुई जिससे प्रर्वतक कोई बात दिया न सके ।

4.5.4 सहकारी समिति

अब तक हमने बहुत सारे सगठनो का अध्ययन किया एव उसकी गुण एंव दोष का वर्णन किया। कई संगठनो के वर्गीकरण का भी वर्णन किया। इसी प्रकार एक और संगठन है जो कि बहुत ही महत्पूर्ण संगठनों में शामिल है जिसका नाम हें सहकारी समिति

सहकारी समिति व्यावसाायिक संगठन का ऐसा भाग है। जिसमे व्यक्ति समानता के आधार पर ऐच्छिक रूप मे शमिल होते है।

आप जानते है। कि सहकारी समिति का भी पंजीकरण उनका ही आवश्यक माना जाता तथा जरूरी है जितना और संगठन का माना जाता है । इस समिति के पंजीकरण हेतु न्यूनतम 10 व्यक्ति का होना अति आवश्यक है । इसका पंजीकरण रजिस्ट्रार आफ कोपरेटिव सोसाइटीज में होता है। पंजीकरण कराने हेतु निम्नबातों का विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिए :–

(क) समिति का नाम, उद्देश्य आदि आवेदन में लिखा होना चाहिए जो रजिस्ट्रार आफ कोपरेटिव सोसाइटीज के जमा करना हो ।

(ख) समिति की उपविधि तैयार करना ।

(ग) आवेदन पत्र पूरा होने पर उसपे हस्ताक्षर।

4.6 सारांश

उद्यमी वह व्यक्ति है जिसके मस्तिष्क में कोई विशेष कारोबार करने की बात जन्म लेती है। उद्यमी के क्रिया कलाप ही_उद्यमत कहलाते है। उद्यमी के बहुत कार्य होते है जैसे कि विचार को विकसित करना, स्थान का निर्धारण करना श्रमिकों की नियुक्ति करना आदि। प्रवर्तन कम्पनी निर्माण की आधारशिला है। जो व्यक्ति व्यवसाय की स्थापना कर उसे एक नया रूप देते है वे प्रवतर्क होते है। सहकारी समिति व्यवसायिक संगठन का ऐसा रूप है जिसमें व्यक्ति समानता के आधार पर ऐच्छिक रूपमें शामिल होते है ।

4.7 उपयोगी शब्दावली

- **संगम अनुच्छेद**– कम्पनी के आन्तरिक प्रबन्ध के लिए बनाए गए नियमों तथा विनियमों की सूची।
- **निगमन का प्रमाणपत्र**– रजिस्ट्रार आफ कम्पनीज के द्वारा जारी प्रमाण पत्र जो यह बतलाता है कि अब कम्पनी का विधिवत् पंजीकरण हो गया है। इस प्रमाणपत्र में उल्लिखित तारीख कम्पनी की तारीख मानी जाती है।
- **उद्यमी**– वह व्यक्ति जो व्यवसाय शुरु करने तथा उसके प्रबंधन की जोखिम उठाता है।
- **उद्यम**– एक नए व्यवसाय को जन्म देने की प्रक्रिया।
- **नवाचार**– व्यवसाय में अन्य व्यक्तियों से कुछ भिन्न करना अथवा कुछ नवीनता लाना।
- **प्रवर्तक**– वह व्यक्ति जो किसी परियोजना को सफलीभूत करने के लिए एक कम्पनी की स्थापना करने का प्रयास करता है तथा उसको चलाने के लए आवष्यक कदम उठाता है।
- **प्रवर्तन**– व्यावसायिक अवसरों की खोज तथा तत्पश्चात् व्यावसायिक उपकक्रम की स्थापना के लिए आवश्यक पूँजी, सम्पत्ति तथा प्रबंधकीय योग्यता एकत्रित करना जिससे उससे मुनाफा कमाया जा सके।

- **संगम ज्ञापन**— कम्पनी के संविधान तथा उद्देष्यों को परिभाषित करने वाला प्रलेख इसके द्वारा मूलभूत शर्ते निर्धारित की जाती हैं जिनके अधीन कम्पनी की स्थापना की जाती है।
- **विवरण पत्रिका**— यह एक प्रलेख हैं जो कम्पनी के बारे में जनता को पूरी जानकारी देता है तथा उसे कम्पनी द्वारा किए गए शेयरों में अंषदान करने के लिए निमंत्रित करता है।
- **स्थानापन्न विवरण—पत्र**— यह एक प्रलेख है जो विवरण पत्रिका के स्थान पर उस समय तैयार किया जाता है जब कम्पनी पूंजी जुटाने के लिए जनता को निमंत्रित न करने का निर्णय करती है।

4.8 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1 उद्यमी कौन होते हैं ? उद्यमिता से आप क्या समझते है ? विस्तार से उदाहरण सहित समझाइये।

प्रश्न 2 उद्यमी की क्या क्या विशेषताएं है, विस्तार से इसका वर्णन करिये ?

प्रश्न 3 उद्यमी के कार्यो को समझाइये तथा उनकी भूमिका उदाहरण सहित वर्णन करिये ?

प्रश्न 4 प्रवर्तक के विभिन्न प्रकारों को समझाइए? एक प्रवर्तक में क्या—क्या गुण होने चाहिए क्रमबद्ध ढ़ंग से विस्तारित कीजिये।

प्रश्न 5 प्रवर्तक तथा उद्यमी के मध्य विभिन्न आधारों पर अन्तर को तालिका के माध्यम से समझाइये।

प्रश्न 6 विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक संगठनों के प्रवर्तन को विस्तार से समझाइये।

प्रश्न 7 सहकारी समिति तथा संयुक्त पूँजी कम्पनी के प्रर्वतन को आप किस प्रकार करेगें? रुप रेखा सहित विस्तार से समझाइये।

कुछ उपयोगी पुस्तके—

- व्यापारिक संगठन लेखक : डा0 एस0सी0सक्सेना (बंसल पब्लिशिंग हाउस, आगरा)
- व्यवसायिक संगठन के सिद्धांत लेखक : यदुकुल भूषण (सुलतान एड चंद — नई दिल्ली ।
- आधुनिक व्यवसायिक संगठन लेखक : जगदीश प्रकाश (प्रयाग पुस्तक सदन) इलाहाबाद
- व्यवसायिक संगठन प्रबन्ध एवं प्रशासन लेखक :— डा0 पद्माकर अस्थाना (साहित्य भवन — आगरा)

B.Com-101

व्यावसायिक संगठन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड – 2

व्यापार एवं वित्त

इकाई – 5 **49**

वित्त संवर्धन की रीतियाँ

इकाई – 6 **63**

पूँजी ढाँचा

इकाई – 7 **81**

दीर्घकालीन वित्त के साधन एवं अभिगोपन

इकाई – 8 **99**

स्कन्ध विनिमय

PLONE-029

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 अरविन्द कुमार — वाणिज्य संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो0 गीतिका — विभागाध्यक्ष, प्रबन्ध अध्ययन विद्याशाखा एम0एन0आई0टी0 प्रयागराज

प्रो0 एच0के0 सिंह — वाणिज्य संकाय बी0एच0यू0 वाराणसी

डॉ0 ओमजी गुप्ता — निदेशक प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा प्रयागराज

लेखक

डॉ0 राजेश कुमार पाण्डेय — एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग राजकीय पी0जी0 कालेज सैदाबाद

सम्पादक

प्रो0 एच0 के0 सिंह — वाणिज्य संकाय बी0एच0यू0 वाराणसी

परिमापक

अनुवाद की स्थिति में
मूल लेखक अनुवाद
मूल सम्पादकभाषा सम्पादक
मूल परिमापकपरिमापक

सहयोगी टीम

संयोजक

डॉ0 देवेश रंजन त्रिपाठी — सहायक आचार्य, व्यापार प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज.

प्रकाशक

सितम्बर, 2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN-978-93-83328-76-5

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन : उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक : कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2020

मुद्रक- के0सी0 प्रिंटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी , मथुरा- 281003.

खण्ड परिचय

व्यापार एवं वित्त

प्रस्तुत खण्ड स्नातक वाणिज्य के अति महत्त्वपूर्ण व प्रारम्भिक पाठ्यक्रम ''व्यापारिक संगठन'' का प्रथम सोपान है। इस खण्ड में व्यापार एवं वित्त से सम्बन्धित विभिन्न अवधारणाओं तथा वित्त प्रदान करने वाले संगठनों के सम्बन्ध में चर्चा पूँजी के प्रकार तथा ढाँचा, अंष तथा इसके प्रकार, ऋण तथा प्रदान की जाने वाली वित्तीय सहायता के विभिन्न स्वरुप, विनिमय विपत्रों पर कटौती, दीर्घकालीन वित्त के साधन एवं अभिगोपन, भारत का औद्योगिक विकास बैंक विदेषी सहयोग का स्वरुप, स्कन्ध विनिमय तथा प्रतिभूति प्रसंविदा (नियमन) अधिनियम 1956 की विस्तार से चर्चा की गयी है। आइये इस खण्ड के सम्मिलित की गयी कुल 04 इकाईयों में समाहित की गयी विषय वस्तु को क्रमषः समझने का प्रयास करें:–

इकाई 05 में वित्त की आवश्यकता, महत्ता, प्रकार, पूँजी ढाँचा, स्वामित्व पूँजी, अंष तथा ऋण पूँजी की अवधारणा, विषेषताएँ, लाभ, दोष एवं विष्लेषण को प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 06 में पूँजी ढाँचा, अनुकूलतम पूँजी ढाँचा, निर्धारक तत्व, पूँजी सम्वर्धन की विधियाँ, अंष एवं इसके प्रकार, ऋण पत्र, वित्तीय संस्थाओं से ऋण, उनके कार्य, वाणिज्यिक बैंको से ऋण तथा निक्षेप, वाणिज्यिक बैकों द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता के विभिन्न स्वरुप, जन निक्षेप, लाभो का प्रतिनिधायन, व्यापारिक साख एवं इस सुविधा की विषेषताओं को समाहित किया गया है।

इकाई 07 में दीर्घकालीन वित्त की प्रकृति एवं महत्ता, साधन, अंष पूँजी, समता अंष पूँजी के लाभ तथा दोष, पूर्वाधिकार अंष तथा लाभ, दोष, सचित कोष, ऋण पूँजी, विषिष्ट वित्तीय संस्थायें, पट्टाधारक कम्पनी, विदेषी संसाधन, प्रतिधारित आय, तथा अभिगोपन एवं भारत में प्रतिभतियों के अभिगोपन जेसी महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं को विष्लेषित कर प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 08 में स्कन्ध विनिमय, व्यवहार पद्धति, विषेष शब्दावली, स्कन्ध विनिमय के प्रतिभूतियों का सूर्चायन, स्कन्ध विनिमय एवं सट्टा, स्कन्ध विनिमय में मूल्यों को प्रभावित करने वाले तत्व, उपयोगिता, दोष के साथ–साथ स्कन्ध विनिमय पर नियंत्रण एवं नियमन तथा प्रतिभूति प्रसंविदा अधिनियम – 1956 पर विस्तार से प्रकाष डाला गया है।

PLONE-029

इकाई–5 वित्त संवर्धन की रीतियाँ

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 वित्त की आवश्यकता एवं महत्ता

5.3 वित्तीय आवश्यकता के प्रकार

5.3.1 स्थायी पूँजी तथा कार्यशील पूँजी

5.3.2 दीर्घकालीन पूँजी तथा अल्पकालीन पूँजी

5.4 पूँजी ढाँचा

5.4.1 अनुकूलतम पूँजी ढाँचा

5.5 स्वामित्व पूँजी

5.5.1 अंश

5.5.2 समता अंश

5.5.3 समता अंशों के लाभ

5.5.4 समता अंशों के दोष

5.5.5 पूर्वाधिकार अंश

5.5.6 पूर्वाधिकार अंशों के लाभ

5.5.7 पूर्वाधिकार अंशों के दोष

5.5.8 संचित कोष

5.6 ऋण पूँजी

5.6.1 ऋण पूँजी की विशेषतायें

5.6.2 ऋण पत्रों के लाभ

5.6.3 ऋण पत्रों के दोष

5.6.4 ऋण पूँजी का विश्लेषण

5.7 सारांश

5.8 उपयोगी शब्दावली

5.9 महत्वपूर्ण प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप इस योग्य हो सकेंगे किः–

- किसी भी व्यावसायिक/औद्योगिक संगठन में वित्त की क्या उपयोगिता होती है, जान सकेंगे,
- संगठन के सुचारू संचालन हेतु वित्त रूपी तत्वो की उपयोगिता का विश्लेषण का सकेंगे,
- संगठन में किन–किन रूपों में प्राप्त पूँजी के माध्यम से अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है, विश्लेषण कर सकेंगे,
- किसी व्यावसायिक संगठन के लिये अनुकूलतम पूँजी संरचना की प्रक्रिया को विश्लेषण कर सकेगें तथा
- पूँजी ढॉचे का निर्धारण आदि के सम्बन्ध में व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।

5.1 प्रस्तावना

वित्त व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्रियाकलाप का आधार स्तम्भ है। इसके अभाव में न तो हम किसी आर्थिक क्रिया की कल्पना कर सकते हैं और न ही व्यावहारिक तौर पर अपने अस्तित्व को कायम रख सकते हैं। वर्तमान परिपेक्ष्य में 51वीं की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों के मध्य विकास की अवधारणा को अंगीकृत एवं वर्गीकृत करने में अग्रणी रही है। वित्तीय संसाधनों की उपलब्धता एवं अनुपलब्धता सम्पूर्ण विश्व को विकसित, विकासशील एवं अविकसित संदर्भ प्रदान करती है, अर्थात वित्त व्यावसायिक जीवन की वह धुरी है जिसके चारों और सम्पूर्ण अर्थतन्त्र चक्कर लगाता है।

5.2 वित्त की आवश्यकता एवं महत्ता

वित्त व्यावसायिक/औद्योगिक क्रियाकलापों का आधार स्तम्भ है। इसके अभाव में हम किसी भी प्रकार के आर्थिक क्रियाकलाप की कल्पना नहीं कर सकते। उत्पादन के समस्त तत्वों को हम (6 M's) Men (श्रम) Machine (मशीन) Material (सामग्री), Money (पूँजी), Market (बाजार), एवं Management (प्रबन्ध), के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। इन समस्त तत्वों का संयोजन (Combination) ही उत्पादकता का आधार है। इनमें से एक भी तत्व के अभाव में उत्पादकता बाधित हो सकती है। इन समस्त तत्वों के एकत्रीकरण का सार्वभौमिक आधार वित्त/पूंजी है। पूंजी के अभाव में उत्पादन के तत्व नहीं जुटाये जा सकते।

वस्तुतः जब हम किसी भी प्रकार का व्यवसाय करते हैं अथवा उद्योग की सीापना करते हैं तो हमें सर्वप्रथम वित्त (finance), पूँजी (capital), धन (money) की आवष्यकता पड़ती है। जिसे हम आर्थिक संदर्भो में पूँजी (Capital) कहते हैं।

जिस प्रकार किसी मशीन को संचालित करने हेतु ऊर्जा के रूप में तेल, गैस, या बिजली की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार किसी भी आर्थिक संगठन के संचालन हेतु वित्त की आवष्यकता होती है। संगठन में कितने धन की आवष्यकता

होगी वह धन किन संसाधनों से प्राप्त होगा तथा प्राप्त धन का उपयोग किस रूप में होगा इत्यादि प्रश्नों के समुचित उत्तर किसी भी व्यावसायिक संगठन की सफलता के मापक होते हैं।

किसी भी व्यवसाय अथवा उद्योग में सफलता एवं असफलता के निर्धारण में वित्त की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। संगठन की वित्तीयन (financial) व्यवस्था सुदृढ़ होने पर संगठन की सफलता एवं कमजोर होने पर असफलता का पूर्वानुमान किया जा सकता है। वित्तीय संगठन में वित्त की वही भूमिका होती है जो मानव शरीर में रक्त की होती है। जिस प्रकार मानव शरीर में स्थित रक्तवाहिनी नलिकाओं में अवरोध होने पर जीवन संकट ग्रस्त हो जाता है उसी प्रकार वित्तीय अवरोध संगठन की प्रगति एवं अस्तित्व को बाधित करता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 52वीं संगठन के लिये रोग एवं उपचार दोनों है। वस्तुतः वित्त अथवा पूँजी के रूप में संग्रहीत (Collect) कोशों का उत्पादकता हेतु रूपान्तरण वित्त का अंतिम लक्ष्य होता है।

5.3 वित्तीय आवश्यकता के प्रकार

किसी भी प्रकार के व्यावसायिक संगठन के संचालन हेतु पूँजी सर्वप्रमुख तत्व हैं, पूँजी के अभाव में किसी भी उद्यम के प्रारम्भ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अब प्रष्न यह उठता है कि उद्यम/व्यवसाय के संचालन हेतु किन–किन रूपों में पूँजी की आवष्यकता होगी? प्रायः संगठन में आवश्यकता की दृष्टि से दो प्रकार की पूँजी आवष्यक होती है। (1) अल्प कालीन पूँजी (2) दीर्घकालीन पूँजी।

अल्पकालीन पूँजी प्रायः 1 वर्ष या उससे कम अवधि के लिये संगठन में विनियोजित की जाती है। सामान्य तौर पर यह पूँजी एक निष्चित अवधि के अन्दर तरलता में परिवर्तित होती रहती है इसीलिये इस पूँजी को कार्यशील पूँजी (working capital) की संज्ञा भी दी जाती है। इस पूँजी से व्यवसाय में चल सम्पत्तियों (current) में जेद्ध का सृजन होता है। व्यावसायिक इकाई के सन्दर्भ में यह पूँजी मात्र खरीदने व अन्य दिन प्रतिदिन होने वाले व्ययों की पूर्ति हेतु प्रयोग की जाती है।

इसके विपरीत दीर्घकालीन पूँजी (Long term capital) की अवधि एक वर्ष से अधिक की होती है। इस प्रकार की पूँजी का प्रयोग स्थायी सम्पत्तियों (Fixed Assets) जैसे भूमि, भवन, मशीन इत्यादि क्रय हेतु किया जाता है।

5.3.1 स्थाई पूंजी तथा कार्यशील पूँजी

स्थायी (fixed capital) से आशय संगठन में प्रयोज्य उस पूँजी से है जिसका विनियोग दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया जाता है। इस पूँजी की प्रवृत्ति चलायमान न होने के कारण इसे अचल पूँजी (fixed capital) के नाम से भी जाना जाता है। संगठन में स्थायी परिसम्पत्तियो जैसे भूमि, भवन, फर्नीचर, के सृजन हेतु इस पूॅजी का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थायी पूँजी का प्रयोग प्रारम्भिक विकास व्यय, प्रवर्तन व्यय, विस्तार एवं सुधार व्यय हेतु भी किया जाता है। दूसरे शब्दों में इस पूॅजी का प्रयोग उन सम्पत्तियों को सृजित करने हेतु किया जाता है जिनका उद्‌देश्य संगठन में दीर्घकाल तक लाभ अर्जित करना होता है। इस प्रकार की सम्पत्तियों का क्रय संगठन में प्रयोग हेतु किया जाता है। इन सम्पत्तियों में तरलता की मात्रा कम होने एवं दीर्घकालीन उपयोग होने के कारण इन्हें स्थायी सम्पत्ति कहा जाता

PLONE-029

है। इन सम्पत्तियों में तरलता की प्राप्ति केवल इन्हें बेचकर ही प्राप्त की जा सकती है। यह दशा व्यवसाय के समापन की दशा होगी।

संगठन में प्रयोज्य कार्यशील पूँजी (working capital) से आशय उस पूँजी से है, जिसका विनियोजन प्रायः एक वर्ष या इससे कम अवधि के लिये किया गया है। यह पूँजी अत्यन्त तरल होती है। इसका स्वरूप निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। कार्यशील पूँजी का एक परिचालन चक्र (Operating cycle) होता है। जिसका प्रारम्भ रोकड़ निर्गम (cash out flow) से प्रारम्भ होकर क्रमशः कच्चे माल (Raw material) अर्द्ध निर्मित माल (work-in progress) निर्मित माल (finished goods), नकद विक्रय (cash sales), उधार विक्रय (credit sales), देनदार (Debtors) एवं प्राप्य बिलों (Bills receivables) के रूप में परिवर्तित होकर रोकड़ आगम (Cash-Inflows) के रूप में समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार एक परिचालन चक्र की समाप्ति के उपरान्त दूसरा परिचालन चक्र प्रारम्भ हो जाता है। यह प्रक्रिया संगठन के सम्पूर्ण जीवनकाल तक चलती रहती है। सैद्धान्तिक तौर पर चालू दायित्वों पर चालू सम्पत्तियों के आधिक्य को चालू पूँजी कहते हैं।

चालू पूँजी = चालू सम्पत्ति – चालू दायित्व

(working capital = current assets – current liabilities)

5.3.2 दीर्घकालीन पूँजी तथा अल्पकालीन पूँजी

दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकता प्रायः संगठन की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु होती है। इस प्रकार की पूँजी का विनियोग संगठन के अन्तर्गत आधारभूत संरचना के निर्माण हेतु किया जाता है। प्रायः यह पूँजी 5 वर्ष से अधिक अवधि के लिये विनियोजित की जाती है। किसी भी व्यावसायिक संगठन में दीर्घकालीन पूँजी का एकत्रीकरण अंशो, ऋण पत्रों, संचित कोषों, लाभ के पुनर्विनियोजन इत्यादि माध्यमों से किया जाता है। इस प्रकार की पूँजी संगठन में भूमि, भवन, फर्नीचर उपकरण, तकनीक आदि के क्रय हेतु उपयोग में लायी जाती है। दीर्घकालीन पूँजी का प्रयोग प्रायः संगठन में एक बार किया जाता है। जिसका लाभ संगठन को उसके सम्पूर्ण जीवन काल तक प्राप्त होता रहता है। दीर्घकालीन पूँजी स्थायी प्रकृति की होती है। दीर्घकालीन पूँजी के प्रयोग द्वारा सृजित सम्पत्ति में तरलता की मात्रा कम होने तथा दीर्घकालीन उपयोग होने के कारण इन्हें स्थायी सम्पत्ति (fixed assets) भी कहा जाता है।

अल्पकालीन पूँजी से आशय संगठन में प्रयुक्त उस पूँजी से है, जिसका प्रयोग संगठन की नैत्यक (Routine) अथवा दिन प्रतिदिन एवं अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया जाता है। यह पूँजी प्रायः व्यवसाय में एक वर्ष या इससे कम अवधि हेतु प्रयोग में लायी जाती है। इस प्रकार की पूँजी का प्रयोग कच्चे माल, वेतन, मजदूरी, किराया, कर इत्यादि भुगतान हेतु किया जाता है। इस प्रकार की पूँजी का एकत्रीकरण व्यापारिक साख, बैंक अधि विकर्श (Bank Over Draft), देय विपत्र (Bills Payable), नकद, साख (Cash Credit) तथा विभिन्न निक्षेपों (Deposits) के माध्यम से प्राप्त की जाती है। संगठन में विनियोजित अल्पकालीन पूँजी को कार्यशील पूँजी (Working Capital) के नाम से भी जाना जाता है। चूँकि इसका प्रयोग एक वित्तीय वर्ष के दौरान होने वाले व्ययों की पूर्ति हेतु किया जाता है तथा यह पूँजी उत्पादन कार्य से प्रत्यक्षतः जुड़ी होती है साथ ही एक परिचालन चक्र (Operating Cycle) के अन्दर पुनः तरलता (Liquidity) में परिवर्तित हो जाती है। इस पूँजी के प्रयोग विधि को हम निम्न वृत्त के माध्यम से भली भॉति समझ सकते हैं:–

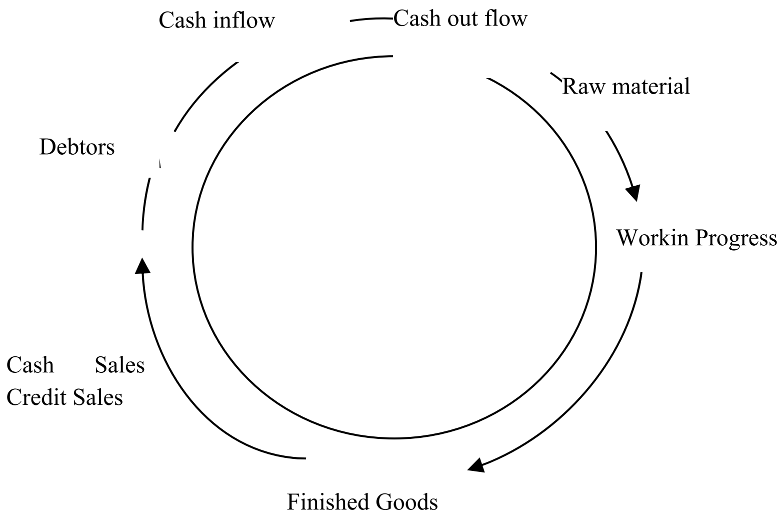

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि किसी भी व्यावसायिक संगठन अथवा निर्माणी उद्योग में दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन दोनों प्रकार की पूँजी आवश्यक होती है। उद्यम के आरम्भ में आधारभूत संरचना निर्मित करने हेतु अधिकाधिक मात्रा में दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकता होती है। जैसे उद्यम की स्थापना हेतु भूमि का क्रय, कारखाना निर्माण, मशीनरी एवं प्लाण्ट की खरीददारी, फर्नीचर तथा नवीन तकनीक इत्यादि पर व्यय करना आवश्यक होता है। तत्पश्चात उत्पादन हेतु कच्चा माल, श्रमिक, ईधन, शक्ति, मजदूरी, वेतन, किराया इत्यादि व्ययों की पूर्ति हेतु अल्पकालीन पूँजी या कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। जहाँ दीर्घकालीन पूँजी का विनियोग संगठन में एक बार किया जाता है वहीं अल्पकालीन पूँजी एक वर्ष के अन्दर तरल (Liquidity) अथवा नकदी में रूपान्तरित होकर पुनः विनियोजित होती रहती है। अतः संगठन के कुशल संचालन हेतु दोनों प्रकार की पूँजी का प्रयोग संतुलित (Balanced) मात्रा में होना चाहिये।

5.4 पूँजी ढाँचा

किसी भी आर्थिक संगठन के सृजन एवं संचालन हेतु कोष (Funds) की महती आवश्यकता होती है। संगठन की स्थापना से लेकर समापन तक समस्त आर्थिक क्रियाकलाप वित्त पर ही निर्भर होते हैं। संगठन में कोशों की अपर्याप्तता अथवा कोषों के उपयोग में कुप्रबन्ध किसी भी संगठन के लिये घातक होते हैं। अतः संगठन में विनियोजित पूँजी की मात्रा का सही पूर्वानुमान लगाकर अनुकूलतम पूँजी संरचना का निर्धारण अत्यन्त आवश्यक होता है।

पूँजी ढाँचे अथवा पूँजी संरचना का आशय संगठन द्वारा विभिन्न प्रतिभूतियों एवं ऋणों के माध्यम से पूँजीकरण की राशि के निश्चयन से है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों एवं ऋणों के मध्य अनुपात का निर्धारण किया जाता है। पूँजी ढांचे की संरचना के अन्तर्गत पूँजी प्राप्ति के विभिन्न साधनों का एक ऐसा मिश्रण तैयार किया जाता है, जिससे संगठन की पूँजी लागत न्यूनतम तथा लाभोपार्जन अधिकतम हो।

पूँजी का संकलन प्रायः दो रूपों में किया जाता है। 1. स्थायी लागत वाली पूँजी (fixed cost capital) 2. परिवर्तनशील लागत वाली पूँजी (variable cost capital)

(i) **स्थिर लागत वाली पूँजी के अन्तर्गत**– पूर्वाधिकार अंश, ऋण पत्र दीर्घकालीन ऋण सम्मिलित किये जाते हैं। संगठन में लाभ की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर स्थिर लागत वाली पूँजी लाभ प्रद होती है। किन्तु संगठन में लाभ की मात्रा कम होने पर स्थिर लागत वाली पूँजी भार स्वरूप हो जाती है।

(ii) **परिवर्तनशील लागत वाली पूँजी**– परिवर्तनशील लागत वाली पूँजी का अधिक मात्रा में प्रयोग करने पर संगठन में स्वामियों की संख्या में वृद्धि होती है। इस प्रकार की पूँजी के अन्तर्गत समता अंश (Equity Shares) प्रतिधारित आय (Retained Earnings) को सम्मिलित किया जाता है। चूँकि समता अंशधारक संगठन के स्वामी होते हैं। अतः संगठन में लाभ की मात्रा में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि पर लाभांश (Dividend) के रूप में अधिक धनराशि का भुगतान समता अंशधारकों को करना होता है। फलस्वरूप संगठन की लाभदेयकता में कमी आती है। किन्तु संगठन में लाभ की मात्रा में कमी होने अथवा हानि होने की दशा में अस्थिर पूँजी लागत का भुगतान करने की वैधानिक बाध्यता नहीं होती। अर्थात समता अंश धारकों के लिये लाभांश की घोषणा करना आवश्यक नहीं होता।

अतः इस तथ्य का निश्चयन आवश्यक होता है कि पूँजी संरचना में विशिष्ट प्रकार की प्रतिभूति का भाग अधिक हो अथवा ऋण भाग अधिक हो।

उदाहरणार्थ, यदि कोई कम्पनी अपनी पूँजी संरचना में केवल समता अंशों को ही स्थान देती है तथा ऋण पूँजी का प्रयोग नहीं करती तो ऐसी कम्पनी अपने अंशधारकों अथवा स्वामियों के हितों को दीर्घकाल तक संरक्षित नहीं कर सकती। इसके विपरीत यदि कोई कम्पनी अपनी पूँजी संरचना में ऋण पूँजी को अधिक तथा समता पूँजी को कम महत्व देती है तो कम्पनी की अर्जन क्षमता में उतार चढ़ाव होने पर यह माना जायेगा कि कम्पनी जानबूझकर अधिक जोखिम प्रभार ग्रहण कर रही है। इस प्रकार की पूँजी संरचना उच्च दन्तिकरण (High gearing) कहलाती है।

इस प्रकार की पूँजी संरचना के अन्तर्गत कम्पनी के उन्नति काल में समता अंश धारकों का लाभ अत्यधिक बढ़ जाता है किन्तु कम्पनी के अवनति काल में समता अंशधारकों की आय कम होने के साथ ही कम्पनी में जोखिम की मात्रा बढ़ जाती है। इस अवधि में कम्पनी द्वारा ऋण पत्रों एवं पूर्वाधिकार अंशों पर देय स्थायी प्रभार भार स्वरूप हो जाता है।

वेस्टन एवं ब्राइम के अनुसार, ''पूँजी संरचना से अभिप्राय संगठन की स्वामित्व पूँजी एवं ऋण पूँजी से है जो कि दीर्घकालीन ऋणों के रूप में प्रस्तुत होता है। पूँजी ढाँचे के अन्तर्गत उन प्रतिभूतियों को सम्मिलित किया जाता है जो पूँजी करण का सृजन करती है।''

गेस्टनवर्ग के अनुसार, ''किसी कम्पनी के पूँजी ढाँचे से अभिप्राय उसके पूँजीकरण के गठन अथवा संरचना से होता है। इसके अन्तर्गत समस्त दीर्घकालीन पूँजी संसाधनों जैसे ऋण, बाण्ड, अंश एवं संचय को सम्मिलित किया जाता है।''

वस्तुतः पूँजी संरचना से आशय पूँजी की प्रकृति से है जिसके अन्तर्गत स्वामित्व पूँजी जैसे समता अंश एवं ऋण पूँजी की मात्रा का निर्धारण किया जाता है। प्रायः इसके तीन विकल्प हो सकते हैं (i) स्वामित्व पूँजी एवं ऋण पूँजी की मात्रा समान रखी

जाय (ii) स्वामित्व पूँजी की मात्रा अधिक एवं ऋण पूँजी की मात्रा कम रखी जाय (iii) स्वामित्व पूँजी की मात्रा कम एवं ऋण पूँजी की मात्रा अधिक रखा जाय।

वस्तुतः किसी भी संगठन में पूँजी ढाँचे का निर्धारण इस प्रकार किया जाना चाहिये कि पूँजी की लागत न्यूनतम हो, अर्थात अनुकूलतम पूँजी ढाँचा निर्धारित किया जाना चाहिये।

5.4.1 अनुकूलतम पूँजी ढाँचा

वित्तीय नियोजन (financial planning) के अन्तर्गत सर्वप्रमुख समस्या पूँजी ढाँचे के निर्धारण की होती है। किसी भी संगठन के समक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न होता है कि पूँजी ढाँचे अथवा पूँजी मिश्रण का स्वरूप क्या हो? वस्तुतः व्यवसाय का संचालन प्रायः स्वामियों के हितों में अभिवृद्धि के लिये किया जाता है। अतः पूँजी ढॉचे का निर्माण इस प्रकार होना चाहिये कि कम्पनी के अंश धारकों/स्वामियों को अधिकतम आय प्राप्त हो सके तथा पूँजी के विभिन्न साधनों की औसत लागत न्यूनतम हो। संगठन के लिये यही स्थिति अनुकूलतम (Optimum) हो सकती है।

अनुकूलतम पूँजी ढाँचे से अभिप्राय ऋण पूँजी तथा समता पूँजी के उस संयोजन (Combination) से है। जो संगठन में अधिकतम लाभ (Profit maxamisation) के साथ ही संगठन की संरचना में आधारभूत परिवर्तन की वाहक न हो। अनुकूलतम पूँजी ढाँचा कम्पनी के स्वामियों का हित संवर्धित एवं संरक्षित रखते हुये अनुकूलतम आय का सुनिश्चियन करता है।

5.5 स्वामित्व पूँजी

स्वामित्व पूँजी से आशय उस पूँजी से है, जिसके माध्यम से विनियोजकों को संगठन में स्वामित्व (Ownership) प्राप्त हो जाता है। इस पूँजी के अन्तर्गत अंशों के माध्यम से प्राप्त पूँजी (समता अंश संचित कोष एवं आधिक्य) को सम्मिलित किया जाता है। पूँजी विनियोजकों का संगठन में स्वामित्व होने के कारण इस प्रकार की पूँजी पर कम्पनियों द्वारा लाभॉश का भुगतान किया जाता है। इस प्रकार की पूँजी में विनियोग (Investment) करने पर प्रायः जोखिम का तत्व अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। स्वामित्व पूँजी का प्रबन्धन व्यवसाय के स्वामियों द्वारा किया जाता है।

5.5.1 अंश

रू अंश से आशय किसी कम्पनी की कुल अंश पूँजी के एक भाग से है। कम्पनी अधिनियम की धारा 2(46) के अनुसार, ''अंश से आशय किसी कम्पनी के अंश पूँजी के भाग से है जिसमें स्कन्ध (Stock) को भी सम्मिलित किया जाता है जब तक कि अंश एवं स्कन्ध के मध्य स्पष्ट अन्तर न किया जाय।''

न्यायाधीश लिण्डले के अनुसार, ''पूँजी का आनुपातिक भाग जिसका प्रत्येक सदस्य अधिकारी होता है, उसका अंश कहलाता है।'' उदाहरणस्वरूप यदि किसी कम्पनी की समता अंश पूँजी रू0 500000.00 है जो कि रू0 10 प्रति अंश के 50,000 अंशों में विभक्त है। अंशों की एक इकाई जिसका मूल्य रू0 10 है वहीं इकाई अंश कहलायेगी। किसी भी व्यक्ति द्वारा अंशों की खरीदी हुई मात्रा एवं उसके द्वारा चुकाये गये मूल्य तक उस व्यक्ति का स्वामित्व होता है। अंश धारक अपने द्वारा लिये गये अंशों के प्रमाण स्वरूप अंश प्रमाण पत्र (Share certificate) प्राप्त करता है।

PLONE-029

5.5.2 समता अंश

समता अथवा सामान्य अंश सार्वजनिक कम्पनी (Public company) के पूँजी ढाँचे का आधार होते हैं। इन अंशों के धारक कम्पनी के स्वामी (Owner) बन जाते हैं। कम्पनी की सम्पत्ति एवं लाभों पर इनका असीमित हित होता है कम्पनी की देनदारियाँ चुकाने के बाद बचे हुये लाभ पर इन्हीं का अधिकार होता है। समता अंश धारकों को कम्पनी की साधारण सभा में भाग लेने एवं मतदान करने का अधिकार होता है। समता अंश धारक ही संचालन मण्डल का चुनाव करते हैं। इसी संचालक मण्डल द्वारा अंश धारकों की ओर से कम्पनी का प्रबन्ध किया जाता है।

5.5.3 समता अंशों के लाभ

(i) lerk अंशों के माध्यम से प्राप्त पूँजी स्थायी प्रकृति की होती है कम्पनी के लिये इसे लौटाने की बाध्यता नहीं होती।

(ii) समता अंश धारकों को लाभांश के भुगतान की अनिवार्यता नहीं होती और न ही लाभांश की दर निश्चित होती है।

(iii) लाभांश घोषणा की अनिवार्यता न होने के कारण अपनी आय को विकास एवं उत्पादकता वृद्धि हेतु प्रतिधारित (Retained) कर सकती है।

(iv) समता अंश पूँजी के माध्यम से संग्रहीत पूँजी की कोई स्थायी लागत नहीं होती अर्थात इन पर कम्पनी को किसी भी प्रकार के प्रभार वहन नहीं करने पड़ते।

(v) कम्पनी में अधिक लाभ होने की दशा में अंशधारकों को अधिक लाभांश मिलने की सम्भावना रहती है।

(vi) समता अंशधारी कम्पनी के स्वामी होते हैं इन्हें मतदान का अधिकार होता है अतः कम्पनी के प्रबन्ध में इनकी सहभागिता हो सकती है।

5.5.4 समता अंशों के दोष

(i) समता अंश हस्तान्तरणीय होने के कारण इनका क्रय विक्रय आसानी से किया जा सकता है। अतः कभी–कभी कुछ व्यक्तियों द्वारा अधिक अंश खरीद कर कम्पनी के नियन्त्रण एवं प्रबन्ध को अपने हाथ में लेने का प्रयास किया जाता है।

(ii) समता अंशों के मूल्यों में अप्रत्याशित कमी होने के कारण कभी कभी अंशधारकों को अत्यधिक हानि का सामना करना पड़ता है।

(iii) सुनिश्चित आय प्राप्त करने अथवा कम जोखिम सहन करने वाले व्यक्तियों के लिये समता अंश अनुकूल नहीं होते।

(iv) अति पूँजीकरण (Over capitalisation) की दशा में समता अंशों से प्राप्त पूँजी की मात्रा को कम करना कठिन होता है, जबकि शोध्य पूर्वाधिकार अंश एवं ऋण पत्र परिपक्वता (maturity) अवधि के पश्चात वापस लिये जा सकते हैं।

(v) मन्दी काल में इन अंशों का बाजार मूल्य सम मूल्य से भी कम हो जाता है प्रायः कम्पनियों द्वारा समता अंशों का निर्गमन प्रीमियम पर किया जाता है,

अर्थात रू0 10 मूल्य के अंशों का निर्गमन यदि 50 रूपये प्रीमियम पर किया जाता है तो क्रेता को रू0 60 प्रति अंश की दर से भुगतान करना पड़ता है, ऐसी दशा में इन अंशों के बाजार मूल्य में कमी होने पर अंश धारक की पूँजी भी डूब जाने की सम्भावना रहती है।

5.5.5 पूर्वाधिकार अंश

पूर्वाधिकार अंश वे होते हैं जिनके धारकों को लाभांश के वितरण एवं पूँजी की वापसी में कतिपय अधिमान्यतायें प्राप्त होती हैं, अर्थात इन अंश धारकों को लाभांश का वितरण ऋण दाताओं के ब्याज भुगतान के पश्चात किया जाता है, इन अंशों पर लाभांश की दर निश्चित होती है, पूर्वाधिकार अंश धारक जोखिम वहनीयता की दृष्टि समता अंश धारकों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित होते हैं। कम्पनी के समापन की दशा में ऋण पत्रों की पूँजी वापसी के पश्चात पूर्वाधिकार अंश धारकों की पूँजी वापस की जाती है। इन्हें कम्पनी के प्रत्येक मामलों में समता अंश धारकों की भाँति मतदान का अधिकार नहीं होता। अपितु कतिपय विशिष्ट मामलों में मतदान का अधिकार होता है।

5.5.6 पूर्वाधिकार अंशों के लाभ

(i) पूर्वाधिकार अंशों के माध्यम से पूँजी प्राप्त करने हेतु वृहद बाजार में मिल जाता है। क्योंकि जोखिम सहन करनेवाले विनियोजक इन अंशों में धन लगाना बेहतर समझते हैं।

(ii) सीमित मतदान अधिकार होने के कारण कम्पनी के नियंत्रण में इनकी दखल नहीं होती।

(iii) शोध्य पूर्वाधिकार अंशों के भुगतान (Redemption) की व्यवस्था करके कम्पनी पूँजीकरण की मात्रा को कम कर सकती है।

(iv) पूर्वाधिकार अंशों पर लाभांश की दर प्रायः अधिक नहीं होती अतः यह पूँजी अपेक्षाकृत कम लागत वाली होती है।

(v) पूर्वाधिकार अंश निश्चित लाभ के साधन होते हैं इनमें जोखिम की मात्रा नहीं होती।

5.5.7 पूर्वाधिकार अंशों के दोष

(i) पूर्वाधिकार अंशों पर एक निश्चित दर से लाभांश देने के कारण कम्पनियों को स्थिर दायित्व (fixed liability) वहन करना पड़ता है।

(ii) कम्पनी को जिन वर्षों में लाभ कम होता है उन वर्षों में पूर्वाधिकार अंशधारकों को एक निश्चित दर से भुगतान करने के कारण समता अंशधारकों को कम लाभांश या लाभांश नहीं प्राप्त हो पाता। परिणामस्वरूप समता अंशधारक अपने अंशों को बेचना प्रारम्भ कर देते हैं।

(iii) पूर्वाधिकार अंश धारक कम्पनी के स्वामी नहीं होते इन्हें मताधिकार का अधिकार नहीं होता। ये केवल अपने हितों की सुरक्षा हेतु सीमित पैमाने पर मतदान कर सकते हैं।

5.5.8 संचित कोष

रू प्रायः कम्पनियां अपने द्वारा अर्जित समस्त लोगों में से सम्पूर्ण भाग वितरित न करके उसका कुछ भाग कम्पनी के विकास हेतु संचय कर लेती हैं। इसका प्रयोग संगठन की भावी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया जाता है। इस रोकी हुई आय को प्रतिधारित आय (Retained earning) कहा जाता है। वस्तुतः इस आय की कोई लागत नहीं होती, व्यावहारिक तौर पर यह आय कम्पनी को सहजतापूर्वक प्राप्त हो जाती है। धीरे–धीरे कई वर्षों में प्रतिधारित आय संचित कोष (Reserve funds) का रूप ग्रहण कर लेती है। ये पूँजीगत कोष (Capital Reserve) स्वामित्व पूँजी (Owned capital) का ही भाग होते हैं।

5.6 ऋण पूँजी

ऋण पूँजी संगठन की वह पूँजी होती है, जो संगठन के अन्तर्गत ऋणों के रूप में आती है। ऋण पूँजी की लागत वह ब्याज दर होती है जो कि संगठन द्वारा ऋण दाताओं को देय होती है, व्यावहारिक तौर पर यह दर कम्पनी द्वारा ऋण पूँजी के निर्गमन काल में तय कर दी जाती है। कम्पनी द्वारा प्रायः ऋण पूँजी का संकलन ऋण पत्रों के निर्गमन द्वारा किया जाता है।

ऋणपत्रों (Debentures) से आशय कम्पनी द्वारा लिये गये ऋणों के स्वीकृति पत्र से है। इनमें ब्याज दर एवं परिपक्वता अवधि (maturity period) का उल्लेख भी रहता है। ऋण पत्रों का निर्गमन कम्पनियों द्वारा अपनी मुहर से किया जाता है।

ऋण पत्र शब्द लैटिन भाषा के (Debere) शब्द से बना है जिसका अर्थ ऋणदायी (to owe) होता है।

5.6.1 ऋण पूँजी की विशेषतायें

(i) ऋण पूँजी दीर्घकालीन प्रकृति की होती है अतः कम्पनियों को इसके भुगतान की शीघ्रता नहीं होती।

(ii) ऋण पत्र धारक कम्पनी के स्वामी न होकर अपितु ऋण दाता होते हैं। इन्हें कम्पनी की वार्षिक सभा (Annual General meeting) में भाग लेने तथा मतदान करने का अधिकार नहीं होता।

(iii) कम्पनी के समापन पर ऋण पत्र धारकों को पूँजी वापसी का पूर्वाधिकार होता है। इनकी पूँजी अंश धारकों की पूँजी वापसी से पूर्व करना पड़ता है।

5.6.2 ऋण पत्रों के लाभ

(i) ऋण पत्र धारकों का कम्पनी के प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं होता क्योंकि ये कम्पनी के ऋणदाता होते हैं न कि अंशधारक।

(ii) पूर्व निर्धारित ब्याज दरों के कारण अपेक्षाकृत कम लागत पर पूँजी प्राप्त करने का उत्तम साधन है।

(iii) कम्पनी द्वारा आवश्यकतानुसार ऋण पत्रों का शोधन करके अथवा नवीन ऋण पत्रों का निर्गमन करके पूँजी ढाँचे को लोचीशील रखा जा सकता है।

(iv) मन्दी काल में पूँजी संग्रहण हेतु ऋण पत्र बढ़िया साधन होते हैं। चूँकि इस समय अंशों के निर्गमन से पर्याप्त पूँजी एकत्र करना कठिन होता है।

5.6.3 ऋण पत्रों के दोष

(i) ऋण पत्रों पर देय ब्याज का प्रभार स्थायी प्रकृति के होते हैं कम्पनी को हानि होने की दशा में भी ब्याज का भुगतान अनिवार्य रूप से करना पड़ता है।

(ii) ऋण पत्रों के निर्गमन पर कम्पनियों को भारी निर्गमन व्यय करने होते हैं।

(iii) कम्पनी की आर्थिक दशा सुदृढ़ होने पर अतिरिक्त पूँजी की व्यवस्था ऋण पत्रों के माध्यम से की जा सकती है। आर्थिक दशा कमजोर होने पर ऋण पत्र भार स्वरूप होते हैं।

(iv) ब्याज का भुगतान न कर पाने की दशा में ऋण पत्र धारक न्यायालय का सहारा लेकर कम्पनी के समापन हेतु आदेश करा सकते हैं।

5.6.4 ऋण पूँजी का विश्लेषण

वस्तुतः स्वामित्व पूँजी एवं ऋण पूँजी के रूप में प्राप्त पूँजी का सम्यक अनुपात पूँजी ढाँचे की संरचना हेतु अत्यन्त आवश्यक होता है। पर्याप्त उपार्जन क्षमता (Earning Capacity) वाली कम्पनियाँ ऋण पूँजी के माध्यम से संकलित पूँजी का प्रयोग करके अपने लाभों में अभिवृद्धि कर सकती है। चूँकि ऋण पूँजी की लागत स्थिर एवं कम होती है। अतः कम्पनी द्वारा अर्जित अतिरिक्त लाभ भी पूँजी (owned capital) अथवा जोखिम पूँजी (Risk Capital) पर अतिरिक्त लाभांश के रूप में दिया जा सकता है। ऋण पूँजी पर देय ब्याज निगम कर की राशि में कमी कर देता है, इस ब्याज की राशि को लाभ में से घटाने के पश्चात अवशेष राशि पर निगम कर देय होता है।

5.7 सारांश

वित्त समस्त आर्थिक क्रियाकलापों का आधार स्तम्भ (Foundation Stone) है। उत्पादन के समस्त तत्वों (Factors of Production (6 m's) Men, Machine, Material, Money, Market, Management) की व्यवस्था वित्त/पूँजी के माध्यम से ही की जा सकती है। किसी भी संगठन में पूँजी की आवश्यकता दो रूपों मे होती है। (1) अल्पकालीन पूँजी (2) दीर्घकालीन पूँजी। अल्पकालीन पूँजी प्रायः एक वर्ष या इसके कम अवधि के लिये संगठन में विनियोजित की जाती है। इस पूँजी को कार्यशील पूँजी (working capital) भी कहा जाता है। इस पूँजी के माध्यम से उद्यम में चल सम्पत्तियों (current assets) का सृजन होता है। इसके विपरीत दीर्घकालीन पूँजी एक वर्ष से अधिक अवधि के लिये विनियोजित की जाती है, इसका प्रयोग स्थायी सम्पत्तियों (fixed assets) के सृजन हेतु किया जाता है। किसी भी संगठन में पूँजी प्रायः दो रूपों में आती है (1) अंशों का निर्गमन करके (2) ऋणों के माध्यम से

अंशों के निर्गमन द्वारा प्राप्त पूँजी पर लाभांश का भुगतान किया जाता है किन्तु कम्पनियों को लाभांश (Dividend) भुगतान की अनिवार्यता नहीं होती। दूसरी ओर ऋण पत्रों के माध्यम से प्राप्त पूँजी पर एक निश्चित दर से ब्याज का भुगतान करना अनिवार्य होता है। अतः पूँजी ढाँचे की संरचना में यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि स्वामि पूँजी (owned capital) एवं ऋण पूँजी (Debt capital) का अनुकूलतम

PLONE-029

अनुपात (optimum ratio) बनाया जाय जिससे पूँजी की न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ अर्जित किया जा सके।

लागत की दृष्टि से पूँजी को दो रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है। (1) स्थिर लागत वाली पूँजी (fixed cost capital) (2) परिवर्तनशील लागतवाली पूँजी (variable cost capital) स्थिर लागत वाली पूँजी के अन्तर्गत पूर्वाधिकार अंश, एवं ऋण पत्र इत्यादि सम्मिलित किये जाते हैं जबकि परिवर्तनशील लागत वाली पूँजी के अन्तर्गत समता अंश, व प्रतिधारित आय को सम्मिलित किया जाता है। चूँकि समता अंश धारक कम्पनी के स्वामी होते हैं अतः संगठन में लाभ की मात्रा बढ़ने पर समता अंश धारकों को अधिक लाभांश का भुगतान करना पड़ता है। स्वामित्व के आधार पर प्राप्त पूँजी स्वामित्व पूँजी कहलाती है, समता अंशो, संचित कोष, एवं आधिक्य के रूप में प्राप्त पूँजी स्वामि पूँजी (owned capital) की श्रेणी में आती है। दूसरी ओर कम्पनी ऋण पत्रों के निर्गमन करके भी पूँजी एकत्रित कर सकती है। इन पर एक निश्चित दर से ब्याज का भुगतान करना होता है। ऋण पूँजी संगठन पर स्थायी प्रभार होती है, कम्पनी में हानि होने पर भी ऋण पूँजी पर देय ब्याज का भुगतान करना अनिवार्य होता है जबकि स्वामि पूँजी पर लाभांश का भुगतान अनिवार्य नहीं होता।

अतः संगठन के वित्तीयन हेतु स्वामित्व पूँजी एवं ऋण पूँजी के मध्य सन्तुलन बनाये रखना आवश्यक होता है।

5.8 उपयोगी शब्दावली

- **वित्त**– वित्त से अभिप्राय धन के उस भाग से है, जिसका प्रयोग व्यवसाय एवं उद्योग हेतु पूँजी के रुप में किया जाता है।
- **कार्यशील पूँजी**– से आषय पूँजी के उस भाग से है, जिसका प्रयोग अल्प काल अर्थात एक वर्ष या कम अवधि हेतु किया जाता है।
- **परिचालन चक्र**– परिचालन चक्र से अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसके अर्न्तगत रोकड़ निर्गमन–कच्चा माल–अर्द निर्मित माल –निर्मित माल– नकद विक्रम; उधार विक्रम, देनदार एवं प्राप्य विलो के रुप में परिवर्तित होकर रोकड़ आगम के रुप में समाप्त होता है।
- **चालू पूँजी**– चालू सम्वहित एवं चालू दायित्व के अन्तर को चालू पूँजी कहा जाता है।
- **पूँजी ढाँचा**– पूँजी ढाँचा अथवा पूँजी संरचना का अभिप्राय संगठन में विनियोजित पूँजी के स्वरुप से है। इसका निर्धारण प्रतिभूतियों एवं ऋणों के माध्यम से संग्रहित पूँजी के मिश्रण द्वारा किया जाता है।
- **प्रतिधारित आय** – जब संगठन द्वारा अर्जित लाभो में से कुछ भाग संगठन के विकास एवं विस्तार हेतु रोक लिया जाता है तो उसे प्रतिधारित आय कहा जाता है।
- **स्वामित्व पूँजी**– से आषय पूँजी के उस भाग से है, जिसके द्वारा विनियोजको को संगठन में स्वामित्व प्राप्त हो जाता है।
- **अंश**– अंश से आषय किसी कम्पनी की कुल अंष पूँजी की न्यूनतम अविभाज्य इकाई से है।

- **रुपता अंश**– रुमता अंष वे अंश है जिनके धारकों को कम्पनी में स्वामित्व का अधिकार प्राप्त होता है।
- **पूर्वाधिकार अंश**– पूर्वाधिकार अंष वे अंष है जिनके धारकों को कम्पनी लाभों एवं पूँजी वापसी में वरीयता प्राप्त होती है।
- **ऋण पूँजी**– वह पूँजी होती है जो संगठन में ऋणों के रुप में आती है जिसपर पूर्व निर्धारित दर से ब्याज का भूगतान करना पड़ता है।

5.9 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1 उत्पादन के कितने एवं कौन से तत्व होते हैं?

प्रश्न 2 क्या पूँजी के अभाव की किसी भी प्रकार की आर्थिक क्रिया सम्पादित की जा सकती है?

प्रश्न 3 अल्पकालीन पूँजी का विनियोग कितने समय के लिये किया जाता है।

प्रश्न 4 स्थायी एवं कार्यशील पूँजी का प्रयोग संगठन में किन–किन रूपों में किया जाता है?

प्रश्न 5 कौन सी पूँजी का एक निश्चित तरलता चक्र होता है?

प्रश्न 6 ''समता अंशधारक कम्पनी के स्वामी होते हैं'' इस कथन की विवेचना कीजिये?

प्रश्न 7 अनुकूलतम पूँजी ढॉचा पर प्रकाश डालिये?

प्रश्न 8 अंश से आप क्या समझते हैं? ये कितने प्रकार के होते हैं। क्या इनके मध्य कोई मूलभूत अन्तर होता है।

प्रश्न 9 स्वामि पूँजी एवं ऋण पूँजी के गुण दोषों पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न 10 पूर्वाधिकार अंश से आप क्या समझते हैं, ये समता अंशों से किस प्रकार भिन्न होते हैं?

प्रश्न 11 किसी कम्पनी की पूँजी रू0 10 प्रति अंश के 50,000 समता अंशों में विभक्त है। कुल पूँजी की गणना कीजिये।

प्रश्न 12 राम एण्ड सन्स इलाहाबाद द्वारा रू0 1,50,0000 की पूँजी का एकत्रीकरण समता अंशों का निर्गमन करके किया गया, रू0 10 प्रति अंश की दर से कुल कितने अंश निर्गमित किये गये।

प्रश्न 13 प्रतिधारित आय (Retained) किस प्रकार के अंश धारकों को देय लाभांश से प्राप्त की जाती है।

प्रश्न 14 रू0 500 मूल्य वाले 8 वर्षीय 7 प्रतिशत ऋण पत्र पर ब्याज की गणना कीजिये।

प्रश्न 15 पूँजी की संरचना किस माध्यम से होती है।

उत्तर (i) 5,00000 (ii) 1ए50ए000 (iii) समता अंश धारक (iv) 280 रू0 (v) बचत

प्रश्न 16 निम्नलिखित रिक्त स्थानों को पूर्ण करें:—

(i) उत्पादन के लिये...................... तत्वों की आवश्यकता होती है।

(ii) मानव जीवन में प्रायः .... प्रकार की क्रियायें सम्पादित की जाती है।

(iii) ....रक्त वाहिनी नलिका के समान है।

(iv) परिवर्तनशील पूँजी को .... भी कहा जाता है।

(v) दीर्घकालीन पूँजी से ....सम्पत्तियों का सृजन होता है।

(vi) चालू पूँजी त्र...................... — चालू दायित्व

(vii) अल्पकालीन पूँजी संगठन की .... आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

(viii) कार्यशील पूँजी अत्यन्त.......................... होती है।

(ix) स्थिर लागत वाली पूँजी के अन्तर्गत .... सम्मिलित होते हैं।

(x) परिवर्तनशील लागत वाली पूँजी के मुख्य वाहक......................है।

(xi) स्वामि पूँजी के अन्तर्गत .... आते हैं।

(xii) ....अंश धारकों को लाभॉश एवं पूँजी वापसी की वरीयता होती है।

(xiii) ऋण पत्र धारक कम्पनी के......................नहीं होते हैं।

उत्तर (i) छः (ii) दो (आर्थिक, अनार्थिक) (iii) पूँजी (iv) कार्यशील पूँजी (v) स्थायी (vi) चालू सम्पत्ति (vii) नैत्यक (viii) तरल (ix) पूर्वाधिकार, अंश ऋण पत्र, दीर्घकालीन ऋण, (x) समता अंश (xi) समता अंशधारक (xii) पूर्वाधिकार (xiii) स्वाामी।

कुछ उपयोगी पुस्तके—

- वित्तीय प्रबन्धन — डॉ0 आर0के0 पाण्डेय लोकभारती प्रकाशन।
- वित्तीय प्रबन्ध— आर0एस0 कुलश्रेष्ठ, साहित्य भवन प्रकाशन।
- Financial management- I.M. Pandey VIKAS PUBLISHING HOUSE DELHI.
- Corporation Finance – S.C. KUCHHAL
- वित्तीय प्रबन्ध, डॉ0 एस0पी0 गुप्ता— साहित्य भवन प्रकाशन।
- Principles of Corporate Finance – RICHARD A. Brealey Tata Mc Graw Hill New Delhi.
- Financial Management – RAVI M. KISHORE TAX MANN'S Publication.

इकाई–6 पूँजी ढ़ाचा

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 पूँजी ढ़ाचे का अर्थ
6.2.1 अनुकूलतम पूँजी ढाँचा
6.3 पूँजी ढाँचा के निर्धारक तत्व
6.3.1 आन्तरिक तत्व
6.3.2 वाहय तत्व
6.4 पूँजी सम्वर्धन की पद्धतियाँ
6.5 अंश
6.5.1 पूर्वाधिकार अंश
6.5.2 समता अंश
6.5.3 अंशों का निर्गमन
6.6 ऋण पत्र
6.6.1 ऋण पत्रों का निर्गमन
6.7 वित्तीय संस्थानों से ऋण
6.7.1 वित्तीय संस्थाओं के उद्देश्य
6.7.2 वित्तीय संस्थाओं के कार्य
6.8 वाणिज्यिक बैंकों से ऋण
6.8.1 वाणिज्यिक बैंकों के निक्षेप
6.8.2 वाणिज्यिक बैंकों द्वारा प्रस्तुत वित्तीय सहायता के विभिन्न स्वरूप
6.9 जन निक्षेप
6.10 लाभों का प्रतिनिधायन
6.11 व्यापारिक साख
6.12 फैक्टरिंग (आढ़त)
6.13 विनिमय विपत्रों पर कटौती
6.14 बैंक अधिविकर्ष

PLONE-029

6.15 नकद साख

6.15.1 नकद साख सुविधा की विशेषतायें

6.16 सारांश

6.17 उपयोगी प्रश्न

6.18 महत्वपूर्ण प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप इस योग्य हो सकेंगे कि–

- पूँजी ढाँचा क्या है एवं इसके निर्धारक तत्व कौन से हैं; जान सकेगें,
- पूँजी प्राप्ति के विभिन्न विष्लेषित कर सकेंगे, साधन कौन–कौन से हैं?
- किसी व्यावसायिक संगठन में पूँजी ढाँचे के निर्धारण की आवश्यकता विस्तार से विष्लेषित कर सकेंगे तथा क्यों होती है?
- अनुकूलतम पूँजी ढाँचे के निर्धारण से संगठन के लाभों को सूचिबद्ध करते हुए विस्तार दे सकेगें।

6.1 प्रस्तावना

वित्तीय आयोजन के अन्तर्गत पूँजी के स्वरूप का निर्धारण अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य होता है। किसी भी आर्थिक संगठन के सृजन एवं संचालन हेतु कोष की आवश्यकता अपरिहार्य है। संगठन में कोष की प्राप्ति किन–किन रूपों में अथवा किन माध्यमों से हुई है, एवं कितनी–कितनी मात्रा में पूँजी की प्राप्ति हुई? इन प्रश्नों का उत्तर ही पूँजी ढाँचे के निर्धारण का प्रमुख कारक होता है। अर्थात यदि संगठन में कुल विनियोजित पूँजी समता अंशों, पूर्वाधिकार अंशों एवं ऋण पत्रों के माध्यम से प्राप्त हुई है तो इनकी कितनी–कितनी मात्रा का प्रयोग संगठन में किया गया है। पूँजी की इसी संरचना का निर्धारण पूँजी ढाँचा कहलाता है।

अर्थात पूँजी ढाँचे अथवा पूँजी संरचना से आशय संगठन द्वारा विभिन्न प्रतिभूतियों एवं ऋणों के द्वारा पूँजीकरण की राशि के निश्चयन से है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों जैसे समता अंश, पूर्वाधिकार अंश एवं ऋण पत्रों के मध्य अनुपात का निर्धारण किया जाता है।

पूँजी ढाँचे की संरचना के अन्तर्गत पूँजी प्राप्ति के विभिन्न साधनों का एक ऐसा मिश्रण तैयार किया जाता है जिससे संगठन की पूँजी लागत न्यूनतम तथा लाभोपार्जन अधिकतम हो। लागत के आधार पर संकलित पूँजी प्रायः दो रूपों में प्राप्त होती हैः–

(i) स्थिर लागत वाली पूँजी (ii) परिवर्तनशील लागत वाली पूँजी। स्थिर लागत वाली पूँजी के अन्तर्गत पूर्वाधिकार अंश, ऋण पत्र एवं दीर्घकालीन ऋण सम्मिलित किये जाते हैं क्योंकि इन पर एक निश्चित दर से लाभांश एवं ब्याज का भुगतान करना होता है। संगठन में अनवरत लाभ की मात्रा बढ़ने की दशा में स्थिर लागत का प्रयोग

लाभकारी होता है किन्तु लाभ की मात्रा घटने के साथ ही यह पूँजी संगठन के लिये भारस्वरूप हो जाती है।

दूसरी ओर परिवर्तनशील लागत वाली पूँजी का अधिक मात्रा में प्रयोग करने पर संगठन में स्वामियों की संख्या में वृद्धि हो जाती है, इस प्रकार की पूँजी के अन्तर्गत समता अंश एवं प्रतिधारित आय को सम्मिलित किया जाता है। संगठन में लाभ की मात्रा बढ़ने पर अंशधारकों को अधिक लाभाँश का भुगतान करना पड़ता है इससे संगठन के लाभों में कमी होती है। किन्तु संगठन में लाभ की मात्रा कम होने अथवा हानि होने की दशा में अस्थिर पूँजी लागत का भुगतान करने की वैधानिक बाध्यता नहीं होती। अतः संगठन की पूँजी संरचना में प्रतिभूति की मात्रा अधिक हो या ऋण भाग, यह तय करना आवश्यक होता है।

6.2 पूँजी ढाँचा

पूँजी ढाँचे का आशय किसी भी संगठन में विनियोजित पूँजी के दीर्घकालीन स्रोतों की परस्पर मात्रा से है जिसमें स्वामित्व पूँजी पूर्वाधिकार अंश पूंजी (Capital) एवं दीर्घकालीन ऋण पत्र को सम्मिलित किया जाता है। पूँजी ढाँचे के अन्तर्गत यह जानने का प्रयास किया जाता है कि संगठन में विनियोजित पूँजी की कितनी मात्रा समता अंशों के रूप में प्राप्त हुई है तथा कितनी मात्रा पूर्वाधिकार अंशोंएवं दीर्घकालीन ऋणों तथा ऋण पत्रों के माध्यम से प्राप्त हुई है। चूँकि संगठन में विनियोजित पूँजी के प्रत्येक स्वरूप की अपनी विशिष्टतायें होती है। जहाँ एक ओर समता अंशों एवं प्रतिधारित आय के माध्यम से प्राप्त पूँजी की लागत परिवर्तनशील होती है तथा स्वामियों की संख्या में भी वृद्धि होती है। समता अंश धारक संगठन के स्वामी होते हैं, संगठन में लाभ की मात्रा बढ़ने के साथ ही इन्हें अधिक लाभांश का भुगतान करना पड़ता है फलस्वरूप संगठन में होने वाले लाभों का अधिकांश भाग लाभांश के रूप में चला जाता है।

संगठन के विकास एवं नवीन योजनाओं को संचालित करने हेतु आवश्यक अतिरिक्त पूँजी की व्यवस्था लाभों के प्रतिनिधायन द्वारा की जा सकती है वहीं दूसरी ओर दीर्घकालीन ऋण पत्रों के माध्यम से प्राप्त पूँजी की एक पूर्व निश्चित लागत होती है। अर्थात इन ऋणों एवं ऋण पत्रों पर एक निश्चित दर से ब्याज का भुगतान प्रतिवर्ष करना होता है, यह पूँजी स्थिर लागत वाली पूँजी कहलाती है। संगठन में अनवरत लाभ होने की दशा में ब्याज का भुगतान आसानी से किया जा सकता है किन्तु लाभ कम होने अथवा हानि होने पर यह पूँजी भार स्वरूप हो जाती है। आइये इस अवधारणा से सम्बन्धित कुछ प्रमुख परिभाषाओं को समझाने का प्रयास करेः—

(क) वेस्टन एवं ब्राइम के शब्दों में, ''पूँजी संरचना से अभिप्राय संगठन की स्वामित्व पूँजी एवं ऋण पूँजी से है जो कि दीर्घकालीन ऋणों के रूप में प्रस्तुत होता है। पूँजी ढाँचे के अन्तर्गत उन प्रतिभूतियों को सम्मिलित किया जाता है जो पूँजीकरण का सृजन करती है।''

(ख) गेस्टर्नवर्ग के अनुसार, ''किसी कम्पनी के पूँजी ढाँचे से अभिप्राय उसके पूँजीकरण के गठन एवं संरचना से होता है, इसके अन्तर्गत समस्त दीर्घकालीन पूँजी संसाधनों जैसे ऋण, बाण्ड, अंश एवं संचय को सम्मिलित किया जाता है।''

(ग) आई0एम0 पाण्डेय के अनुसार, ''पूँजी संरचना का आशय दीर्घकालीन वित्तीय संसाधनों जैसे ऋण पत्र, दीर्घकालीन ऋण, पूर्वाधिकारी अंश पूँजी, समता अंश पूँजी तथा आधिक्य एवं संचय से हैं।क''

''वस्तुतः पूँजी ढाँचा पूँजी प्राप्ति का वह कलेवर है जिसके अन्तर्गत यह सुनिश्चित किया जाता है कि संगठन में स्वामित्व पूँजीएवं ऋण पूँजी का प्रयोग किस अनुपात में हुआ है''।

6.2.1 अनुकूलतम पूँजी ढाँचा

वित्तीय नियोजन के अन्तर्गत सर्वप्रमुख समस्या पूँजी ढाँचे के निर्धारण की होती है। संगठन के समक्ष एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं जटिल प्रश्न होता है कि पूँजी ढाँचे अथवा पूँजी मिश्रण का स्वरूप क्या हो? पूँजी ढाँचे के मिश्रण का अनुपात प्रायः संगठन के उद्देश्यों पर निर्भर करता है। व्यवसाय का संचालन प्रायः स्वामियों के हितों में अभिवृद्धि के लिये किया जाता है। अतः पूँजी ढाँचे का निर्धारण इस प्रकार होना चाहिये कि कम्पनी के अंशधारकों/स्वामियों को अधिकतम आय प्राप्त हो सके, तथा पूँजी के विभिन्न साधनों की औसत लागत न्यूनतम हो। पूँजी ढाँचे के निर्धारण में कुछ अन्य प्रश्न भी महत्वपूर्ण होते हैं जैसे संगठन के नियंत्रण सम्बन्धी वर्तमान स्वरूप में परिवर्तन किया जाये अथवा नहीं? संगठन में जोखिम मात्रा में अभिवृद्धि की जाये अथवा नहीं?

अनुकूलतम पूँजी ढाँचे से अभिप्राय ऋण तथा समता अंष के उस संयोजन (Combination) से है जो संगठन के मूल्य को अधिकतम करने के साथ ही संगठन की संरचना में आधारभूत परिवर्तन की वाहक न हो। अनुकूलतम पूँजी ढाँचा कम्पनी के स्वामियों का हित संवर्धित एवं सुरक्षित रखते हुये अनुकूलतम आय का सुनिश्चयन करता है।

6.3 पूँजी ढाँचे के निर्धारक तत्व

संगठन की उत्पत्ति काल में ही प्रवर्तकों के मन में पूँजी ढाँचे की संरचना सम्बन्धी विचार निहित होते हैं। पूँजी ढॉचे के निर्माण में संगठन की आवश्यकता एवं भावी योजनाओं को दृष्टिगत रखा जाता है। पूँजी ढॉचे को प्रभावित करने वाले तत्वों में आन्तरिक एवं वाह्य दोनों प्रकार के तत्व होते हैं। आन्तरिक तत्व प्रायः संगठन की नीतियों एवं कार्यक्रम से सम्बन्धित होते हैं। जबकि वाह्य तत्व, सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक, नीतिगत एवं अन्य अनेक वाह्य तत्वों से प्रभावित होते हैं। सामान्यतया निम्नलिखित तत्व पूँजी ढॉचे की संरचना को प्रभावित करते हैंः–

6.3.1 आन्तरिक तत्व

(i) **आय (Income)-** प्रायः समान प्रकृति वाले संगठनों में भी आय उपार्जन की सम्भावना असमान रहती है। अनेक संगठनों में आय की सम्भावना स्पष्ट होती है जबकि कतिपय संगठनों में आय की सम्भावना अनिश्चित एवं अनियमित होती है। अतः पूँजी संरचना के निर्धारण में सम्भावित आय का महत्वपूर्ण योगदान होता है। संगठनों में आय की अनिश्चितता एवं अनियमितता की दृष्टि से श्री ए0एस0 डेविंग ने तीन मार्गदर्शन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो निम्नवत है–

(A) संगठन में होने वाली आय अनिश्चित एवं असमान होने की दशा में समता अंशों का निर्गमन किया जाना चाहिए।

(B) कम्पनी की आय अनियमित होने पर किन्तु भविष्य में इतनी आय की सम्भावना होने पर कि पूर्वाधिकार अंशों पर लाभाँश का भुगतान करने के उपरान्त कम्पनी के पास प्रचुर मात्रा में धनराशि शेष रहेगी। इस दशा में पूर्वाधिकार अंशों का निर्गमन करना चाहिये।

(C) ऋण पत्र अथवा बाण्डों का निर्गमन केवल उसी दशा में किया जाना चाहिये, जब कम्पनी की आय भविष्य में नियमित एवं पर्याप्त बनी रहे।

(ii) व्यवसाय की प्रकृति (Nature of Business)- पूँजी संरचना के निर्धारण में व्यवसाय की प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान होता है। निर्माणी कार्यों में लगे संगठनों में स्थायी पूँजी की अधिक आवश्यकता होती है। अतः समता अंशों के माध्यम से पूँजी एकत्रित करना बेहतर होगा। इसके विपरीत व्यावसायिक क्रियाओं में संलग्न संगठनों में कार्यशील पूँजी की अधिक आवश्यकता होती है। अतः ऐसे संगठनों में वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति ऋण पूँजी के माध्यम से की जा सकती है।

(iii) व्यवसाय का आकार (Size of Business)- पूँजी ढाँचे के निर्धारण में व्यवसाय के आकार की भी भूमिका होती है। लघु आकार के संगठनों में ख्याति (Good will) एवं आर्थिक क्षमता सीमित होने के कारण ऋण पूँजी प्राप्त करना कठिन होता है। जबकि बड़े संगठनों के लिये अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है। अतः इसके अन्तर्गत पूँजी संरचना के विभिन्न स्रोतों को सम्मिलित किया जाता है।

(iv) नियंत्रण (Control)- सामान्य तौर पर कम्पनियों का पूँजी ढाँचा इस प्रकार निर्मित किया जाता है कि कम्पनी के प्रवर्तकों, संस्थापकों एवं संचालकों का नियंत्रण कम्पनी पर बना रहे। अतः प्रवर्तकों द्वारा समता अंश पूँजी का निर्गमन अत्यल्प मात्रा में करके अधिकांश भाग स्वयं खरीद लिया जाता है। इसके अतिरिक्त पूँजी संरचना में पूर्वाधिकार अंशों एवं दीर्घकालीन ऋण पत्रों को वरीयता दी जाती है।

(v) जोखिम (Risk)- संगठन में जोखिम की मात्रा अधिक होने पर समता अंश पूँजी की मात्रा अधिक तथा जोखिम की मात्रा कम होने पर समता अंश पूँजी की कम मात्रा का निर्गमन किया जाना चाहिये। इसके विपरीत संगठन में जोखिम की मात्रा अधिक होने पर पूर्वाधिकार अंश एवं ऋण पत्र की मात्रा कम तथा जोखिम की मात्रा कम होने पर पूर्वाधिकार एवं ऋण पूँजी की मात्रा अधिक रखना चाहिये।

(vi) समता पर व्यापार (Trading on equity)- संगठन के प्रवर्तकों का यह प्रयास होता है कि संगठन में न्यूनतम वाह्य विनियोग द्वारा अधिकतम सम्पत्तियों पर नियंत्रण रखा जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति समता पर व्यापार नीति का अनुसरण करके की जा सकती है। इस नीति के अन्तर्गत कम्पनी स्वामित्व पूँजी (owners capital) के माध्यम से पूँजी की व्यवस्था अत्यल्प मात्रा में करके अधिकांश पूँजी भाग दीर्घकालीन ऋणों के माध्यम से करती है चूँकि दीर्घकालीन ऋणों पर एक निश्चित दर से ब्याज का भुगतान करना होता है, उनके द्वारा देय ब्याज की तुलना में संगठन को होने वाले लाभों की मात्रा अत्यधिक होती है। अतः समता अंशधारकों को अधिक लाभांश प्रदान किया जाता है।

यदि संगठन के प्रर्वतकों (Promotors) का उद्देश्य समता पर व्यापार नीति को अपनाकर समता अंशधारकों के लाभों में वृद्धि करना है। तो पूँजी ढाँचे में ऋण पूँजी एवं पूर्वाधिकार अंश पूँजी की अधिक मात्रा का समावेश करना होता है। इससे पूँजी ढांचे में उच्चदन्तिकरण (High Capital Gearing) की स्थिति का समावेश होता है।

6.3.2 वाह्य तत्व

(i) पूँजी बाजार की दशा पूँजी ढाँचे के निर्धारण में पूँजी बाजार की दशा का भी प्रभाव पड़ता है। पूँजी बाजार में मंदी की दशा होने पर लाभांश की दरें प्रायः कम होती है एवं लाभ की सम्भावना भी अनिश्चित होती है। ऐसी दशा में समता अंशों की तुलना में ऋण पत्रों का निर्गमन बेहतर होता है। इसके विपरीत पूँजी बाजार में तेजी का दौर होने पर ब्याज की दरों में अभिवृद्धि एवं लाभ की सम्भावनाओं मे भी वृद्धि हो जाती है। इन स्थितियों में ऋण पत्रों की तुलना में अंशों की मांग प्रायः अधिक हो जाती है।

(ii) विनियोजकों का दृष्टिकोण प्रायः विनियोजकों की विनियोजन क्षमता व जोखिम क्षमता, भिन्न–भिन्न होती है कतिपय विनियोजकों के पास बचत अधिक होती है, तथा अधिक मात्रा में जोखिम सहन करने की क्षमता होती है, अनेक विनियोजकों के पास विनियोग हेतु पूँजी की कमी होती है तथा जोखिम सहन करने की क्षमता भी कम होती है। कतिपय विनियोजक अधिकतम लाभ चाहते हैं। पूँजी की सुरक्षा उनके लिये गौंण होती है, दूसरी तरफ कुछ विनियोजक पूँजी की सुरक्षा को वरीयता देते हैं उनके लिये लाभ गौंण होता है। सुरक्षित पूँजी एवं कम लाभ की इच्छा रखने वाले विनियोजक पूर्वाधिकार अंशों एवं ऋण पत्रों में विनियोग को वरीयता देंगे। इसके विपरीत अधिक जोखिम, अधिक लाभ तथा पूँजी की सुरक्षा को गौंण रखने **वाले विनियोजक समता अंशों में विनियोग को वरीयता देंगे।**

(iii) पूँजी निर्गमन सम्बन्धी व्यय पूँजी ढाँचे की संरचना में पूँजी निर्गमन सम्बन्धी लागतों का भी प्रभाव पड़ता है। प्रतिभूतियों के निर्गमन पर दलालों, मध्यस्थों एवं अभिगोपकों को कमीशन, दलाली बट्टा एवं विज्ञापन आदि पर व्यय करने होते हैं। इसके अतिरिक्त ऋण पत्रों एवं बाण्डों का निर्गमन भी अंकित मूल्य से कम मूल्य पर करना पड़ सकता है।

(iv) शासकीय नियम एवं सन्नियम पूँजी ढाँचे के निर्धारण में शासकीय नियमों एवं सन्नियमों का भी प्रभाव पड़ता है। आयकर अधिनियम के अनुसार कुल लाभ ;ळतवे च्तवपिजद्ध में से व्यावसायिक व्ययों को घटाने के बाद अवशेष राशि कर योग्य होती है। अंशों पर देय लाभांश की राशि को व्यावसायिक व्यय न मानकर ऋणों पर देय ब्याज को व्यावसायिक व्यय माना जाता है। अतः कम्पनी द्वारा ऋण पत्रों के निर्गमन को वरीयता दी जायेगी

6.4 पूँजी सम्बर्द्धन की पद्धतियाँ

पूँजी निर्माण का प्रमुख आधार बचत (savings) होती है। जिस देश अथवा समाज में बचत की प्रवृत्ति अधिक होगी वहां पूँजी निर्माण की गति भी तीव्र होती है। बचत का प्रत्यक्ष सम्बन्ध आय से है जिस देश की प्रति व्यक्ति आय जितनी अधिक होगी, उस देश में बचत की मात्रा भी अधिक होगी। किसी भी व्यावसायिक संगठन के लिये पूँजी एक अनिवार्य आवश्यकता होती है। पूँजी प्राप्ति के विभिन्न माध्यम जैसे

अंशों का निर्गमन, ऋण पत्रों का निर्गमन, वित्तीय संस्थाओं से ऋण, वाणिज्यिक बैंकों से ऋण, जन निक्षेप, लाभों का प्रतिनिधायन, व्यापारिक साख, विनिमय विपत्रों की कटौती, बैंक अधिविकर्ष एवं नकद साख इत्यादि हैं। संगठन के आकार प्रकृति, एवं आवश्यकता के अनुसार पूँजी प्राप्ति के उपलब्ध विकल्पों में से कतिपय विकल्पों का चयन किया जाता है। पूँजी संग्रहण के कतिपय विकल्पों का अध्ययन निम्नवत है।

6.5 अंश

अंश से आशय भाग (Portion) से है, सार्वजनिक कम्पनियों द्वारा अंशों का निर्गमन करके पूँजी एकत्र करने का प्रयास किया जाता है, अंश पूँजी के समान एवं निश्चित मूल्य के विभिन्न भागों में से एक भाग को अंश की संज्ञा दी जाती है। उदाहरणस्वरूप यदि किसी कम्पनी की अंश पूँजी 500000 रूपये है, जो रू0 10 मूल्य के 50,000 अंशों में विभक्त है तो उस एक भाग को अंश कहा जायेगा।

6.5.1 अंशों के प्रकार

(i) पूर्वाधिकार अंश Preference Shares- पूर्वाधिकार अंशों से आशय उन अंशों से है जो कम्पनी में लाभांश एवं पूँजी वापसी सम्बन्धी पूर्वाधिकार प्राप्त करते हैं। कम्पनी द्वारा लाभांश की घोषणा करने के उपरान्त पूर्वाधिकार अंश धारक सर्वप्रथम लाभॉश प्राप्त करते हैं। इन्हें लाभांश देने के उपरान्त अवशेष लाभांश अन्य श्रेणी के अंश धारकों को वितरित किया जाता है। पूँजी के पुर्नभुगतान हेतु कम्पनी के समापन पर ऋण दाताओं को भुगतान करने के उपरान्त अवशेष राशि से पूर्वाधिकार अंश धारकों को अंशों के अंकित मूल्य के बराबर पूँजी वापसी का पूर्वाधिकार होता है।

पूर्वाधिकार अंशों के धारक कम्पनी के स्वामी नही होते। इन्हें सामान्य स्थिति में मतदान का अधिकार नहीं होता। ये अंश धारक अपने हितों की रक्षा करने हेतु सीमित पैमाने पर मताधिकार रखते हैं।

6.5.2 समता अंश

कम्पनी अधिनियम की धारा 85(2) के अनुसार समता अंश उन अंशों को कहते हैं जो पूर्वाधिकारी नहीं हैं। समता अंश धारक कम्पनी के सामान्य अंश धारक होते हैं। इन्हें लाभांश प्राप्ति एवं पूँजी वापसी के सम्बन्ध में कोई अधिकार नहीं प्राप्त होते हैं। पूर्वाधिकार अंश धारकों को लाभांश देने के उपरान्त अवशिष्ट लाभांश समता अंश धारकों के मध्य वितरित किया जाता है। इसी प्रकार कम्पनी के समापन पर पूर्वाधिकार अंश धारकों को पूँजी वापसी के उपरान्त अवशेष धनराशि से समता अंशधारकों की पूँजी वापस की जाती है। समता अंश धारकों को देय लाभांश की दर अनिश्चित होती है। समता अंशधारक कम्पनी के स्वामी/सदस्य होते हैं। इन्हें कम्पनी की सभाओं में भाग लेने तथा मतदान करने का अधिकार होता है।

6.5.3 अंशों का निर्गमन

एक संयुक्त पूँजी वाली सार्वजनिक कम्पनी (Public Company) अपने अंशों का निर्गमन भारतीय कम्पनी अधिनियम एवं अपने अन्तर्नियमों के परिप्रेक्ष्य में निम्नवत कर सकती है।

PLONE-029

(i) **अंशों का सममूल्य पर निर्गमन**– अंशों के सममूल्य (at par) से आशय उनके अंकित मूल्य (face value) से है। जब किसी कम्पनी द्वारा अपने अंशों का निर्गमन अंकित मूल्य पर किया जाता है तो उसे सममूल्य पर निर्गमन कहा जाता है। उदाहरण स्वरूप यदि किसी कम्पनी के अंशों का अंकित मूल्य रू0 100 है तथा कम्पनी रू0 100 में ही उसका निर्गमन कर रही है तो उसे सममूल्य पर निर्गमन कहा जाता है।

(ii) **प्रीमियम पर निर्गमन**– अंशों के प्रीमियम पर निर्गमन से आशय उनके अंकित मूल्य (face value) से अधिक मूल्य पर निर्गमन से है। कम्पनियों को अपने अंश प्रीमियम पर निर्गमित करने का अधिकार होता है। कम्पनी द्वारा प्रीमियम पर अंशों का निर्गमन प्रायः तभी किया जाता है जब बाजार में कम्पनी की ख्याति अच्छी हो। प्रीमियम पर अंशों के निर्गमन करने की दशा में अंकित मूल्य रू0 100 के स्थान पर रू0 120 में निर्गमन किया जाता है। अतिरिक्त प्राप्ति राशि रू0 20 प्रीमियम कहलाती है। प्रीमियम के रूप में प्राप्त समस्त धनराशि कम्पनी (संशोधन अधिनियम 1999) की व्यवस्था के अनुसार प्रतिभूति प्रीमियम खाते (securities premium account) में जमा करनी होती है।

(iii) **अंशों का बट्टे पर निर्गमन**– अंशों का बट्टे अथवा छूट (Discount) पर निर्गमन से आशय उनके अंकित मूल्य (face value) से कम पर निर्गमन करने से है। अर्थात यदि रू0 100 अंकित मूल्य वाले अंशों को रू0 90 में निर्गमित किया जाय तो ऐसे निर्गमन को छूट पर निर्गमन कहा जायेगा।

6.6 ऋण पत्र

ऋण पत्र शब्द लैटिन भाषा के (Debere) शब्द से निर्मित है जिसका अर्थ ऋणदायी (to owe) है। ऋण पत्र से आशय कम्पनी द्वारा ऋण स्वीकार करने सम्बन्धी प्रमाण पत्र से है। जिसे कम्पनी की सार्वभौमिक मुद्रा (Common seal) के अधीन निर्गमित किया जाता है। ऋण पत्र पर ऋण की राशि ब्याज दर एवं भुगतान की शर्तों इत्यादि का स्पष्ट उल्लेख होता है। दूसरे शब्दों में ऋण पत्र एक निश्चित तिथि पर ब्याज सहित मूल राशि ऋण पत्र धारक को वापस करने का अनुबन्ध होता है। ऋण पत्रों पर ब्याज का भुगतान कम्पनी द्वारा सर्वप्रथम एवं अनिवार्य रूप से करना होता है।

6.6.1 ऋण पत्रों का निर्गमन

कम्पनियों द्वारा प्रायः ऋण पत्रों का निर्गमन कम्पनी अधिनियम में उल्लिखित व्यवस्था एवं पार्षद सीमा नियम (Memorandum of Association) के प्रावधानों के अनुसार अंशों के निर्गमन की भॉति ही किया जाता है। संक्षेप में ऋण पत्रों का निर्गमन निम्न विधि के अनुसार किया जाता हैः–

(i) कम्पनी प्रावधानों के अनुसार ऋण पत्रों के निर्गमन का अधिकार संचालक मंडल को होता है, कम्पनी की साधारण सभा में ऋण पत्रों के निर्गमन सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किये जाते हैं।

(ii) ऋण पत्रों के निर्गमन सम्बन्धी विवरण पत्र में ऋण पत्रों का विवरण एवं आवेदन पत्र का नमूना प्रेषित किया जाता है।

(iii) ऋण पत्रों के निर्गमन सम्बन्धी विवरणिका की प्रति रजिस्ट्रार के पास अवश्य भेजना चाहिये।

(iv) ऋण पत्र धारक कम्पनी के ऋण दाता होते हैं, इन्हें कम्पनी की सभाओं में भाग लेने व मतदान का अधिकार नहीं होता है।

(v) कम्पनी के ऋण पत्र धारक स्वामी नहीं हो सकते। इन्हें पूर्व निश्चित दर से प्रतिवर्ष कम्पनी द्वारा ब्याज का भुगतान अनिवार्य रूप से करना होता है।

(vi) ऋण पत्रों के माध्यम से प्राप्त पूँजी स्थायी लागत वाली पूँजी होती है, इस पूँजी पर ब्याज का भुगतान अनिवार्य रूप से करना पड़ता है चाहे कम्पनी को लाभ हो अथवा हानि।

(vii) जब कम्पनी के लाभों में निरन्तर वृद्धि होती रहती है तो ऋण पूँजी पर ब्याज का भुगतान कम्पनी के लिये सरल होता है तथा यह पूँजी कम्पनी के लिये अनुकूल होती है। किन्तु कम्पनी में लाभ की मात्रा कम होने अथवा हानि होने की दशा में ऋण पूँजी भार स्वरूप हो जाती है।

6.7 वित्तीय संस्थाओं से ऋण

स्वतन्त्रता से पूर्व हमारे देश में दीर्घकालीन वित्त की आपूर्ति करने वाले संगठनों का अभाव था। व्यापारिक बैंकों द्वारा केवल अल्पकालीन वित्त की आपूर्ति की जाती थी। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय कम्पनियों के विकास, विस्तार एवं आधुनिकीकरण हेतु दीर्घकालीन एवं मध्यम कालीन (Long term and medium term) वित्त पोषण हेतु भारी मात्रा में पूँजी की माँग बढ़ी। अप्रैल 1948 में भारत सरकार द्वारा घोषित प्रथम औद्योगिक नीति में वित्तीय संस्थाओं को खोलने का प्रस्ताव रखा गया। इसी क्रम में 1 जुलाई 1948 को भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना की गई। 20 अक्टूबर 1954 को राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की स्थापना के उपरान्त वास्तविक अर्थों में वित्तीय संगठनों का सूत्रपात हुआ। 5 जनवरी 1955 को औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम की स्थापना भारतीय उद्यमियों एवं कतिपय विदेशी संगठनों के सहयोग से की गई।

औद्योगिक विकास को गति प्रदान करने हेतु 1 जुलाई 1964 को भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना की गई। प्रारम्भ में इसकी स्थापना भारतीय औद्योगिक विकास बैंक अधिनियम 1964 के अन्तर्गत भारतीय रिजर्व बैंक के स्वामित्व में एक सहायक संगठन के रूप में की गई। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना का उद्देश्य देश में फैले हुये अनेक वित्तीय संगठनों को एकीकृत करके आर्थिक विकास की प्रक्रिया में इसकी अग्रणी भूमिका सुनिश्चित करनी थी। 17 फरवरी 1976 से सार्वजनिक वित्तीय संगठन अधिनियम (संशोधन) 1975 द्वारा इसे केन्द्र सरकार के अधीन प्रत्यक्ष नियंत्रण में करके भारतीय रिजर्व बैंक से अलग कर दिया गया।

6.7.1 वित्तीय संस्थाओं के उद्देश्य

(i) औद्योगिक विकास हेतु विभिन्न औद्योगिक संगठनों की नीतियों एवं कार्यक्रमों के मध्य समन्वय स्थापित करके वित्तीय सुविधा प्रदान करना।

PLONE-029

(ii) समान औद्योगिक विकास हेतु औद्योगिक सन्तुलन स्थापित करना कतिपय आधारभूत उद्यमों जैसे—पेट्रो, रसायन, रासायनिक खाद, लौह, मिश्रित धातुएं इस्पात इत्यादि उद्यमों को प्रोत्साहित करना।

(iii) राष्ट्र के औद्योगिक ढांचे को समुन्नत करने हेतु उद्यमों की संकल्पना, प्रवर्तन, नियोजन तथा विकास करना।

(iv) भारतीय उद्यमों के प्रवर्तन, प्रबन्धन, एवं विकास तथा विस्तार हेतु तकनीकी तथा प्रशासनिक सहायता प्रदान करना।

(v) राष्ट्र की प्राथमिकताओं के अनुरूप परियोजनाओं को वित्त प्रदान करना तथा अंतिम ऋणदाता के रूप में अपने को प्रतिस्थापित करना।

6.7.2 वित्तीय संस्थाओं के कार्य

(i) वित्तीय संस्थाओं द्वारा औद्योगिक इकाइयों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान किया जाता है।

(ii) औद्योगिक इकाइयों द्वारा पूँजी बाजार में निर्गत ऋण पत्रों, बैंक ऋणों अथवा निर्यात से सम्बन्धित स्थगित गारण्टी प्रदान करने सम्बन्धी कार्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा किया जाता है।

(iii) वित्तीय संगठनों द्वारा पूँजी बाजार में निर्गमित अंशो, ऋणपत्रों एवं बाण्डों के अभिगोपन सम्बन्धी कार्य किये जाते हैं।

(iv) कतिपय वित्तीय संगठनों द्वारा बैंकों से प्राप्त अल्पकालीन एवं मध्यमकालीन ऋणों को दीर्घकालीन पुनर्वित्त ;त्मपिदंदबमद्ध की सुविधा प्रदान की जाती है।

वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त ऋण कम्पनियों पर स्थायी प्रभार प्रदान करते हैं। इन संस्थाओं द्वारा एक निश्चित ब्याज दर पर ऋण सुविधा प्रदान की जाती है। बैंकों की तुलना में वित्तीय संगठन सहजता पूर्वक औद्योगिक इकाइयों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते हैं। जिससे कम्पनियों को अपनी आधारभूत संरचना निर्मित करने हेतु पर्याप्त वित्त की उपलब्धता हो जाती है। इन वित्तीय संस्थाओं द्वारा बैंको की भाँति किसी विशेष गारण्टी की आवश्यकता भी नहीं होती है। चूँकि इन संगठनों का उद्‌देश्य देश के औद्योगीकरण को समुन्नत करना होता है। अतः इनके द्वारा सहजतापूर्वक पूँजी उपलब्ध करायी जाती है।

6.8 वाणिज्यिक बैंकों से ऋण

पूँजी निर्माण में वाणिज्यिक बैंकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वाणिज्यिक बैंक जनता की बचतों को संग्रहीत करके पूँजी निर्माण की दिशा में सार्थक प्रयास करते हैं। बैंक जनता से प्राप्त जमा राशि का उत्पादकता के लिये उचित विनियोग करके राष्ट्र के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

भारत के वाणिज्यिक बैंक प्रायः उद्योगों के लिये कार्यशील पूँजी (working capital) के रूप में ऋण प्रदान करते हैं। उद्यमों की दीर्घकालीन अथवा स्थायी पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति प्रायः वाणिज्यिक बैंकों द्वारा सीमित पैमाने पर की जाती है। चूँकि वाणिज्यिक बैंकों की देनदारियों की प्रवृत्ति अल्पकालिक/मध्यमकालिक होती है। अतः उनके द्वारा दीर्घकालीन ऋण प्रदान किया जाना सम्भव नहीं होता। बैंकों में जमा

कोषों का पर्याप्त भाग ऐसे निक्षेपों (Deposits) के रूप में होता है जिनका भुगतान जनता द्वारा मॉगने पर अथवा तीन से पॉच वर्ष की अवधि में करना पड़ता है।

6.8.1 वाणिज्यिक बैंकों के निक्षेप

वाणिज्यिक बैंकों द्वारा अपने वित्तीय संसाधनों का निर्माण जनता से प्राप्त जमाराशियों (Deposits) के माध्यम से किये जाते हैं। बैंकों के स्वामित्व (owned) संसाधनों में अंशपूँजी एवं संचित कोषों का भाग प्रायः 2 से 3 प्रतिशत तक ही रहता है। शेष पूँजी जन निक्षेप (Public Deposits) के आधार पर ही संग्रहीत की जाती है। 1969 में 14 बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण, 1980 में छः अन्य बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके भारत सरकार ने क्लास बैंकिंग को मास बैंकिंग का स्वरूप प्रदान कर दिया। पूर्व में बैंकिंग सुविधा का लाभ कुछ चुनिन्दा लोग ही उठा पाते थे। किन्तु राष्ट्रीयकरण के उपरान्त बैंकिंग सुविधा जन सामान्य के लिये हो गई। इससे राष्ट्र के औद्योगिक विकास में गति आ गई। वर्तमान समय में वाणिज्यिक बैंक प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों (Priority sectors) समाज के कमजोर वर्गों (weaker sections of society) एवं पिछड़े हुये क्षेत्रों (Backward Regions) के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं।

6.8.2 वाणिज्यिक बैंकों द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता के विभिन्न स्वरूप

वाणिज्यिक बैंकों द्वारा प्रायः उद्योगों को अल्पकालीन एवं मध्यम कालीन ऋण प्रदान किये जाते हैं। अल्पकालीन ऋणों से उद्योगों की चालू आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसके अतिरिक्त उद्यमों के विकास एवं विस्तार के लिये मध्यमकालीन ऋण भी इन बैंकों द्वारा प्रदान किये जाते हैं। सामान्य तौर पर वाणिज्यिक बैंक उद्यमों को निम्न स्वरूपों में वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं:–

(i) **लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रत्यक्ष सहायता**– वाणिज्यिक बैंकों द्वारा देश में स्थापित होने वाले लघु एवं कुटीर उद्यमों को प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। इन बैंकों द्वारा स्थायी एवं कार्यशील दोनों प्रकार की पूँजी का प्रबन्ध करके लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रत्यक्ष सहायता प्रदान की जाती है।

(ii) **अंशपूँजी में प्रत्यक्ष योगदान**– वर्तमान समय में वाणिज्यिक बैंकों द्वारा औद्योगिक संगठनों की अंश पूँजी में प्रत्यक्ष योगदान प्रदान किया जा रहा है। अनेक कम्पनियों द्वारा निर्गत अंशों को इन बैंकों द्वारा क्रय कर लिया जाता है। चूँकि बैंकों में जमा निक्षेपों द्वारा अंश पूँजी में अभिदान करना सम्भव नहीं होता। अतः भारत सरकार द्वारा बैंकों की अंश पूँजी में पर्याप्त वृद्धि की गई है। वर्तमान समय में अनेक बैंकों द्वारा म्यूचुअल फण्डों (Mutual Funds) की स्थापना करके उनके माध्यम से चयनित इक्विटी अंशों (Equity shares) में पूँजी विनियोग किया जा रहा है।

(iii) **बॉण्डों एवं ऋण पत्रों की खरीद**– वाणिज्यिक बैंक अनेक कम्पनियों द्वारा निर्गत बाण्डों एवं ऋण पत्रों को खरीद कर उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। ऋण पत्र एवं बाण्ड पूर्णतया सुरक्षित होते हैं तथा इन पर ब्याज की मात्रा पूर्व निश्चित होती है। अतः बैंकों द्वारा अपनी अतिरिक्त पूँजी ऋण पत्रों एवं बाण्डों में विनियोजित की जा सकती है।

(iv) मध्यम एवं दीर्घकालीन ऋण– वाणिज्यिक बैंकों द्वारा उद्योगों को मध्यम एवं दीर्घकालीन ऋण प्रदान किये जाते हैं। इन बैंकों द्वारा प्रायः दीर्घकालीन ऋण कम मात्रा में प्रदान किये जाते हैं। कतिपय वृहद आकार वाले बैंक स्थायी सम्पत्तियों की जमानत पर दीर्घकालीन ऋण प्रदान करतेहैं। मध्यमकालीन ऋण इन बैंकों द्वारा पर्याप्त मात्रा में प्रदान किये जाते हैं। मध्यम कालीन ऋण प्रदान करते समय बैंक कम्पनियों की आर्थिक दशा का आकलन करके स्थायी सम्पत्ति की जमानत अवश्य लेते हैं।

(v) समपार्श्विक प्रतिभूतियों पर ऋण– जब किसी कम्पनी द्वारा अन्य कम्पनियों की प्रतिभूतियों (अंशों एवं ऋण पत्रों) में विनियोग किया जाता है तो ऐसी प्रतिभूतियों को समपार्श्विक प्रतिभूति की संज्ञा दी जाती है। समपार्श्विक प्रतिभूति धारक कम्पनियों द्वारा आवश्यकता पड़ने पर इन प्रतिभूतियों को समपार्श्विक जमानत (Callateral securities) के रूप में बैंकों के पास रखकर ऋण प्राप्त कर लिया जाता है। प्रायः कम्पनियाँ इन प्रतिभूतियों को बाजार में बेचकर धन प्राप्त करने की अपेक्षा बैंक में गिरवी रखकर ऋण लेना बेहतर समझती हैं। समपार्श्विक प्रतिभूतियों पर ऋण देते समय बैंकों द्वारा कम्पनियों की आर्थिक दशा का आकलन अवश्य किया जाता है। इसके अतिरिक्त उस कम्पनी की आर्थिक स्थिति का आकलन किया जाता है जिसकी प्रतिभूतियाँ बन्धक के रूप में रखी जा रही है।

(vi) अभिगोपन– अभिगोपन से आशय उस अनुबन्ध से है जिसके अनुसार अभिगोपक इस बात के लिये सहमत होता है कि कम्पनी के निर्गमित समस्त अंशों अथवा उसके किसी भाग को जनता द्वारा न खरीदने की दशा में निर्धारित कमीशन के बदले वह स्वयं खरीद लेगा। इस प्रकार अंश निर्गमन करने वाली कम्पनी को पूँजी संग्रहण की गारण्टी प्राप्त हो जाती है। प्रायः अनेक वाणिज्यिक बैंकों द्वारा अंशों एवं ऋण पत्रों के अभिगोपन का कार्य किया जाता है। औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में अभिगोपन एक ऐसा कार्य है जिसके माध्यम से बैंक औद्योगिक विकास को गति प्रदान करते हैं।

(vii) औद्योगिक रूग्णता में सहायक– अनेक वाणिज्यिक बैंक औद्योगिक रूग्णता से ग्रसित इकाइयों के पुनरूत्थान एवं पुर्नस्थापन की दिशा में सक्रिय सहयोग प्रदान कर रहे हैं। इस प्रकार इन बैंकों द्वारा रूग्ण इकाइयों को पुर्नवित्तीयन (Refinancing) की सुविधा प्रदान करके औद्योगिक रूग्णता का उपचार किया जाता है।

6.9 जन निक्षेप

जनता द्वारा की गई बचतों को बैंक में जमा करने की प्रक्रिया को जन निक्षेप कहा जाता है। किसी भी देश की जनता जब अपनी छोटी–छोटी बचतों को बैंक में जमा करती है तो उससे पूँजी का निर्माण (Capital Formation) होता है। जिस देश की जनता में बचत की प्रवृत्ति जितनी अधिक होगी उस देश में पूँजी निर्माण की गति उतनी ही तीव्र होगी। जन निक्षेप प्रायः बैंकों में खुले विभिन्न प्रकार के खातों के माध्यम से किये जाते हैं। इन बैंकों पर भारतीय रिजर्व बैंक का कठोर नियंत्रण रहता है। सन् 1969 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा 14 बडे बैंकों का राष्ट्रीय कर दिया गया।

सन् 1980 में 6 बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण एवं स्टेट बैंक तथा उसके 7 सहायक बैंकों के पूर्व में किये गये राष्ट्रीयकरण के पश्चात वर्तमान में राष्ट्रीय कृत बैंकों की संख्या 27 हो गई है। न्यू बैंक ऑफ इंडिया का पंजाब नेशनल बैंक में विलय हो चुका है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उपरान्त जनता का इन बैंकों के प्रति विश्वास बढ़ा है तथा वे अब निर्भय होकर बैंकों में निक्षेप करते हैं। इसके बदले उन्हें ब्याज एवं मूलधन वापसी की गारण्टी प्राप्त होती है। सावधि जमा के रूप में स्वीकार निक्षेप बैंकों द्वारा विभिन्न औद्योगिक इकाइयों को ऋण के रूप में प्रदान किया जाता है। परिणामस्वरूप विभिन्न औद्योगिक संगठनों को अल्पकालीन एवं मध्यमकालीन ऋण सुविधा इन बैंकों के माध्यम से सहज ही उपलब्ध हो जाती है। इन बैंकों की भूमिका वर्तमान समय में औद्योगिक विकास हेतु रक्तवाहिनी नलिका के समान है। जिस प्रकार मानव शरीर की संरक्षा रक्त वाहिनी नलिकाओं के माध्यम से होती है उसी प्रकार बैंक औद्योगिक विकास हेतु पूँजी की व्यवस्था करके अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करते हैं।

6.10 लाभों का प्रतिनिधायन

प्रायः कम्पनियों द्वारा प्रत्येक वर्ष अंश धारकों के लिये लाभांश की घोषणा की जाती है। समता अंशधारकों को देय लाभांश का कुछ भाग लाभांश के रूप में न वितरित कर कम्पनी द्वारा अपने विकास, विस्तार एवं नवीनीकरण हेतु प्रति धारित कर लिया जाता है, इस प्रक्रिया को लाभों का प्रतिनिधायन कहा जाता है। लाभों का पुनर्विनियोग (Reinvestment) सार्वजनिक कम्पनियों के वित्त पोषण का महत्वपूर्ण आन्तरित साधन होता है। यह पुनर्विनियोग ह्रास कोष, सुरक्षित कोष, विकास कोष, प्रतिस्थापन कोष, इत्यादि मदों के रूप में किया जाता है। प्रायः कम्पनियों के संचालक मंडल द्वारा कम्पनी में हुये शुद्ध लाभों में से करों के रूप में देय धनराशि अलग करके लाभों का कुछ भाग विभिन्न कोषों में जमा कर लिया जाता है तथा अवशिष्ट भाग समता अंश धारकों के मध्य लाभांश के रूप में वितरित कर दिया जाता है। इस प्रकार कुछ वर्षों पश्चात इन कोषों में पर्याप्त धन जमा हो जाता है जिसका प्रयोग कम्पनी द्वारा उद्देश्य विशेष की पूर्ति हेतु स्थापित कोषों के माध्यम से किया जाता है।

लाभ के कुछ भाग को कम्पनी द्वारा बचाकर उसका विनियोग करना कम्पनी के विकास एवं विस्तार हेतु अत्यन्त आवश्यक होता है। अंश धारकों को अल्पकाल में अपने लाभांश के कुछ भाग का त्याग अवश्य करना पड़ता है। किन्तु दीर्घकाल में उन्हें किसी भी प्रकार का नुकसान नहीं होता, क्योंकि संगठन में सृजित सम्पत्तियों के रूप में सदस्यों को वह लाभ मिल जाता है। भविष्य में कम्पनियों द्वारा प्रतिधारित आय को बोनस अंशों के रूप में प्रदान भी किया जा सकता है। लाभों के प्रतिनिधायन से दीर्घकाल में कम्पनी की उत्पादन क्षमता में अभिवृद्धि होती है, परिणामस्वरूप अंश धारकों को भविष्य में अधिक लाभांश मिलने की सम्भावना होती है।

अतः लाभों का प्रतिनिधायन कम्पनियों की आन्तरिक वित्तीयन व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधार होता है।

6.11 व्यापारिक साख

वर्तमान समय में गैर बैंकिंग संसाधन (Non Banking Resources) के रूप में व्यापारिक साख की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। व्यापारिक साख का उपयोग अल्पकालीन साख के रूप में प्रायः खुदरा व्यापारी थोक व्यापारी एवं निर्माताओं द्वारा किया जाता है। व्यापारिक साख के सृजन में उधार लेन देन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रायः निर्माताओं द्वारा अत्यल्प अवधि (15 दिन से 90 दिन) के लिये उधार

PLONE-029

माल का विक्रय किया जाता है इस अवधि के लिये निर्माता कोई ब्याज नहीं लेता। इस प्रकार क्रेता उधार खरीदे गये माल को बेचकर निर्धारित अवधि में निर्माता को भुगतान कर देता है। इस प्रक्रिया से व्यापारिक साख का सृजन हो जाता है तथा इसके माध्यम से अपेक्षाकृत कम पूंजी वाले व्यवसायी भी अपना व्यवसाय सहजता पूर्वक संचालित कर सकते हैं।

व्यापारिक साख की उपयोगिता लघु आकार वाले संगठनों के लिये अत्यधिक होती है। क्योंकि लघु एवं मध्यम आकार वाले संगठनों के पास तरलता (Liquidity) की कमी रहती है। बृहद आकार वाले संगठनों एवं निर्माताओं के लिये भी यह एक सुलभ साधन है जिसके माध्यम से वे कच्चा माल इत्यादि अल्पकाल हेतु उधार प्राप्त कर लेते हैं। व्यापारिक साख के माध्यम से कार्यशील पूँजी की आवश्यकता में कमी की जा सकती है। प्रायः निर्माताओं को सप्लायर्स द्वारा स्वीकृत साख अवधि (Credit Period) उस अवधि से अधिक होती है जो निर्माताओं द्वारा अपने ग्राहकों को उधार विक्रय हेतु प्रदान की जाती है। इस प्रकार उधार विक्रय एवं सप्लायर्स साख के मध्य साम्य बना रहता है, तथा वे एक दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करते हैं।

6.12 आढ़त

फैक्टरिंग (आढ़त) प्राप्यों के प्रबन्ध का एक वित्तीय विकल्प है। सामान्य शब्दों में यह उधार बिक्री को नकद में परिवर्तित करने की प्रक्रिया है। फैक्टरिंग के अन्तर्गत कोई वित्तीय संगठन (फैक्टर) किसी कम्पनी के प्राप्य खातों को क्रय कर लेता है। वित्तीय संगठन द्वारा उस कम्पनी के प्राप्यों का 80 प्रतिशत से 90 प्रतिशत तक भुगतान समझौते के समय कर दिया जाता है। शेष (10 से 20 प्रतिशत) अवशेष धनराशि का भुगतान फैक्टरिंग कम्पनी द्वारा ग्राहक से कर्ज की वापसी पर अपने ग्राहक को भुगतान कर दिया जाता है। ग्राहक से ऋण वसूली का कार्य या तो फैक्टर संगठन द्वारा अथवा ग्राहक द्वारा किया जाता है। फैक्टरिंग के अन्तर्गत प्राप्य खाते उत्पाद अथवा सेवा के रूप में हो सकते हैं।

उदाहरणस्वरूप जब किसी व्यापारी द्वारा उधार माल किसी ग्राहक को बेचा जाता है, उस दशा में व्यापारी फैक्टरिंग सुविधा प्रदान करने वाले वित्तीय संगठन से 80 – 90 प्रतिशत तक धनराशि बीजक प्रस्तुत कर प्राप्त कर लेता है। ग्राहक से पैसा प्राप्त होने पर फैक्टर संगठन द्वारा अवशेष राशि का भुगतान व्यापारी को कर दिया जायेगा।

विशेषतायें–

(i) फैक्टरिंग की सुविधा प्रायः अल्पकाल (90 से 150 दिनों) के लिये प्राप्त होती है।

(ii) अल्पकालीन ऋण के अन्य माध्यमों की तुलना में फैक्टरिंग महंगी प्रक्रिया है।

(iii) अशोध्य ऋणों को फैक्टरिंग व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता।

(iv) फैक्टरिंग आर्थिक चिट्ठे के बाहर की ऋण व्यवस्था है।

(vii) फैक्टरिंग की लागत प्रायः 1.5 प्रतिशत से 3 प्रतिशत प्रतिमाह तक हो सकती है।

6.13 विनिमय विपत्रों पर कटौती

व्यापार में सौदे नकद अथवा उधार दो रूपों में हो सकते हैं। उधार सौदे साख पर आधारित होते हैं। वस्तु का क्रेता उधार बिक्री में विक्रेता को एक निर्धारित अवधि में बिक्री की राशि के भुगतान का आश्वासन देता है। यह आश्वासन लिखित अथवा मौखिक दोनों रूपों में हो सकता है। लिखित आश्वासन के एक प्रारूप को विनिमय विपत्र (Bills of exchange) की संज्ञा दी जाती है।

विनिमय साक्ष्य पत्र अधिनियम 1881 की धारा 5 के अनुसार, ''विनिमय विपत्र से आशय उस प्रलेख से है, जिसमें इसके लेखक द्वारा हस्ताक्षरित लिखित एवं शर्त रहित आज्ञा पत्र किसी अन्य व्यक्ति को प्रदान किया जाता है कि वह उसमें उल्लिखित धन एक निश्चित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार प्रपत्र धारक को भुगतान किया जाय।'' साधारण तौर पर विनिमय विपत्र देनदार द्वारा स्वीकार किया जाता है। किन्तु कभी–कभी देनदार की ओर से बैंक अपनी स्वीकृति प्रदान कर देते हैं। ऐसी दशा में विनिमय विपत्र का लेखक (लेनदार) निर्धारित अवधि में अथवा इसके पूर्व से नकदी प्राप्त कर सकता है, इसके लिये बैंक कटौती के रूप में कुछ धनराशि काट लेते हैं तथा निर्धारित अवधि पर देनदारों से अथवा प्रपत्र स्वीकार करने वाले पक्ष से बैंकों को धन वापस हो जाता है।

इस प्रक्रिया से बैंक अपने ग्राहक कम्पनी के प्राप्य बिलों का भुगतान कटौती के साथ कर देते हैं। इस प्रकार ग्राहकों को वर्तमान में ही अल्पकालीन वित्त प्राप्त हो जाता है तथा परिपक्वता तिथि आने पर विपत्र स्वीकार करने वाले पक्ष द्वारा बिल का पूर्ण अंकित मूल्य बैंक को प्रदान कर दिया जाता है। इस प्रकार मात्र कटौती के नुकसान पर ग्राहक को वित्त सुविधा प्राप्त हो जाती है।

6.14 बैंक अधिविकर्ष

बैंक अधिविकर्ष की सुविधा बैंक द्वारा अपने जमाकर्ताओं (Depositers) को अल्पकालीन अग्रिम के रूप में प्रदान की जाती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत चालू खाते में ग्राहक का जितना रूपया जमा रहता है, उससे कुछ अधिक धनराशि निकालने का अधिकार ग्राहक को दे दिया जाता है। अर्थात बैंक इस बात की सहमति देता है कि अधिविकर्ष की निश्चित सीमा के अन्दर बैंक ग्राहक द्वारा लिखे गये चेकों का भुगतान उसके खाते में शून्य बाकी (Zero Balance) होने पर भी करता रहेगा। इससे ग्राहक चेक के अनादृत (Dishonour) होने पर आने वाली परेशानी से बच जाता है। साथ ही अल्पकाल के लिये साख सुविधा भी उपलब्ध हो जाती है। ग्राहक को अधिविकर्ष सुविधा प्रदान करने हेतु बैंक द्वारा समुचित प्रतिभूति (Security) ली जाती है। ग्राहक द्वारा आवश्यकता पड़ने पर इस अधिविकर्ष सुविधा का लाभ उठाया जाता है तथा उसे एक ही बार में समस्त स्वीकृत ऋण लेने की आवश्यकता नहीं होती है। वस्तुतः यह सुविधा नकदी जमा करने वाले खाता धारकों को ही प्रदान की जाती है।

6.15 नकद साख

नकद साख व्यवस्था से आशय ऐसी व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहकों को बॉण्डस अथवा अन्य प्रतिभूतियों के आधार पर एक निश्चित मात्रा तक ऋण लेने का अधिकार प्रदान करता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्य तौर पर एक निश्चित अवधि के लिये बैंक ग्राहक की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं का अनुमान

लगाकर उसकी पूर्ति हेतु आवश्यक धन रखती है। ग्राहक द्वारा केवल उसी धनराशि पर ब्याज का भुगतान किया जाता है जो ग्राहक द्वारा निकाली जाती है। इस प्रकार बैंक को उस धनराशि पर ब्याज का नुकसान होता है जो ग्राहक द्वारा नहीं प्रयोग में लाई जाती। इस हानि से बचने हेतु बैंक प्रायः नकद साख पर ऊँची ब्याजदर रखते हैं, अथवा ग्राहक द्वारा अप्रयोज्य राशि पर भी निर्धारित दर से आधी दर पर ब्याज लेती है।

ऋण प्राप्त करने के अनेक स्रोतों में नकद साख (Cash credit) व्यवस्था भी बैंकों द्वारा प्रदान की जाती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ऋणदाता बैंक अथवा वित्तीय संगठन एक निश्चित धनराशि स्वीकृत कर ऋणी के खाते में जमा कर देता है जिसे ऋणी अपनी आवश्यकतानुसार ऋण दाता बैंक द्वारा निश्चित सीमा तक निकाल सकता है।

उदाहरणस्वरूप राम को कच्चे माल के भुगतान हेतु प्रतिदिन रू0 115000 की आवश्यकता है किन्तु बैंक द्वारा राम को रू0 100000 की नकद साख सुविधा प्रदान की गई है ऐसी दशा में राम प्रतिदिन रू0 100000 बैंक से आहरित कर सकता है उसे प्रतिदिन रू0 100000 पर ही ब्याज देना होगा।

नकद साख सुविधा प्रायः संगठनों के अलपकालीन ऋण सुविधा हेतु प्रदान किये जाते हैं। इन संगठनों की कार्यशील पूँजी (working capital) का प्रबन्ध नकद साख के माध्यम से किया जाता है।

6.15.1 नकद साख सुविधा की विशेषतायें

(i) ऋण प्राप्त करने की अल्पकालीन व्यवस्था है।

(ii) नकद साख सुविधा अच्छी साख वाले व्यवसायियों को बैंकों द्वारा प्रदान की जाती है।

(iii) इसके माध्यम से संगठन की कार्यशील पूँजी की व्यवस्था की जाती है।

(iv) ऋणी द्वारा नकद साख खाते से बैंक द्वारा निश्चित सीमा तक एक निश्चित समयावधि के लिये आहरण किया जा सकता है।

6.16 सारांश

वित्तीय आयोजन के अन्तर्गत पूँजी के स्वरूप का निर्धारण अत्यन्त कठिन कार्य होता है। जहाँ स्थायी लागत वाली पूँजी हानि होने पर संगठन पर भार स्वरूप हो जाती है वहीं परिवर्तनशील लागत वाली पूँजी संगठन के लाभों के विभाजन की कारक बनती है। ऐसी दशा में अनुकूलतम पूँजी ढाँचे का निर्धारण संगठन के लिये बहुत बड़ी चुनौती होती है। पूँजी ढाँचे के निर्धारण के उपरान्त पूँजी सम्वर्द्धन की प्रचलित पद्धतियों में से न्यूनतम लागत वाली पद्धति का चयन करना होता है, पूँजी प्राप्ति के विभिन्न साधनों में, अंशों का निर्गमन, ऋण पत्रों का निर्गमन, वित्तीय संगठनों से ऋण, वाणिज्यिक बैंकों से ऋण, जननिक्षेप लाभों के प्रतिनिधायन, व्यापारिक साख फैक्टरिंग, बैंक अधिविकर्ष, नकद साख इत्यादि माध्यमों से वित्त की व्यवस्था की जा सकती है। इनमें से कुछ माध्यम दीर्घकालीन ऋण तथा अन्य अनेक माध्यम अल्पकालीन ऋण सुविधा प्रदान करते हैं।

वस्तुतः किसी भी संगठन के बेहतर संचालन हेतु संगठन की वित्तीयन व्यवस्था का सुदृढ़ होना आवश्यक होता है। ऋण प्राप्त करने से पूर्व ऋण की लागत को ध्यान रखना आवश्यक होता है। अपेक्षाकृत कम लागत वाले ऋणों से संगठन की लाभदायकता में वृद्धि की जा सकती है। वहीं दूसरी ओर अधिक लागत वाले ऋण संगठन के लिये भार स्वरूप हो सकते हैं। इसी प्रकार कतिपय माध्यमों जैसे ऋण पत्रों, बैंक ऋण, इत्यादि माध्यमों से प्राप्त पूँजी को एक निश्चित अवधि के उपरान्त लौटाना आवश्यक होता है। किन्तु समता अंशों के निर्गमन से प्राप्त पूँजी को वापस करने की कोई बाध्यता नहीं होती। वस्तुतः पूँजी ढॉचे की संरचना संगठन की प्रकृति कार्य क्षमता, एवं भावी नियोजन के आधार पर की जानी चाहिये।

6.17 उपयोगी शब्दावली

- **समता पर व्यापार**– जब संगठन में स्वामितव पंजी क मात्रा अत्यल्प रखकर अधिकाँश पूंजी दीर्घकालीन ऋणो के माध्यम से प्राप्त की जाती है तो ऐसी स्थिति को समता पर व्यापार कहा जाता है।
- **अंश**– अंश से आशय पूंजी की अविभाज्य इकाई से है।
- **पूर्वाधिकार अंश**– पूर्वाधिकार अंश वे है, जिनके धारक लाभांश एवं पूंजी वापसी में वरीयता प्राप्त करते है।
- **रुमता अंश**– रुमता अश वे है जिनके धारक संगठन में स्वामित्व ग्रहण करते है इन्हे लाभांश एवं पूंजी वापसी में वरीयता नहीं प्राप्त होती।
- **रुम मूल्य** – रुम मूल्य से आशय उनके अंकित मूल्य से है।
- **प्रीमियम पर निर्गमन**– अंशो के रुपमूल्य से कम मूल्य पर निर्गमन Cv~Cs पर निर्गमन कहलाता है।
- **ऋण पत्र**– ऋण पत्र से आषय उस प्रमाण पत्र से है जिसे कम्पनी भी सर्वभौमिक मुद्रा के अधीन निर्गमित्र किया जाता है, तथा कम्पनी द्वारा पूर्वनिष्चित ब्याज दर से इसके धारक को ब्याज का भुगतान करना पड़ता है।
- **निक्षेप**– निक्षेप से अभिप्राय बैंको में जमा राषि से है।
- **अभिगोपन**– अभिगोपन से आषय उस प्रक्रिया से है। जिसके अन्तर्गत कम्पनी द्वारा निर्गमित अंशो को जनता द्वारा न क्रम करने की दशा में अभिगोपक द्वारा स्वयं उन अंषो को खरीदने की गारण्टी दी जाती है।
- **आढ़त**– आढ़त प्राप्यो के प्रबन्ध का एक वित्तीय विकल्प है। अर्यात् यह उधार बिक्री को नकद में परिवर्तित करने की प्रक्रिया है।
- **बैंक अधिविकर्ष**– बैंक अधिविकर्ष से अभिप्राय बैंको द्वारा प्रदत्त ऐसी सुविधा से है। जिसके अर्न्तगत चालू खाते में जमा राशि से अधिक निर्धारित सीमा तक ग्राक को पैसा निकालने की सुविधा प्राप्त होती है। जिसपर बैंको द्वारा ब्याज लिया जाता है।
- **नकद साखः**– नकद साख से आषय ऐसी व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहको को बॉण्डस अथवा अन्य प्रतिभूतियों के आधार पर एक निष्चित मात्रा तक ऋण प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया जाता है।

6.18 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1 पूँजी ढॉचे से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न 2 अनुकूलतम पूँजी ढॉचा क्या है?

प्रश्न 3 पूँजी ढॉचे के निर्धारण में आन्तरिक तत्वों की क्या भूमिका होती है?

प्रश्न 4 अंश निर्गमन से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न 5 अंश एवं ऋण पत्र में अन्तर बताइये।

प्रश्न 6 समता एवं पूर्वाधिकार अंश पर टिप्पणी लिखो।

प्रश्न 7 वाणिज्यिक बैंकों की ऋण प्रदान करने में क्या भूमिका है।

प्रश्न 8 जन निक्षेप से आप क्या समझते हैं।

प्रश्न 9 व्यापारिक साख को परिभाषित कीजिये।

प्रश्न 10 फैक्टरिंग क्या है? इसकी विवेचना कीजिये।

प्रश्न 11 विनिमय विपत्रों पर कटौती से आप क्या समझते हैं।

प्रश्न 12 बैंक अधिविकर्ष एवं नकद साख पर टिप्पणी लिखो।

प्रश्न 13 पूँजी ढॉचे के निर्धारक तत्वों की विवेचना कीजिये, क्या अनुकूलतम पूँजी ढॉचे की संरचना करना व्यावहारिक तौर पर सम्भव होता है?

प्रश्न 14 पूँजी सम्वर्द्धन हेतु उपलब्ध पद्धतियों में दीर्घकालीन पूँजी सुलभ कराने वाले संसाधनों की विवेचना कीजिये।

प्रश्न 15 अंशों से आप क्या समझते हैं ये कितने प्रकार के होते हैं। एक संगठन स्वामी के रूप में आप किस प्रकार के अंशों के निर्गमन को वरीयता देंगे और क्यों?

प्रश्न 16 ऋण पत्रों के माध्यम से प्राप्त ऋण अंशों के निर्गमन से प्राप्त पूँजी की तुलना में श्रेष्ठ है अथवा नहीं कारण सहित विवेचना कीजिये।

प्रश्न 17 वाणिज्यिक बैंक किन किन रूपों में वित्तीय सुविधा प्रदान करते हैं।

प्रश्न 18 लाभों के प्रतिनिधायन से आप क्या समझते हैं आपकी दृष्टि में लाभों का प्रतिनिधायन संगठन के लिये अनुकूल होता है अथवा नहीं।

प्रश्न 19 फैक्टरिंग क्या है उचित उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट कीजिये, क्या फैक्टरिंग का लेखा आर्थिक चिट्ठे में किया जा सकता है।

प्रश्न 20 बैंक अधिविकर्ष एवं नकद साख सुविधा में अन्तर स्पष्ट कीजिये। व्यवसायी के रूप में आप किस सुविधा का लाभ लेना पसन्द करेंगे।

कुछ उपयोगिता पुस्तके–

1. वित्तीय प्रबन्धन– डॉ0 आर0के0 पाण्डेय, लोकभारती, इलाहाबाद।
2. वित्तीय प्रबन्ध– डॉ0 आर0एस0 कुलश्रेष्ठ, साहित्य भवन आगरा।
3. Financial Management- I.M. Pandey (Vikas Publishing House Delhi).
4. वित्तीय प्रबन्ध– डॉ0 एस0पी0 गुप्ता, साहित्य भवन आगरा।
5. Financial Management, Ravi M. Kishore, Taxmann's Publication.

इकाई–7 दीर्घकालीन वित्त के साधन एवं अभिगोपन

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्‌देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 दीर्घकालीन वित्त की प्रकृति एवं महत्ता

7.3 दीर्घकालीन वित्त के साधन (पूँजी बाजार)

- 7.3.1 अंश पूँजी
- 7.3.2 समता अंश पूँजी के लाभ
- 7.3.3 समता अंश पूँजी के दोष
- 7.3.4 पूर्वाधिकार अंश
- 7.3.5 पूर्वाधिकार अंशों के लाभ
- 7.3.6 पूर्वाधिकार अंशों के दोष
- 7.3.7 संचित कोष

7.4 ऋण पूँजी

- 7.4.1 ऋण पत्रों की विशेषतायें
- 7.4.2 ऋण पत्रों से लाभ
- 7.4.3 ऋण पत्रों से हानियाँ

7.5 विशिष्ट वित्तीय संस्थायें

- 7.5.1 भारत का औद्योगिक विकास बैंक के कार्य
- 7.5.2 भारत का औद्योगिक वित्त निगम
- 7.5.3 सहायता का स्वरूप
- 7.5.4 भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम
- 7.5.5 सहायता का स्वरूप
- 7.5.6 भारत का औद्योगिक विनियोग बैंक
- 7.5.6 सहायता का स्वरूप
- 7.5.7 भारत का औद्योगिक विनियोग बैंक

7.5.8 सहायता का स्वरूप

7.6 पट्टाधारक कम्पनी

7.7 विदेशी संसाधन

7.7.1 विदेशी सहयोग का स्वरूप

7.7.2 नवीन औद्योगिक नीति एवं विदेशी सहयोग

7.7.3 विदेशी सहायता के खतरे

7.7.4 विदेशी सहायता की आवश्यकता

7.8 प्रतिधारित आय

7.8.1 लाभों के प्रतिधारण की आवश्यकता

7.9 अभिगोपन

7.9.1 भारत में प्रतिभूतियों का अभिगोपन

7.10 सारांश

7.11 उपयोगी शब्दावली

7.12 महत्वपूर्ण प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप इस योग्य हो सकेंगे किः—

- दीर्घकालीन वित्त के स्रोतो को जान सकेगें,
- इसकी प्रकृति एवं महत्ता को साल शब्दो में विवेचित कर सकेगें,
- पूँजी बाजार की अवधारणा को आत्मसात कर सकेंगे,
- कतिपय विशिष्ट वित्तीय संस्थायें, लीजिंग कम्पनीज एवं वित्त प्राप्ति के विदेशी स्रोत के बारे में ज्ञानार्जन सकेंगे, तथा
- व्यवसाय में होने वाले लाभों का पुनर्विनियोग एवं अपलेखन इत्यादि के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

7.1 प्रस्तावना

कम्पनियों के वित्तीय संसाधनों का वर्गीकरण स्वामिगत एवं ऋणगत साधनों के रूप में करने के साथ ही अवधि के आधार पर दीर्घकालीन मध्यमकालीन एवं अल्पकालीन तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। वित्त के दीर्घकालीन साधनों के माध्यम से संगठन की आधारभूत संरचना का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार के

साधन संगठन को सम्पूर्ण जीवनकाल के लिये उपलब्ध होते हैं। केवल कम्पनी के समापन अथवा अवसायन ;स्पुनपकंजपवदद्ध की दशा में ही इसके पुर्नभुगतान का प्रश्न उठता है। संगठन के दीर्घकालीन संसाधनों में अंशों व ऋणपत्रों का निर्गमन ही प्रमुख साधन हैं। अनेक विशिष्ट वित्तीय संगठनों द्वारा भी दीर्घकालीन वित्तीयन की सुविधा प्रदान की जाती है किन्तु इस प्रकार के ऋणों का पुनर्गठन संगठन को अवश्य ही करना पड़ता है। दीर्घकालीन वित्त को प्रायः संगठन की दीर्घकालिक आवश्यकयताओं की पूर्ति हेतु प्रयोग करना श्रेयस्कर होता है जैसे भूमि, भवन, मशीनरी, नवीन तकनीक इत्यादि।

7.2 दीर्घकालीन वित्त की प्रकृति एवं महत्ता

प्रायः किसी भी संगठन के सुचारू संचालन हेतु दो प्रकार के वित्तीयन की आवश्यकता होती है। 1. दीर्घकालीन 2. अल्पकालीन वित्त। दीर्घकालीन वित्त से आशय उस वित्तीय व्यवस्था से है जिसका प्रयोग संगठन में दीर्घकाल तक (7 वर्ष से अधिक) होता रहेगा। इस प्रकार के वित्त से संगठन की आधारभूत संरचना का निर्माण किया जाता है जैसे फैक्टरी के लिये भूमि, भवन, प्लाण्ट, मशीनरी व अन्य लम्बे समय तक प्रयोग में आने वाले तत्व। दीर्घकालीन वित्त के माध्यम से प्रायः संगठन में स्थायी सम्पत्तियों का सृजन किया जाता है।

इसके विपरीत अल्पकालीन वित्त के द्वारा संगठन की कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पूर्ण की जाती है। इनसे चालू सम्पत्तियों का सृजन होता है। प्रायः अल्पकालीन पूँजी एक वित्तीय वर्ष के अन्दर नकदी में परिवर्तित होती रहती है, इससे कच्चा माल, ईधन, वेतन, किराया, मजदूरी, टेलीफोन, व अन्य संचालन व्ययों का भुगतान किया जाता है।

दीर्घकालीन पूँजी में तरलता (Liquidity) की मात्रा प्रायः नहीं रहती। क्रीत सम्पत्ति को बेचकर ही इसे नकदी में परिवर्तित किया जा सकता है।

किसी भी संगठन में दीर्घकालीन वित्तीयन व्यवस्था अंश पूँजी, ऋण पूँजी, व प्रतिधारित आय (Retained earnings) के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है।

अर्थात किसी भी संगठन की आधारशिला दीर्घकालीन पूँजी के माध्यम से रखी जाती है तथा संगठन का संचालन एवं लाभदेयकता अल्पकालीन पूँजी के माध्यम से सुनिश्चित होती है।

7.3 दीर्घकालीन वित्त के साधन व पूँजी बाजार

दीर्घकालीन वित्त जैसा कि नाम से ही इसकी प्रकृति के बारे में समझा जा सकता है। दीर्घकालीन से आशय लम्बे समय तक संगठन में प्रयोग की जाने वाली पूँजी से है। इनसे संगठन की स्थायी सम्पत्तियों का सृजन होता है। प्रश्न उठता है कि यदि संग्रहीत पूँजी का भुगतान एक या दो वर्षों के उपरान्त करना पड़े तो संगठन का अस्तित्व समाप्त करके ही भुगतान किया जा सकता है।

अतः हमें इस प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है जिसके भुगतान की कोई समय सीमा न हो तथा यदि समय सीमा हो भी तो वह अवधि 7 वर्ष से अधिक की हो। उपर्युक्त विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में हम दीर्घकालीन पूँजी के अन्तर्गत अंश पूँजी, ऋण पूँजी, व प्रतिधारित लाभ इत्यादि को रख सकते हैं। चूँकि इन माध्यमों से संग्रहीत पूँजी का भुगतान अल्पकाल में नहीं करना पड़ता।

7.3.1 अंश पूँजी

दीर्घकालीन पूँजी संग्रह का एक सर्वमान्य साधन अंश पूँजी है। अंश पूँजी को हम दो रूपों में प्राप्त कर सकते है। 1. समता अंश पूँजी 2. पूर्वाधिकार अंश पूँजी।

पूर्वाधिकार अंश पूँजी वह होती है जिसके धारकों को लाभांश एवं पूँजी वापसी में वरीयता प्राप्त होती है। पूर्वाधिकार अंशों के माध्यम से संग्रहीत पूँजी की वापसी करना पड़ता है।

समता अंश पूँजी कम्पनी में पूँजी संरचना का आधार होती है। इसके धारक कम्पनी के स्वामी (owner) होते हैं। इसीलिये समता अंश पूँजी को स्वामित्व पूँजी (owned capital) भी कहा जाता है। कम्पनी की सम्पत्तियों एवं लाभों में इनका असीमित हित निहित होता है। पूर्वाधिकारियों को लाभांश का भुगतान एवं ऋणों पर ब्याज के भुगतान के पश्चात अवशिष्ट लाभ समता अंश धारकों में विभाजित किया जाता है।

सामान्य तौर पर समता अंशधारक ही कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं। इन्हें साधारण सभा में भाग लेने व मतदान करने तथा प्रबन्ध में अप्रत्यक्ष सहभागिता का अधिकार होता है। समता अंशधारकों को लाभांश मिलने की अनिवार्यता नहीं होती तथा इनकी पूँजी वापसी की भी कम्पनी द्वारा कोई गारण्टी नहीं दी जाती। यह विनियोजकों के लिये अत्यन्त जोखिमपूर्ण तथा कम्पनी के लिये जोखिम रहित पूँजी होती है। दूसरे शब्दों में समता अंश पूँजी संगठन के लिये रक्षात्मक भूमिका का निर्वहन करती है, जो हानि व विपरीत स्थितियों में स्वयं नष्ट होकर कम्पनी के अस्तित्व को कायम रखती है।

7.3.2 समता अंश पूँजी के लाभ

(i) समता अंश पूँजी स्थायी पूँजी होती है, इसे लौटाने की बाध्यता नहीं होती।

(ii) लाभांश की दर पूर्व निश्चित न होने के कारण कम्पनी लोचपूर्ण लाभांश नीति का पालन कर सकती है।

(iii) लाभांश की अनिवार्यता न होने के कारण लाभों के पुनर्विनियोग (Retained earning) द्वारा पूँजी की व्यवस्था की जा सकती है।

(iv) समता अंशधारक कम्पनी के स्वामी होते हैं। कम्पनी में होने वाले लाभों की मात्रा में वृद्धि होने पर आय में वृद्धि की सम्भावना रहती है।

(v) समता अंशधारकों को मतदान का अधिकार होने के कारण वे संगठन के प्रबन्ध में सक्रिय सहभागिता रखते हैं।

7.3.3 समता अंश पूँजी के दोष

(i) समता अंश हस्तान्तरणीय होते हैं इन्हें आसानी से खरीदा बेचा जा सकता है। अतः कभी–कभी कुछ स्थायी तत्व बहुमत अंश खरीदकर कम्पनी का नियंत्रण एवं प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेते हैं।

(ii) व्यवसाय में अधिक लाभ होने की दशा में समता अंशधारी अधिक लाभांश प्राप्त करेंगे अतः इस पूँजी की लागत ऋण पूँजी की तुलना में अधिक हो सकती है।

(iii) अति पूँजीकरण (Over capitalisation) की दशा में पूर्वाधिकार अंश पूँजी व ऋण पूँजी का पुर्नभुगतान करके अति पूँजीकरण से बचा जा सकता है किन्तु समता अंशों की संख्या में कमी नहीं की जा सकती है।

(iv) स्थायी आय एवं कम जोखिम की प्रत्याशा वाले विनियोजकों को इससे निराशा मिलती है।

(v) मन्दी काल में लाभ में कमी तथा अंशों के वास्तविक मूल्य में भी कमी आ जाती है जिससे अंशों के मूल्य शून्य होने का खतरा बना रहता है।

7.3.4 पूर्वाधिकार अंश

पूर्वाधिकार अंशधारक वे होते हैं जिन्हें कम्पनी के लाभों में पूर्वाधिकार प्राप्त होता है इन्हें पूर्व निर्धारित दर से लाभांश का भुगतान एवं कम्पनी के समापन पर पूँजी वापसी का भी पूर्वाधिकार प्राप्त होता है। पूर्वाधिकार अंशधारकों को लाभांश का भुगतान ऋण पत्र धारकों के ब्याज के भुगतान के तत्काल बाद किया जाता है। कम्पनी के अवसायन ;स्पुनपकंजपवदद्ध की दशा में ऋण पत्रों का भुगतान करने के पश्चात पूर्वाधिकारी अंशधारकों की पूँजी वापस की जाती है। पूर्वाधिकार अंश धारक कम्पनी के स्वामी नहीं होते तथा कतिपय विशेष स्थितियों को छोड़कर इन्हें मतदान का अधिकार नहीं होता।

7.3.5 पूर्वाधिकार अंशों के लाभ

(i) पूँजी प्राप्ति हेतु कम्पनी को व्यापक बाजार उपलब्ध हो जाता है।

(ii) लाभांश दरें पूर्व निश्चित होती है अतः कम्पनी पर अतिरिक्त प्रभार नहीं पड़ता।

(iii) अंशधारकों के लिये निश्चित एवं नियमित आय का साधन है।

(iv) कम्पनी के समापन पर पूँजी वापसी में प्राथमिकता होती है।

(v) मंदी काल में पूर्वाधिकार अंश धारकों की आय व पूँजी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

7.3.6 पूर्वाधिकार अंशों के दोष

(i) कम्पनी को लाभांश भुगतान हेतु एक निश्चित एवं स्थिर दायित्व वहन करना पड़ता है।

(ii) अपेक्षाकृत कम लाभ वाले वर्षों में पूर्वाधिकार अंशों पर लाभांश भुगतान के पश्चात समता अंशधारकों को अत्यल्प लाभांश प्राप्त होता है।

(iii) इन्हें मतदान का अधिकार नहीं होता, अर्थात प्रबन्ध में इनकी कोई सहभागिता नहीं होती।

(iv) अधिक लाभ वाले वर्षों में भी इन्हें निश्चित दर से ही लाभांश का भुगतान किया जाता है।

PLONE-029

7.3.7 संचित कोष

पूँजी बाजार से पूँजी प्राप्त करने के प्रचलित माध्यमों से इतर कम्पनी के लिये संचित कोष (Reserve Fund) भी दीर्घकालीन पूँजी सृजन के वाहक होते हैं। इन कोषों का निर्माण प्रतिवर्ष कम्पनी को होने वाले लाभों में से एक निश्चित प्रतिशत का प्रावधान करके किया जाता है। विभिन्न प्रकार के संचित कोष, दीर्घकालीन कोषों के महत्वपूर्ण आन्तरिक साधन होते हैं। पूँजीगत कोष (Capital Reserve) स्वामित्व पूँजी के ही एक भाग होते हैं जैसे ह्रास कोष, संचय कोष, इत्यादि। अनेक कम्पनियाँ अपने प्रतिवर्ष होने वाले लाभों में से कुछ लाभ प्रतिधारित (Retained) कर लेती है, अर्थात लाभांश के रूप में उसका वितरण न करके कम्पनी के विकास विस्तार व नवीन तकनीक हेतु कोष का सृजन कर लेती है। कोषों की पर्याप्तता होने पर अनेक कम्पनियॉ अपने समता अंशधारकों को बोनस अंशो (Bonus Shares) का निर्गमन कर देती है। इस प्रकार पूँजीगत कोषों के माध्यम से कम्पनियाँ दीर्घकालीन वित्त की व्यवस्था अपने आन्तरिक संसाधनों से ही कर लेती है।

7.4 ऋण पूँजी

पूँजी बाजार के अन्तर्गत दीर्घकालीन कोषों के सृजन में अंश पूँजी के उपरान्त ऋण पूँजी का स्थान है। ऋण पूँजी की प्राप्ति के महत्वपूर्ण साधन ऋण पत्र (Debentures) होते हैं। ऋण पूँजी स्वामित्व पूँजी की भॉति स्थायी पूँजी नहीं होती, कम्पनी अपनी आवश्यकतानुसार ऋण पत्रों का निर्गमन करके पूँजी जुटा सकती है।

प्रायः ऋण पत्र कम्पनी द्वारा ऋणों के रूप में प्राप्त की गई पूँजी विषयक स्वीकृति पत्र होते हैं। जिन्हें कम्पनी द्वारा अपनी सार्वभौमिक मुद्रा के अधीन निर्गमित किया जाता है। प्रायः इस पर ऋण की राशि, ब्याज की दर एवं भुगतान अवधि का उल्लेख होता है जैसे 10 वर्षीय 7 प्रतिशत ऋण पत्र का आशय यह है कि इन ऋण पत्रों पर 7 प्रतिशत वार्षिक की दर से ब्याज का भुगतान किया जाना है तथा इनकी परिपक्वता अवधि (Maturity Period) 10 वर्ष होगी।

ऋण पत्र (Debenture) शब्द लैटिन भाषा के Debere शब्द से अनुदित है, जिसका अभिप्राय ऋणदायी (To owe) से है। पामर के शब्दों में ''ऋण पत्र ऋण को स्वीकार करने का एक प्रमाण पत्र है। जिसे कम्पनी की मुहर के अधीन दिया जाता है तथा एक निश्चित तिथि पर मूलधन वापसी का अनुबन्ध होता है। इस राशि पर एक निश्चित दर से परिपक्वता अवधि तक का ब्याज देय होता है।''

7.4.1 ऋण पत्रों की विशेषतायें

(i) ऋण पत्रों के माध्यम से कोई भी कम्पनी आसानी से दीर्घकालीन पूँजी की व्यवस्था कर सकती है।

(ii) स्कन्ध बाजार में ऋण पत्रों को अंशों की भांति खरीदा बेचा जा सकता है।

(iii) समता अंश पूँजी की भॉति प्रविवरण जारी करके ऋण पत्र भी निर्गमित किये जाते हैं।

(iv) ऋण पत्र धारक कम्पनी के ऋणदाता होते हैं। स्वामित्व न होने के कारण कम्पनी की सभाओं में बैठने व मतदान का अधिकार इन्हें नहीं होता है।

7.4.2 ऋण पत्रों से लाभ

(i) ऋण पत्रों के माध्यम से प्राप्त पूँजी कम्पनी के लिये अतिरिक्त प्रभार का सृजन नहीं करती क्योंकि इन पर ब्याज दरें निर्धारित होती है।

(ii) ऋण पत्र धारक कम्पनी के स्वामी नहीं होते अतः इनका कम्पनी के प्रबन्ध में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नही होता।

(iii) कम्पनी अति पूँजीकरण की दशा में ऋण पत्रों का शोधन करके अथवा अल्प पूँजीकरण की दशा में अतिरिक्त ऋणपत्रों का निर्गमन करके कम्पनी की पूँजी संरचना में लोचशीलता ला सकती है।

(iv) ऋण पत्रों पर दिया जाने वाला ब्याज कर योग्य आय की गणना हेतु कटौती योग्य व्यय की श्रेणी में आता है, अतः सकल आय से ब्याज की राशि घटाने के उपरान्त ही आयकर की गणना की जाती है।

(v) ऋण पत्र धारकों को निश्चित आय एवं पूँजी वापसी की पूर्ण गारण्टी होती है।

(vi) अंशों की तुलना में ऋण पत्र अधिक तरल होते हैं। अर्थात इन्हें बेचकर नकदी में परिवर्तन करना आसान होता है।

(vii) कम्पनी को अधिक लाभ होने वाले वर्षों में ऋण पूँजी की लागत कम महसूस होती है अर्थात लाभ की तुलना में कम ब्याज का भुगतान करना पड़ता है।

7.4.3 ऋण पत्रों से हानियां

(i) कम्पनी को लाभ अथवा हानि दोनों दशाओं में निर्धारित दर से ब्याज का भुगतान करना पड़ता है अतः हानि वाले वर्षों में ऋण पत्रों से प्राप्त पूँजी कम्पनी की हानियों में वृद्धि कर देती है।

(ii) ऋण पत्रों के निर्गमन पर भारी व्यय करने पड़ते हैं।

(iii) कम्पनी की लाभ देयकता में अभिवृद्धि की दशा में ऋण पत्र कम्पनी के लिये अनुकूल होते हैं। अवनति काल में ऋण पत्रों के माध्यम से पूँजी एकत्र करना कठिन हो जाता है।

(iv) कम्पनी के ऋण पत्र धारकों को ब्याज की राशि न मिलने पर न्यायिक संरक्षा का अधिकार होता है। वे न्यायालय द्वारा अनिवार्य समापन का आदेश करा सकते हैं।

7.5 विशिष्ट वित्तीय संस्थायें

पूँजी बाजार के माध्यम से पूँजी एकत्रित करने की पर्याप्त सुविधा न उपलब्ध होने की दशा में नवीन स्थापित उद्यमों की स्थापना एवं पूर्व स्थापित उद्यमों के विकास एवं विस्तार हेतु विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की आवश्यकता बहुत दिनों से महसूस की जा रही थी। भारत में पूँजी निर्माण की गति अत्यन्त धीमी होने के कारण पूँजी की मॉग एवं पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करना कठिन हो गया था। ऐसी दशा में औद्योगिक विकास को गति प्रदान करने के लिये दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने हेतु विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की स्थापना की गई। वस्तुतः इन संस्थाओं की स्थापना एवं विकास

की प्रक्रिया एक जुलाई 1948 से आरम्भ हुई जब भारत में औद्योगिक वित्त निगम (I.F.C.I.) Industrial Finance Corporation of India की स्थापना की गई। वस्तुतः हमारे देश में आय कम होने के कारण बचत की मात्रा भी कम होती है दूसरी तरफ लोग सोना, चांदी, जमीन, मकान इत्यादि स्थायी सम्पत्तियों के सृजन में पूँजी लगाते हैं। इससे बचते पूँजी में परिवर्तित नहीं हो पाती। वाणिज्यिक बैंकों की कार्यप्रणाली ब्रिटिश उपनिवेश वादी होने के कारण इन बैंकों में जमा पर अधिक ध्यान दिया जाता था जबकि ऋण प्रदान करने का कार्य गौण समझा जाता था। ऋण सुविधा केवल वर्ग विशेष को प्रदान की जाती थी।

अतः तीव्र औद्योगिक विकास हेतु विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की स्थापना का समुचित प्रयास स्वतन्त्रता के पश्चात आरम्भ हुआ। कतिपय विशिष्ट वित्तीय संगठनों का संक्षिप्त अध्ययन निम्नवत है।

7.5.1 भारत का औद्योगिक विकास बैंक

विशिष्ट वित्तीय संस्थान के रूप में भारत का औद्योगिक विकास बैंक अग्रणी संस्था है। इसकी स्थापना भारत सरकार द्वारा पारित विधेयक के आधार पर 1 जुलाई 1964 को की गई। 16 फरवरी 1976 तक यह संगठन भारतीय रिजर्व बैंक (R.B.I.) के सहायक संगठन (Wholly owned subsidiary) के रूप में कार्यरत था। किन्तु बाद में इसे स्वायत्तशासी निगम का स्वरूप प्रदान कर दिया गया। इस बैंक के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण उद्‌देष्य हैः–

(i) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना का मुख्य उद्‌देश्य दीर्घकालीन एवं मध्यमकालीन वित्तीय सहायता प्रदान कर भारत के औद्योगिक विकास को गति प्रदान करना है।

(ii) एक केन्द्रीय कृत संगठन के रूप मे औद्योगिक वित्त प्रदान करने वाली विभिन्न संस्थाओं के मध्य समन्वय स्थापित करना।

(iii) देश के बढ़ते औद्योगिक असन्तुलन को समाप्त करने हेतु कतिपय विशिष्ट उद्यमों जैसे, इस्पात, पेट्रो रसायन, लौह उद्योग, रासायनिक खाद इत्यादि को प्रोत्साहित करना, इन उद्यमों में तत्काल लाभ की सम्भावना कम होने के कारण तथा भारी विनियोग होने के कारण उद्यमी इन उद्योगों में रूचि नहीं लेते हैं।

7.5.2 भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के काय

उपरोक्त अध्ययनोंपरान्त आइये भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के निम्नलिचित महत्त्वपूर्ण कार्यों को सूचिबद्ध करने का प्रयास करें:–

(i) बैंक द्वारा सार्वजनिक एवं निजी दोनों प्रकार के उपक्रमों को दीर्घकालीन ऋण सुविधा प्रदान की जाती है। कम्पनियों द्वारा निर्गत ऋण पत्रों को भी खरीदने हेतु यह बैंक अधिकृत है।

(ii) अन्य औद्योगिक संगठनों द्वारा पूँजी बाजार से अथवा बैंकों द्वारा ऋण प्राप्त करने की दशा में ऋणों की गारन्टी देने का कार्य भी विकास बैंक द्वारा किया जाता है।

(iii) औद्योगिक विकास बैंक विभिन्न वित्तीय संगठनों द्वारा लिये गये ऋणों के पुर्नवित्तीयन (Refinance) की सुविधा प्रदान करता है।

(iv) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक कम्पनियों द्वारा निर्गत स्कन्ध एवं अंशों में प्रत्यक्ष अभिदान करने हेतु अधिकृत है।

(v) यह बैंक अन्य वित्तीय संगठनों एवं औद्योगिक संस्थाओं द्वारा पूँजी बाजार में निर्गत अंशों, बाण्डों एवं ऋण पत्रों के अभिगोपन का कार्य भी करता है।

वर्तमान समय में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक शीर्षस्थ वित्तीय संगठन के रूप में समन्वयक एवं अग्रणी भूमिका का निर्वहन कर रहा है।

7.5.3 भारत का औद्योगिक वित्त निगम

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना संसद के विशेष अधिनियम द्वारा सन् 1948 में की गई। इस संगठन का प्रमुख उद्देश्य सरकारी व निजी क्षेत्र के प्रतिष्ठानों को दीर्घकालीन व मध्यम कालीन ऋण सुविधा प्रदान करना है। इस निगम द्वारा भारत में स्थापित लिमिटेड कम्पनियों, अथवा सहकारी समितियों को ऋण सुविधा प्रदान की जाती है। ऐसी कम्पनियां जो वस्तुओं के निर्माण, प्रोसेसिंग, खनन, विद्युत शक्ति निर्माण, वितरण, होटल उद्योग, जहाज, व जहाजरानी निर्माण इत्यादि क्षेत्रों में संलग्न हो। उन्हें ही औद्योगिक वित्त निगम वित्तीय सुविधा प्रदान करता है। औद्योगिक वित्त निगम को कम्पनी अधिनियम 1956 में दी गई व्यवस्था के अनुसार 1 जुलाई 1993 से लिमिटेड कम्पनी का स्वरूप प्रदान कर दिया गया। वर्तमान समय में यह निगम सरकारी कम्पनी का स्वरूप धारण कर चुका है। औद्योगिक वित्त निगम द्वारा अपनी वित्तीय व्यवस्था अंशों व ऋण पत्रों के निर्गमन, संचित कोष, जमाराशि भारतीय रिजर्व बैंक व केन्द्र सरकार से ऋण, विदेशों से ऋण इत्यादि रूपों में की जाती है।

7.5.4 सहायता का स्वरूप

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम लिमिटेड औद्योगिक संगठनों को निम्नलिखित स्वरूपों में आर्थिक सहायता प्रदान कर सकता हैः—

(i) इसके द्वारा निर्माणी एवं औद्योगिक संगठनों को 25 वर्ष तक की अवधि का दीर्घकालीन ऋण प्रदान किया जा सकता है, कम्पनियों द्वारा जारी किये गये ऋण पत्रों की खरीद भी इसके द्वारा की जाती है।

(ii) औद्योगिक संगठनों द्वारा पूँजी बाजार से लिये जाने वाले ऋणों की गारण्टी भी इस निगम द्वारा दी जाती है।

(iii) कम्पनियों द्वारा निर्गमित अंशो, ऋण पत्रों एवं बाण्डों के अभिगोपन सम्बन्धी कार्य भी औद्योगिक वित्त निगम द्वारा किया जाता है।

(iv) भारतीय उद्यमियों द्वारा विदेशों से किये गये आयात ;प्उचवतजद्ध हेतु विदेशी निर्माताओं को स्थगित भुगतान ;क्मिततमक च्लउमदजद्ध के आधार पर आयातित माल के मूल्य भुगतान हेतु गारण्टी भी इस निगम द्वारा दी जा सकती है।

(v) केन्द्र सरकार अथवा विश्व बैंक द्वारा औद्योगिक संगठनों को दिये गये ऋणों की वसूली एवं देखरेख हेतु एजेन्ट की भांति कार्य करता है।

7.5.5 भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम

औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम की स्थापना भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत एक लिमिटेड कम्पनी के रूप में 5 जनवरी 1955 को की गई। इसने अपना कार्य मार्च 1955 से प्रारम्भ कर दिया वस्तुतः इसकी स्थापना भारत के पांच प्रमुख उद्योगपतियों की निर्देशन समिति की सिफारिश पर की गई। औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम की स्थापना का मूल उद्‌देश्य निजी पूँजी के आधार पर पूर्णतया निजी क्षेत्र को वित्तीय सहायता प्रदान करना है।

7.5.6 सहायता का स्वरूप

इस निगम द्वारा दी जाने वाली सहायता का स्वरूप अत्यन्त व्यापक एवं लोचपूर्ण होता है। आई0सी0आई0सी0आई0 द्वारा निजी क्षेत्र के सभी प्रकार के औद्योगिक एवं व्यापारिक संगठनों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। संक्षेप में इस निगम द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता के निम्न स्वरूप हो सकते हैं:–

(i) इस निगम द्वारा अधिकतम 15 वर्षों तक के लिये दीर्घ कालीन एवं मध्यम कालीन सुरक्षित ॆ;मबनतमक सवंदद्ध प्रदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न कम्पनियों के ऋण पत्र खरीद कर भी वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है।

(ii) निजी क्षेत्र के औद्योगिक संगठनों एवं सार्वजनिक कम्पनी के समता एवं पूर्वाधिकार अंशों में प्रत्यक्ष अभिदान करना।

(iii) विदेशों से आयात किये जाने वाले पूँजीगत माल ;ब्ंचपजंस म्ुनपचउमदजद्ध की लागत हेतु विदेशी मुद्रा में ऋण प्रदान करना।

(iv) निजी क्षेत्र के उद्यमों को प्रबन्ध सम्बन्धी तथा तकनीकी एवं प्रशासनिक परामर्श प्रदान करना।

(v) निगम द्वारा प्रदान की जाने वाली वित्तीय सहायता की कोई उच्चतम सीमा निर्धारित नहीं है। निम्नतम सहायता की सीमा रू0 5 लाख है। प्रदान की जाने वाली सहायता स्थायी कार्यशील पूँजी के रूप में भी हो सकती है।

7.5.7 भारत का औद्योगिक विनियोग बैंक

भारतीय औद्योगिक निवेश बैंक की स्थापना भारत पाकिस्तान युद्ध के उपरान्त 1971 में की गई। वस्तुतः इस संगठन की स्थापना का मूल उद्‌देश्य तत्कालीन स्थितियों में देश के पूर्वोत्तर प्रदेशों में निष्क्रिय कमजोर एवं रूग्ण औद्योगिक इकाइयों को पुनः स्थापित करने एवं पुनर्निर्माण में सहयोग प्रदान करना था। किन्तु बाद में यह संगठन समूचे देश के रूग्ण औद्योगिक संगठनों को पुर्ननिर्माण (Reconstruction) हेतु वित्तीय सहायता प्रदान करने लगा। 20 मार्च 1985 को भारत सरकार द्वारा अधिसूचना जारी करके भारतीय औद्योगिक विनियोग बैंक को भारतीय औद्योगिक पुनर्निर्माण बैंक (Industrial Reconstruction Bank of India (IRBI) का स्वरूप प्रदान कर दिया गया। पुनश्च 17 मार्च 1997 को भारतीय औद्योगिक पुनर्निर्माण बैंक को भारतीय औद्योगिक निवेश बैंक (Industrial Investment Bank of India) नामकरण करके बहुउद्‌देशीय वित्त विकास संगठन का दर्जा प्रदान किया गया।

PLONE-029

7.5.8 सहायता का स्वरूप

इस बैंक के कार्य क्षेत्र को व्यापकता प्रदान करने के उपरान्त भी मूल उद्देश्य रूग्ण एवं निष्क्रिय औद्योगिक इकाइयों का नवजीवन प्रदान करना है।

(i) वर्तमान समय में यह संगठन रूग्ण औद्योगिक इकाइयों के आधुनिकीकरण विस्तार पुनर्गठन, हेतु साख सुविधा प्रदान करता है।

(ii) संसाधनों की कमी को पूरा करके बीमार उद्यमों को आक्सीजन रूपी पूँजी प्रदान करना।

(iii) बन्द औद्योगिक संगठनों को पुर्नजीवन प्रदान करने हेतु उनके दायित्वों का भुगतान करना।

वर्तमान समय में सरकार द्वारा इस बैक को वित्तीय स्थिति सुधारने हेतु तथा लाभदायी संस्था बनाने हेतु इसकी निवेश सूची से 60 प्रतिशत बीमार इकाइयों को पुनर्वित्तीयन सुविधा प्रदान करने की बाध्यता को हटा दिया है।

7.6 पट्टाधारक कम्पनी

हममें से अधिकांश लोग, कार, साइकिल, इत्यादि वाहन किराये पर लेते हैं। इस प्रकार के किराया प्रायः अल्प अवधि के लिये लिये जाते हें। किन्तु निगमीय वित्त के अन्तर्गत सामान्य तौर पर किराया दीर्घकाल तक के लिये निर्धारित किया जाता है। किराये का वह अनुबन्ध जो कि एक वर्ष से अधिक अवधि के लिये किया जाता है तथा किराये का भुगतान स्थायी रूप से एक निश्चित धनराशि के रूप में किया जाता है उसे पट्टा (Lease) कहते हैं। अनेक संगठनों द्वारा पूँजीगत वस्तुओं अथवा उपकरणों को क्रय करने हेतु पट्टा माध्यम का प्रयोग किया जाता है। पट्टादाता कम्पनियों द्वारा अनेक प्रकार की सेवायें पट्टे के अन्तर्गत प्रदान की जाती है। विशेष तौर पर आटोमोबाइल, ट्रक एवं अनेक प्रमाणित औद्योगिक उपकरण, पट्टे पर लिये जाते हैं।

पट्टा (Lease) व्यवस्था के अन्तर्गत पट्टाधारक (Lessee) अर्थात प्रयोगकर्ता पट्टादाता को एक निश्चित धनराशि किराये के रूप में प्रतिमाह व प्रतिवर्ष देने की प्रतिज्ञा करता है। जिसके अन्तर्गत प्रथम किश्त का भुगतान संविदा (Contact) पर हस्ताक्षर होने पर किया जाता है।

जब पट्टा समाप्त हो जाता है तो पट्टे पर प्रदान किया गया उपकरण पट्टेदार द्वारा वापस ले लिया जाता है। पट्टाधारक कम्पनियों द्वारा प्रदत्त वित्तीय पट्टा वित्त के साधन के रूप में होता है। वित्तीय पट्टा सम्बन्धी अनुबन्ध ऋण लेने की भांति होता है।

अधिकांश वित्तीय पट्टे नवसृजित सम्पत्तियों से सम्बन्धित होते हैं पट्टाधारक द्वारा उपकरण क्रय हेतु पट्टादाता कम्पनी से सम्पर्क किया जाता है तथा पट्टादाता कम्पनी एवं क्रेता के मध्य अनुबन्ध पर हस्ताक्षर के उपरान्त सम्पत्ति क्रेता को सौंप दी जाती है जिसके बदले वह पट्टादाता को एक निश्चित राशि का भुगतान प्रतिमाह अथवा शर्तों के अनुसार करता रहता है।

उदाहरण स्वरूप एक फर्म अपनी फैक्टरी को बेचकर नकदी बढ़ाना चाहती है किन्तु वह उस फैक्टरी का प्रयोग भी करना चाहती है यह पट्टा धारक कम्पनी को पट्टे पर फैक्टरी बेच कर किया जा सकता है। इसके लिये पट्टाधारक कम्पनी एक

PLONE-029

दीर्घकालीन अनुबन्ध फैक्टरी मालिक के साथ करती है। जिसके अन्तर्गत पट्टाधारक कम्पनी के पास फैक्टरी के विधिक अधिकार होते हैं। किन्तु प्रयोग का अधिकार फर्म के पास रहता है।

7.7 विदेशी संसाधन

आज समूचा विश्व एक वैश्विक गांव का स्वरूप प्राप्त कर चुका है, समूचे विश्व के राष्ट्र परस्पर लेन–देन करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। संसार का शायद ही कोई राष्ट्र ऐसा हो, जहाँ किसी अन्य देश की पूँजी किसी न किसी रूप में न लगी हों। वर्तमान समय में विदेशी पूँजी की उपयोगिता विभिन्न राष्ट्रों के मध्य आर्थिक असमानताओं को दूर करने हेतु आवश्यक हो चुकी है।

विदेशी पूँजी से अभिप्राय किसी संगठन में विदेशी, नागरिक, सरकार अथवा संस्था द्वारा विनियोजित पूँजी से है। इस पूँजी का प्रयोग तकनीकी ज्ञान, उन्नतशील मशीन एवं औजार, नवीनतम तकनीक, व विदेशी मुद्रा के रूप में हो सकती है विदेशी पूँजी हिस्सेदारी, सहयोग, व ऋण के रूप में प्राप्त हो सकता है।

7.7.1 विदेशी सहयोग का स्वरूप

(i) किसी देश के उद्यमी, संगठन, अथवा सरकार दूसरे देश के उद्यमी, संगठन अथवा सरकार के साथ विनियोग करते हैं। इस दशा में विदेशी कम्पनियों का स्वामित्व एवं प्रबन्धकीय नियंत्रण रहता है।

(ii) किसी एक देश की सरकार दूसरे देश की सरकार को ऋण प्रदान करती है। जिसके अनुसार उदार शर्तों पर दीर्घकालीन ऋण कम ब्याज पर दिये जा सकते हैं। अथवा अनुदार ऋण अधिक ब्याज पर कम अवधि के लिये दिये जाते हैं।

(iii) अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (IBRD) एशियन विकास बैंक ;।क्ठठ्ठ इत्यादि द्वारा बड़े पैमाने पर ऋण एवं अनुदान प्रदान किये जाते हैं। अनुदान की राशि वापस करने की बाध्यता नहीं होती।

7.7.2 नवीन औद्योगिक नीति एवं विदेशी सहयोग

जुलाई 1991 में घोषित नवीन औद्योगिक नीति के अन्तर्गत भारत सरकार ने अर्थव्यवस्था के खुलापन निजीकरणएवं वैश्वीकरण की वकालत की। जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व की अनेक अर्थव्यवस्थाओं के साथ प्रतिस्पर्धा करके मजबूत हो सके। इसी क्रम में सरकार ने उच्च प्राथमिकता वाले 34 उद्योगों में 51 प्रतिशत तक विदेशी पूँजी निवेश का निर्णय लिया। इसके साथ ही 51 प्रतिशत विदेशी इक्विटी वाली व्यापारिक कम्पनियों को भी निर्यात में प्रोत्साहन हेतु प्रेरित किया गया।

7.7.3 विदेशी सहायता के खतरे

(i) प्रायः औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्रों द्वारा ही विदेशी पूँजी का विनियोग अन्य राष्ट्रों मे किया जाता है। जिससे देशी पूँजी एवं तकनीक का उनके समक्ष टिकना कठिन हो जाता है।

(ii) मूलभूत उद्योगों एवं सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उद्यमों में विदेशी निवेश खतरनाक हो सकता है। इससे हमारी अखंडता प्रभावित हो सकती है।

(iii) विदेशी विनियोग प्रायः उन्हीं क्षेत्रों में किये जाते हैं जिनमें अधिक लाभ की सम्भावना रहती है। इस प्रकार देश का अन्तुलित विकास हो जाने की सम्भावना रहती है।

(iv) विकासशील राष्ट्रों में भुगतान सन्तुलन की समस्या का समाधान विदेशी कर्ज एवं सहायता के माध्यम से किया जाता है। इस प्रकार इन देशों द्वारा ऋण एवं ब्याज के भुगतान हेतु दायित्व में वृद्धि हो जाती है।

वस्तुतः हमारे देश में विदेशी सहायता का स्वरूप दीर्घकालीन ऋणों के रूप में अधिक है। विश्व की समुन्नत तकनीक आयात करने हेतु भी विदेशी ऋण की आवश्यकता पड़ती है। विदेशी व्यापारिक ऋणो के रूप में भी भारत द्वारा उर्जा एवं टेलीकम्युनिकेशन के क्षेत्र में प्रचुर धनराशि ली गई है।

7.7.4 विदेशी सहायता की आवश्यकता

(i) भारत में प्राकृतिक संसाधन की प्रचुरता होने पर भी हम तकनीक एवं पूँजी के अभाव में इनका समुचित विदोहन नहीं कर पा रहे हैं। अतः विदेशी पूँजी व तकनीक के प्रयोग से प्राकृतिक संसाधनों का समुचित उपयोग हो सकता है।

(ii) विदेशी पूँजी के साथ समुन्नत तकनीक आने के कारण हमारे देश के उद्यमों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

(iii) विदेशी पूँजी के माध्यम से नये–नये उद्यमों में रोजगार सृजन होता है।

(iv) विदेशी पूँजी के प्रयोग से देशी कम्पनियों की पूँजी समस्या का निवारण होता है। अतः उन्हें अधिक लाभ तथा सरकार को अधिक कर प्राप्त होते हैं।

7.8 प्रतिधारित लाभ

प्रायः कम्पनियाँ अपने द्वारा अर्जित समस्त लाभों में से सम्पूर्ण भाग वितरित न करके उसका कुछ भाग संगठन के विकास हेतु संचय के रूप में रख लेती है। इस संचित निधि का प्रयोग वित्त की भावी मांग को पूर्ण करने हेतु किया जाता है। इस रोकी हुई आय को प्रतिधारित (Ratained earning) कहा जाता है।

प्रतिधारित आय के रूप मे संगठन को आन्तरिक साधनों से पूँजी प्राप्त होती है। यह पुनर्विनियोग हेतु विविध कोषों यथा हृास कोष, सुरक्षित कोष, विकास कोष व अनुरक्षण कोष इत्यादि रूपों में हो सकती है। कम्पनी को होने वाले शुद्ध लाभों में से कर की राशि काटकर इनका कुछ भाग विभिन्न कोषों के रूप में जमा किया जाता है तथा अवशेष भाग लाभांश के रूप में समता अंशधारकों के मध्य वितरित किया जाता है। प्रतिवर्ष इस प्रक्रिया का अनुपालन करने से कुछ वर्षों के उपरान्त इन कोषों में अत्यधिक धन जमा हो जाता है। तथा उस धन से सम्बन्धित उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है, जिनके लिये इन कोषों की स्थापना की गई थी। विद्यमान उद्योगों के विकास, विस्तार, एवं नवीन तकनीक के सृजन हेतु प्रतिधारित आय का पुनर्विनियोग उत्तम साधन है, इसका प्रयोग अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु किया जा सकता है।

PLONE-029

7.8.1 लाभों के प्रतिधारण की आवश्यकता

(i) कम्पनी को अपने भावी विकास एवं विस्तार हेतु आवश्यक पूँजी आन्तरिक संसाधनों से प्राप्त हो जाती है।

(ii) कम्पनी की ख्याति के लिये स्थायी लाभांश नीति का अनुपालन आवश्यक होता है। अतः कम्पनी एक निश्चित दर से लाभांश प्रदान कर शेष आय को प्रतिधारित कर सकती है।

(iii) नवीनीकरण, घिसावट एवं अप्रचलन तथा प्रतिस्थापन हेतु कम्पनी के पास प्रचुर ह्रास कोष होने के कारण कम्पनी मशीन, उपकरण एवं तकनीक को पुनः स्थापित (Replace) कर सकती है।

(iv) अधिक मात्रा में आय प्रतिधारित होने पर कम्पनी दीर्घकालीन ऋणों बाण्डों एवं ऋण पत्रों को वापस कर पूँजी की लागत को कम कर सकती है।

(v) व्यापार में होने वाले उतार चढ़ावों का सामना उन कम्पनियों द्वारा आसानी से किया जा सकता है जिनके आन्तरिक साधन मजबूत होते हैं।

(vi) आन्तरिक संचय से कम्पनी के सामान्य अंशों में मूल्य वृद्धि होती है। बाजार मूल्य बढ़ने पर अंशधारक अपने अंशों को बेचकर पूंजीगत लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

(vii) इन कम्पनियों में वित्तीय स्थायित्व बना रहता है।

लाभ के प्रतिधारण से प्रायः कम्पनियों की पूँजी की आवश्यकता कम लागत पर पूर्ण हो जाती है। इस पूँजी के प्रबन्धन हेतु कम्पनी को किसी भी प्रकार का निर्गमन व्यय नहीं करना पड़ता और न ही ब्याज का भुगतान करना पड़ता है। लाभांश भुगतान व बोनस अंशों के निर्गमन की भी बाध्यता नहीं होती। किन्तु अंशधारकों द्वारा अपने लिये उपलब्ध लाभों में से कुछ भाग का परित्याग अवश्य करना पड़ता है। संगठन द्वारा प्रतिधारित आय के रूप में रोकी गयी धनराशि अंशधारकों के मध्य वितरित होने पर उसके पुनर्विनियोग द्वारा अतिरिक्त आय का सृजन हो सकता था। अतः प्रतिधारित आय से प्राप्त पूँजी की भी कुछ न कुछ लागत अवश्य होती है।

7.9 अभिगोपन

सार्वजनिक कम्पनियों द्वारा पूँजी संग्रह हेतु निर्गमित किये जाने वाले अंशों को जनता द्वारा खरीद लेना आवश्यक नहीं होता। कभी–कभी निर्गमित अंशों का अधिकांश भाग जनता द्वारा क्रय नहीं किया जाता। ऐसी दशा में कम्पनी प्रवर्तकों को अंश पूँजी के माध्यम से संग्रहीत की जाने वाली पूँजी प्राप्ति का लक्ष्य पूरा नहीं हो पाता। प्रतिभूतियों के निर्गमन के समय ही प्रवर्तकों के मन में यह आशंका रहती है कि निर्गमित सम्पूर्ण अंश जनता द्वारा खरीद लिये जायेंगे अथवा नही। अंशों के निर्गमन पर दो बातों का होना सुनिश्चित होता है, निर्गमित संख्या से अधिक आवेदन पत्र प्राप्त हो सकते अथवा निर्गमित संख्या से कम आवेदन पत्र प्राप्त हो सकते हैं। निर्गमित संख्या से कम पूंजी प्राप्त होने की सम्भाव्यता से बचने हेतु मध्यस्थों की अनेक संस्थाओं का विकास हो गया है जो इस सम्भाव्य खतरे का बीमा करती है। इन संस्थाओं द्वारा कुछ शुल्क प्राप्त करके निर्गमन कर्ताओं को यह वचन दिया जाता है कि यदि प्रवर्तकों द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियों के कुल अथवा कुछ भाग को जनता द्वारा एक निर्धारित समय के

अन्दर नहीं खरीदा जाता तो उन संस्थाओं द्वारा अवशिष्ट प्रतिभूतियों को क्रय कर लिया जायेगा। यही प्रक्रिया प्रतिभूतियों का अभिगोपन (Underwriting of Securities) कहलाती है।

सामान्य शब्दों में ''अभिगोपन जनता के समक्ष अंशों के प्रस्तुत किये जाने से पूर्व किया गया वह अनुबन्ध है जिसके अनुसार अभिगोपक इस बात के लिये सहमत होता है कि वह जनता द्वारा समस्त अंशों या उसके किसी निश्चित भाग को न खरीदे जाने की दशा में निर्धारित कमीशन लेकर अंशों के उस भाग को स्वयं खरीद लेगा जिसके लिये जनता ने आवेदित नही किया है।''

इस प्रकार अभिगोपक एक प्रकार का बीमाकर्ता है जो अंशों के विक्रय न होने की सम्भाव्यता का बीमा करता है। जनता द्वारा समस्त अंशों को खरीद लेने पर अभिगोपक अंशों को नहीं खरीद पायेगा। किन्तु समस्त अंश विक्रय न होने की दशा में अभिगोपक द्वारा अंशों को खरीदने की बाध्यता होगी। किन्तु उक्त दोनों ही स्थितियों में वह अभिगोपक कमीशन प्राप्त करने का हकदार होगा।

7.9.1 भारत में प्रतिभूतियों का अभिगोपन

ब्रिटिश कम्पनी अधिनियम 1900 के आधार पर भारत में सन् 1913 के भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत सर्वप्रथम अंशों के विक्रय हेतु कमीशन देने की व्यवस्था की गई। किन्तु यह व्यवस्था विक्रय कमीशन अथवा ब्रोकरेज के रूप में थी। इस अधिनियम के अभिगोपन शब्द की चर्चा नहीं की गई। सर्वप्रथम अभिगोपन शब्द का उल्लेख 1936 में निर्मित भारतीय कम्पनी (संशोधन) अधिनियम में की गई। अधिनियम की धारा 76 में (अभिगोपन) Underwriting शब्द का अभिप्राय निहित है। इस धारा के अनुसार, ''कम्पनी के अंशों व ऋण पत्रों में स्वयं अभिदान करने या ऐसा करने का वचन देने अथवा अभिदान प्राप्त करवाने का वचन देने के लिये कम्पनी किसी व्यक्ति अथवा संस्था को निम्नलिखित शर्तों के अधीन कमीशन देती है।''

(i) यदि ऐसे किसी कमीशन को चुकाने हेतु अर्न्तनियमों में व्यवस्था है।

(ii) अभिगोपन कमीशन निर्गमन मूल्य के 5 प्रतिशत अथवा अर्न्तनियमों में निर्धारित दर से अधिक नहीं होना चाहिये।

(iii) कतिपय व्यक्तियों द्वारा निर्गमन से पूर्व अंशों में अभिदान का वचन दे देने की दशा में ऐसे अंशों की संख्या का उल्लेख प्रविवरण में होना चाहिये।

वस्तुतः अंशो व ऋण पत्रों के अभिगोपन सम्बन्धी कार्य एक प्रकार का बीमा कार्य है। जिस प्रकार जीवन बीमा, वस्तु बीमा, दुर्घटना बीमा, होता है उसी प्रकार अंश निर्गमन बीमा को अभिगोपन कहा जाता है। इसे प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली कम्पनियों में विश्वास विकसित होता है कि जनता द्वारा समस्त अंश न क्रय करने पर अभिगोपक संस्था द्वारा निर्गमित अंश अवश्य खरीद लिये जायेंगे तथा पूँजी की समस्या का समाधान हो जायेगा।

7.10 सारांश

किसी भी व्यावसायिक संगठन के संचालन हेतु पूँजी की अनिवार्यता सर्वमान्य है। उद्यम के आकार एंव प्रकृति के अनुसार पूंजी की मात्रा एवं उसकी प्रकृति का निर्धारण होता है। अधिक विनियोग वाली कम्पनियों में दीर्घ कालीन पूँजी की मात्रा

PLONE-029

अधिक आवश्यक होती है छोटे आकार के उद्यमों में अल्पकालीन पूँजी की अधिक आवश्यकता होती है। संगठन के लिये स्थायी सम्पत्तियों का सृजन प्रायः दीर्घकालीन पूँजी के माध्यम से किया जाता है जबकि कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध हेतु अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकता होती है। दीर्घकालीन पूँजी प्राप्ति का सर्वोत्तम माध्यम समता अंश पूँजी (equity share capital) होती है, इसके अतिरिक्त पूर्वाधिकार अंश, ऋण पत्र व प्रतिधारित आय के माध्यम से भी दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था भी की जा सकती है।

अल्पकालीन ऋण बैंक ऋण, बैंक अधिविकर्ष, नकद साख, इत्यादि माध्यमों से प्राप्त किये जा सकते हैं। वर्तमान समय में कतिपय वित्तीय संगठन भी कम्पनियों को दीर्घकालीन व अल्पकालीन दोनों प्रकार की वित्तीयन सुविधा प्रदान कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त लीजिंग कम्पनी, विदेशी स्रोतों एवं अभिगोपन इत्यादि माध्यमों से ऋण सुविधा प्राप्त हो रही है। वस्तुतः राष्ट्र का औद्योगिक विकास ही वास्तविक विकास का मापक होता है। विकसित देशों में औद्योगिक विकास की गति तीव्र होने तथा प्राकृतिक संसाधनों का भरपूर उपयोग करने के कारण ही वे विकसित राष्ट्र कहलाते हैं इसके विपरीत अविकसित व विकासशील राष्ट्रों में औद्योगिक विकास एवं प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग की गति बहुत धीमी है। इसका कारण पूँजी निर्माण की कम मात्रा भी है।

7.11 उपयोगी शब्दावली

- **दीर्घकालीन वित्त**– दीर्घकालीन वित्त से आषय उस वित्तीय व्यवस्था से है जिसका प्रयोग संगठन में स्थायी सम्यहितयो के सृजन हेतु किया जाता है।
- **अल्पकालीन वित्त**– अल्पकालीन वित्त से आशय उस वित्तीय व्यवस्था से है जिससे संगठन मे कार्यशील पूंजी की आवश्यकता पूर्ण की जाती है।
- **संचित कोष**– संचित कोष से आशय उन कोषों से है जिनका निर्माण प्रतिवर्ष संगठन को होने वाले लाभों में एक निश्चित प्रतिशत का प्रावधान करके किया जाता है।
- **प्रतिधारित आय**– कम्पनियाँ प्रतिवर्ष होने वाले लाभों में से कुछ भाग लाभांश के रुप में न वितरित करके भावी विकास एवं विस्तार हेतु प्रतिधारित कर लेती है। इसे कम्पनी की प्रतिधारित आय कहा जाता है।
- **पट्टा**– पट्टा व्यवस्था के अन्तर्गत पट्टा धारक अर्थात् सम्महित का प्रयोगकर्त्ता पट्टा दाता को एक निश्चित राषि किराये के रुप में प्रतिमाह व प्रतिवर्ष देने की प्रतिज्ञा करता है।
- **अभिगोपन**– अभिगोपन, जनता के समक्ष अंषों के प्रस्तुत किये जाने से पर्व किया गया अनुबन्ध है जिसके अनुसार अनुसार अभिगोपक इस बात की गारण्टी देता है कि जनता द्वारा निर्गमित अंशो को क्रम न किये जाने की वश्य मे सम्पूर्ण भाग अथवा अवशिष्ट भाग को निर्धारित कमीशन लेकर स्वयं खरीद लेगा।

7.12 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1 दीर्घकालीन वित्त से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न 2 अल्पकालीन व मध्य कालीन वित्त की परिभाषा दीजिये।

प्रश्न 3 अंश पूँजी क्या है? इसे कौन निर्गमित कर सकता है?

प्रश्न 4 अंश पूँजी व ऋण पूँजी में क्या अन्तर है?

प्रश्न 5 पट्टाधारक कम्पनियों से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न 6 प्रतिधारित आय क्या है?

प्रश्न 7 अभिगोपन प्रक्रिया को समझाइये।

प्रश्न 8 दीर्घकालीन वित्त प्राप्त करने के साधन क्या है, उनमें से सर्वोत्तम साधन आपकी दृष्टि में कौन सा है?

प्रश्न 9 अंश पूँजी का निर्गमन किस प्रकार के संगठन द्वारा किया जाता है क्या एकल अथवा साझेदारी व्यापार में भी अंश पूँजी का निर्गमन किया जा सकता है यदि हाँ तो क्यों यदि नहीं तो क्यों नहीं?

प्रश्न 10 आप किसी कम्पनी के प्रवर्तक हैं? अंश पूॅजी, ऋण पूॅजी, वित्तीय संस्थाओं में से किसे आप वरीयता देंगे और क्यों?

प्रश्न 11 पट्टाधारक कम्पनियों के बारे में विस्तार से समझाइये, क्या हमारे देश में कम्पनियों का अस्तित्व है।

प्रश्न 12 विदेशी संसाधनों से ऋण प्राप्त करना अथवा अनुदान प्राप्त करना किसी देश के लिये अनुकूल होता है अथवा नहीं, कहीं विदेशी ऋण आर्थिक परतन्त्रता के कारक तो नहीं हैं।

प्रश्न 13 निम्नलिखित रिक्त स्थानों को पूर्ण करेंः–

(i) दीर्घकालीन ऋणों के माध्यम से...................सम्पत्तियों का सृजन होता है।

(ii) अभिगोपन में .... अंशों का बीमा होता है।

(iii) जब कम्पनी अपने द्वारा अर्जित समस्त लाभ का वितरण न करके कुछ भाग रोक लेती है तो उसे .... कहते हैं।

(iv) दीर्घकालीन पूॅजी में.....................की मात्रा कम रहती है।

(v) समता अंशधारक कम्पनी के..................होते हैं।

उत्तर (i) स्थायी (ii) जनता द्वारा न खरीदे गये (iii) प्रतिधारित आय (iv) तरलता ;अद्ध स्वामी

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- वित्तीय प्रबन्धन, डॉ0 आर0के0 पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
- वित्तीय प्रबन्ध, डॉ0 आर0एस0 कुलश्रेष्ठ, साहित्य भवन आगरा।
- Financial management- Ravi M. Kishore Tax Mann
- Financial Management- I.M. Pandey
- Principles of Corporate finance – Richard A. Brealy & Stewart C. Myers. Tata MC Graw Hill New Delhi.
- Company law- Dr. R. K. Pandey, (Sharda Publication Allahabad)

PLONE-029

इकाई–8 दीर्घकालीन वित्त के साधन एवं अभिगोपन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 स्कन्ध विनिमय

8.3 स्कन्ध विनिमय के कार्य

8.4 स्कन्ध विनिमय पर व्यवहार की पद्धति

8.5 कतिपय विशेष शब्दावली

8.6 स्कन्ध विनिमय में प्रतिभूतियों का सूचीयन

8.6.1 सूचीयन की विधि

8.7 स्कन्ध विनिमय एवं सट्टा

8.7.1 सट्टे की विशेषतायें

8.8 स्कन्ध विनिमय में मूल्यों को प्रभावित करने वाले तत्व

8.9 उपयोगिता

8.9.1 दोष

8.10 स्कन्ध विनिमय पर नियंत्रण एवं नियमन

8.10.1 प्रतिभूति प्रसंविदा (नियमन) अधिनियम 1956

8.11 सारांश

8.12 उपयोगी शब्दावली

8.13 महत्वपूर्ण प्रश्न

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरान्त आप इस योग्य हो सकेगे किः–

- स्टाक एक्सचेंज की अवधारणा को विस्तार से जान सकेंगे,
- स्टाक एक्सचेंज के विभिन्न कार्यों का विष्लेषण कर सकेगें,
- स्कन्ध विनिमय से व्यापार के तरीके क्या है; विष्लेषित कर सकेंगे,

- स्टाक एक्सचेंज में सौदे करने की प्रक्रिया समझ सकेंगे,
- स्कन्ध विनिमय में अंशों एवं ऋण पत्रों की सूचीबद्ध प्रक्रिया समझ सकेंगे,
- स्कन्ध विनिमय में मूल्यों को प्रभावित करने वाले तत्व को सूचीबद्ध कर सकेंगें,
- स्कन्ध विनिमय की उपयोगिता एवं दोषों का विवेचन कर सकेंगें तथा
- स्कन्ध विनिमय का विनियमीकरण एवं नियंत्रण की प्रक्रिया का विष्लेषण कर सकेंगें।

8.1 प्रस्तावना

वर्तमान परिदृश्य उद्योग प्रधान है, विश्व के अनेक देशों में औद्योगिक प्रगति चरम पर है। उद्यम के अनेक प्रारूप होते हैं। एकल व्यापार एवं साझेदारी व्यापार में जहाँ असीमित दायित्व का दोष विद्यमान है वहीं इस प्रारूप के विस्तार की एक सीमा भी है। वर्तमान में सर्वप्रचलित प्रारूप कम्पनी या निगमीय प्रारूप में जहाँ सीमित दायित्व का गुण विद्यमान है वहीं इसके विस्तार की भी अपरिमित सम्भावनाये हैं। कम्पनी प्रारूप के अन्तर्गत पूँजी प्राप्ति के असीमित स्रोत हैं जनता के मध्य अपने अंशों व ऋण पत्रों का निर्गमन करके कम्पनी पर्याप्त पूँजी की व्यवस्था कर सकती है। अंशों एवं ऋण पत्रों के निर्गमन एवं विपणन हेतु एक नियामक संख्या की नितान्त आवश्यकता थी। स्कन्ध विनिमय के रूप में देश की औद्योगिक इकाइयों विनियोजकों एवं वित्तीय संस्थाओं को अनेक महत्वपूर्ण सेवायें प्रदान करना इस संगठन का महत्वपूर्ण कार्य है।

स्कन्ध विनिमय के माध्यम से अंशों, ऋण पत्रों एवं सरकारी व गैर सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय किया जाता है। इसके माध्यम से देश के छोटे बड़े विनियोजकों एवं बचत कर्ताओं को राष्ट्र के औद्योगिक एवं आर्थिक प्रगति के लिये लाभ पूर्ण विनियोग करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। स्कन्ध विनिमय द्वारा प्रतिभूतियों के क्रय–विक्रय हेतु सुव्यवस्थित बाजार ;व्तहंदपेमक उंतामजद्ध उपलब्ध कराया जाता है। वस्तुतः स्कन्ध विनिमय देश की आर्थिक प्रगति के मापक होते हैं। जिन कम्पनियों की प्रतिभूतियां स्कन्ध विनिमय की सूची में सूचीबद्ध हो जाती हैं; उनका महत्व विनियोजकों के लिये अत्यधिक हो जाता है। वर्तमान परिदृश्य में स्कन्ध विपणि व स्कन्ध विनिमय राष्ट्र के औद्योगिक विकास चक्र की धुरी के समान है। नियंत्रक एवं नियामक संगठन के रूप में स्कन्ध विनिमय की भूमिका अर्थव्यवस्था में मील का पत्थर साबित हुई हैं।

8.2 स्कन्ध विनिमय

स्कन्ध विनिमय से अभिप्राय उस संगठित बाजार से है, जहॉ संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों द्वारा निर्गत विभिन्न प्रकार के अंश, ऋण पत्र सरकारी व गैर सरकारी जनोपयोगी संस्थाओं की प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय किया जाता है। वस्तुतः स्कन्ध विनिमय प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय हेतु एक सुव्यवस्थित एवं संगठित बाजार की भूमिका का निर्वहन करते हैं। सामान्य तौर पर इन्हें स्कन्ध विनिमय, स्कन्ध विपणन, सट्टा बाजार, शेयर बाजार, प्रतिभूति बाजार तथा व्यापारों का व्यापार इत्यादि नामों से सम्बोधित किया जाता है।

प्रतिभूति प्रसंविदा (नियमन) अधिनियम 1956 की धारा 2(प) के अनुसार, ''स्कन्ध विनिमय का आशय व्यक्तियों की निगमित अथवा अनिगमित संस्था से है। जिसका

निर्माण प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय करने या उनमें व्यवहार करने के कार्य में सहायता प्रदान करने एवं उसे नियमित अथवा नियंन्त्रित करने के उद्देश्य से किया गया है। **पायले के शब्दों, में** ''प्रतिभूति विनिमय वह बाजार या स्थान है जहाँ पर सूचीबद्ध प्रतिभूतियों का विनियोग अथवा सट्टे के लिये क्रय विक्रय किया जाता हे।''

हार्टले विदर्स के अनुसार, ''स्कन्ध विपणि एक बड़े गोदाम की तरह है जहाँ विभिन्न प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय एक निश्चित मूल्य पर जो कि आधिकारिक सूची में उल्लिखित होता है, किया जाता है।''

व्याख्या– उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में हम कह सकते हैं कि स्कन्ध विनिमय व्यक्तियों की ऐसी संस्था है, जिसका स्वरूप निगमित (Incorporated) अथवा अनिगमित (Unincorporated) दो प्रकार का हो सकता है। इसका किसी संस्था के रूप में पंजीयन आवश्यक नहीं होता हमारे देश में मुम्बई, इन्दौर, अहमदाबाद के स्कन्ध विनिमय अनिगमित हैं जबकि अन्य स्कन्ध विनिमय भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत है।

8.2.1 स्कन्ध विनिमय की विशेषतायें

उपरोक्त विवेचन के उपरान्त हम कह सकते है कि स्कन्ध विभिन्न की निम्नलिखित विषेषतएँ हैः–

(i) स्कन्ध विनिमय एक संगठित पूँजी बाजार के रूप में कार्य करता है।

(ii) स्कन्ध विनिमय में किये जाने वाले सौदे किसी वस्तु के रूप में न होकर अंश, ऋण पत्र, बन्ध पत्र इत्यादि रूपों में होते हैं। जिनका निर्गमन सार्वजनिक कम्पनियों, ट्रस्टों, प्रान्तीय व केन्द्रीय सरकारों तथा जनोपयोगी संगठनों द्वारा किया जाता है।

(iii) स्कन्ध विनिमय बाजार में सभी सौदे इसके अधिकृत सदस्यों द्वारा विनियोजकों की ओर से या इनके लिये किये जाते हैं।

(iv) स्कन्ध विनिमय में किये जाने वाले कार्य सम्बन्धित स्कन्ध विपणि द्वारा निर्मित नियमों (Laws) तथा विनियमों (By-laws) के परिपेक्ष्य में ही किये जाते हैं।

8.3 स्कन्ध विनिमय के कार्य

वस्तुतः स्कन्ध विनिमय एक महत्वपूर्ण आर्थिक संगठन है अतः इसके द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्य आर्थिक प्रकृति के होते हैं। इस संगठन का प्रमुख कार्य देश की प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय में सहयोग प्रदान कर अर्थव्यवस्था को मजबूती प्रदान करना है। अतः इसके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों एवं प्रदान की जाने वाली सेवाओं का विवेचन निम्नवत हैः–

(i) प्रतिभूतियों के विपणन की सुविधा प्रदान करना– स्कन्ध विनिमय अथवा स्कन्ध विपणि एक ऐसा बाजार है जहाँ प्रतिभूतियों के क्रेता एवं विक्रेता मिलकर परस्पर व्यवहार करते हैं।

(ii) बचतों को विनियोग परक बनाना– स्कन्ध विनिमय का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्र की अतिरिक्त बचतों को विनियोग परक बनाना है। स्कन्ध विनिमय पूँजी बाजार से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित होता है अतः निष्क्रिय बचतों को सक्रिय कर औद्योगिक एवं व्यापारिक उपक्रमों के लिये पूँजी निर्माण का कार्य करता है।

PLONE-029

(iii) **स्थायी बाजार**– स्कन्ध विनिमय प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय हेतु निरन्तर स्थायी बाजार प्रदान करके तरलता (Liquidity) में वृद्धि के वाहक बनते हैं।

(iv) **हस्तान्तरणीयता में अभिवृद्धि के कारक**– स्कन्ध विनिमय प्रतिभूतियों की हस्तान्तरणीयता (Transferability) में वृद्धि करके उद्योगों एवं विनियोजकों दोनों को सहायता प्रदान करते हैं इनके माध्यम से कम्पनियों को दीर्घकालीन पूँजी आसानी से प्राप्त हो जाती है तथा विनियोजकों द्वारा अपनी पूँजी का विनियोग इसलिये किया जाता है कि आवश्यकतानुसार वे इन प्रतिभूतियों को खरीद एवं बेच सकेंगे।

(v) पूँजी को गतिशील बनाना– स्कन्ध विनिमय देश में विनियोजित होने वाली पूँजी को गतिशील बनाते हैं। इनके द्वारा विनियोजकों को यह अवसर प्रदान किया जाता है कि वे अपनी छोटी–छोटी बचतों का प्रयोग प्रतिभूतियों में करें।

(vi) सूचीयन की सुविधा प्रदान करना– स्कन्ध विनिमय द्वारा कम्पनियों के निर्गमित होने वाले प्रतिभूतियों को सूचीबद्ध किया जाता है। जिससे उन कम्पनियों की साख में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त प्रतिभूतियों के सूचीबद्ध हो जाने पर उनका समपार्श्विक मूल्य (Collateral Value) बढ़ जाता है। इसके साथ ही सूचीबद्ध प्रतिभूतियों के बाजार मूल्य नियमित रूप से प्रकाशित करके निवेशकों को यथार्थ से अवगत कराते रहते हैं।

(viii)विनियोजकों की सुरक्षा– स्कन्ध विनिमय महत्वपूर्ण नियामक संगठन होने के कारण विनियोजकों को सुरक्षा प्रदान करने का भी कार्य करते हैं। जैसे अंशों का निर्वाध हस्तान्तरण, नकली प्रतिभूतियों की रोकथाम इत्यादि।

(ix) मूल्य निर्धारक– स्कन्ध विनिमय सूचीबद्ध प्रतिभूतियों के मूल्य निर्धारक का भी कार्य करते हैं। यद्यपि प्रतिभूतियों का मूल्य निर्धारण उनकी, मॉग, पूर्ति, आर्थिक, राजनैतिक, व अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों पर निर्भर करता है किन्तु स्कन्ध विनिमय मूल्य निर्धारण के माध्यम अवश्य होते हैं। इससे विनियोजकों को उनके द्वारा क्रीत प्रतिभूतियों के वर्तमान बाजार मूल्य जानने में सुविधा रहती है, इसी आधार पर वे लाभ की दशा में प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय करते रहते हैं।

8.4 स्कन्ध विनिमय पर व्यवहार की पद्धति

किसी व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा स्कन्ध विपणि से प्रतिभूतियों का लेन–देन करने हेतु उसे स्कन्ध विनिमय द्वारा निर्धारित प्रक्रिया को अपनाना होता है। सामान्य तौर पर स्कन्ध विनिमय पर प्रतिभूतियों के क्रय–विक्रय हेतु अपनायी जाने वाली प्रक्रिया निम्नवत हैः–

(i) **दलाल का चयन (Choice of a Broker)-** प्रतिभूतियों का क्रय एवं विक्रय केवल स्कन्ध विपणि के सदस्यों द्वारा ही किया जा सकता है। अतः जो व्यक्ति स्कन्ध विपणि का सदस्य नहीं है उसे प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय हेतु दलालों की मदद लेनी होती है। दलाल चूँकि प्रचार–प्रसार नहीं कर सकते, अतः ग्राहक अपनी पहचान वालों के माध्यम से विपणि से दलालों की सूची प्राप्त करके दलाल का चयन कर सकता है।

(ii) दलाल की नियुक्ति (Allotment of a Broker)- दलाल से सम्पर्क होने के उपरान्त दलाल ग्राहक से परिचय प्राप्त कर उसकी आर्थिक स्थिति का

आकलन करता है। पूर्णतया सन्तुष्ट होने पर ही दलाल ग्राहक का एजेन्ट बनना स्वीकार करता है।

(iii) आदेश देना (Placing Order)- दलाल की नियुक्ति हो जाने के पश्चात ग्राहक/विनियोजक दलाल को अपने सौदे के बारे में आदेश देता है। जिसके अन्तर्गत प्रतिभूतियों की किस्म, उसके मूल्य तथा मात्रा का उल्लेख होता है। आदेश टेलीफोन, मोबाइल, पत्र व्यवहार, अथवा स्वयं उपस्थित होकर दिया जा सकता है। सौदों से सम्बन्धित आदेश कई प्रकार के हो सकते हैं।

सामान्यतया आदेश निम्नवत प्रारूप में दिये जा सकते हैं–

	आदेश का प्रकार	प्रकृति
(i)	उचित मूल्य आदेश	रिलायन्स के 200 शेयर उचित मूल्य पर खरीदें/बेंचे
(ii)	निश्चित मूल्य आदेश	रिलायन्स के 200 शेयर 850 रू0 में खरीदें/ बेंचे
(iii)	मूल्य सीमा आदेश	रिलायन्स के 200 शेयर 850रू0 से कम में खरीदे/बेंचे
(iv)	तत्काल आदेश	रिलायन्स के 200 शेयर किसी भी मूल्य पर तत्काल खरीदें/बेंचे
(v)	हानि रोको आदेश	रिलायन्स के 200 शेयर 830 रू0 पहुँचते ही बेचो/खरीदो
(vi)	स्वैच्छिक आदेश	रिलायन्स के 200 शेयर अपनी स्वेच्छा से उचित समय पर खरीदें/बेंचे
(vii)	खुला आदेश	रिलायन्स के 200 शेयर खरीदें/बेंचे

3. **आदेश पूर्ण करना (Executing the order)-** दलाल आदेश प्राप्ति के उपरान्त उसे अपनी कच्ची पुस्तक (Rough memo) में लिख लेता है। आदेश प्राप्ति के उपरान्त वह इन्टरनेट के माध्यम से क्रय विक्रय का सौदा कर लेता है।

4. **अनुबन्ध पत्र निर्मित करना**– दलालों द्वारा दिन भर के सौदों का निर्धारित प्रारूप पर अनुबन्ध पत्र (Contract note) तैयार किया जाता है, जिसमें प्रतिभूति की मात्रा, एवं मूल्य, तथा ग्राहक से ली जाने वाली दलाली, ग्राहक से प्राप्य अथवा देय राशि का विवरण होता है। सौदे के दूसरे दिन आमतौर पर अनुबन्ध पत्र (Contract Note) प्रतिभूति क्रेता/विक्रेता के पास भेज दिये जाते हैं।

5. **निबटान (Settlement)-** सौदे दो प्रकार के होते हैं। (i) नकद निपटान (ii) अग्रिम सुपुर्दगी निबटान। नकद निबटान के अन्तर्गत प्रतिभूतियों का सौदा होते ही तत्काल नकद भुगतान हो जाता है। अग्रिम सुपुर्दगी निबटान के अन्तर्गत अग्रिम सौदों में भुगतान एवं प्रतिभूति का आदान प्रदान एक लम्बे समय बाद किया जाता है।

8.5 कतिपय विशेष शब्दावली

(i) प्रतिभूतिया (Securities)- प्रतिभूतियों से आशय उन अंशों, ऋणपत्रों व बन्ध पत्रों से है जिनका क्रय विक्रय स्कन्ध विपणि पर होता है।

(ii) नामांकित मूल्य (Norminated Value)- प्रतिभूतियों के दो मूल्य होते हैंः– (i) नामांकित मूल्य (ii) बाजार मूल्य। बाजार मूल्य से तात्पर्य प्रतिभूति के उस मूल्य से है जिस पर किसी समय विशेष पर क्रय विक्रय होता है। इसके विपरीत नामांकित मूल्य से आशय प्रतिभूति के उस वास्तविक मूल्य से है जो ऊपर लिखा होता है।

(iii) फीते वाला मूल्य (Tape price)- बड़ी–बड़ी स्कन्ध विपणियों में इलेक्ट्रानिक माध्यमों से टी0वी0,एल0सी0डी0 इत्यादि माध्यमों से प्रतिभूतियों का मूल्य पट्टिका रूप में प्रसारित होता रहता है। इसीलिये इसे फीतेवाला मूल्य कहा जाता है।

(iv) गली या वर्कभाव (Street Price)- गली या वर्क भाव से आशय उस भाव से है जब नियमित विपणि के समय समाप्त हो जाने पर उसके बाहर व्यवहार होते हैं। उसे गली या वर्क भाव कहते हैं।

(v) बदला (Carry over)- भुगतान की तिथि को स्थगित करना बदला कहलाता है। जब किसी परिकल्पक द्वारा किसी प्रतिभूति को अग्रिम भुगतान के अनुबन्ध पर क्रय अथवा विक्रय किया जाता है। तथा भुगतान की तिथि को अनुबन्ध स्थगित रखना चाहता है। तो इस प्रक्रिया को बदला कहा जाता है।

(vi) पृष्ठागमन (Backwardations)- जब विक्रेता नियत तिथि को क्रेता को सुपर्दगी नहीं देता तथा तिथि को आगे बढ़ाने हेतु स्थगित करना चाहता है तो उसे क्रेता को निश्चित दर से शुल्क देना होता है। यह शुल्क ही पृष्ठागमन कहलाता है।

(vii) जौबर (Jobers)- जो सटोरिये प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय अपने लिये ही करते हैं उन्हें जौबर कहा जाता है।

(viii) सह दलाल (Stock)- जो व्यक्ति स्कन्ध विपणि के सदस्य के लिये ग्राहक खोज कर लाता है, सौदों की तलाश करता है एवं व्यवहारों की जानकारी पहुंचाता है। उसे सह दलाल कहते हैं।

(ix) प्रवाद या अफवाहें (Rumours)- प्रवाद से आशय भविष्य में घटने वाली किसी ऐसी घटना से है जिसके कारण स्कन्ध विनिमय में प्रतिभूतियों के मूल्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ेगा। प्रवाह फैलाने वाले व्यक्ति को प्रवादी कहा जाता है।

(x) तेजड़िया (Bull)- वह सटोरिया जो प्रतिभूतियों को वर्तमान मूल्य पर खरीदकर भविष्य में मूल्यों के बढ़ने की आशा करता है, तेजड़िया कहलाता है। निपटान तिथि पर मूल्य बढ़ जाने पर लाभ व मूल्य घट जाने पर हानि होती है। तेजड़िया की प्रवृत्ति सॉड ;ठनससद्ध जैसी होने के कारण इसे बुल की संख्या दी जाती है। साँड़ सदैव ऊपर देखता है।

(xi) मन्दड़िया (Bear)- मन्दड़िया की प्रकृति रीछ जैसी होती है जिस प्रकार रीछ सदैव नीचे देखता है उसी प्रकार वह सटोरिया जो मूल्यों को भविष्य में घटने

की आशा करता है मन्दड़िया कहलाता है। वह वर्तमान में प्रतिभूतियों को बेचता है तथा भविष्य में मूल्य कम होने पर खरीदता है। निपटान दिवस पर मूल्य कम हो जाने पर उसे लाभ तथा मूल्य अधिक हो जाने पर उसे हानि होती है।

8.6 स्कन्ध विनिमय पर प्रतिभूतियों का सूचीय

स्कन्ध विनिमय के माध्यम से सभी कम्पनियों की प्रतिभूतियों का क्रय–विक्रय नहीं किया जा सकता। जिन कम्पनियों द्वारा स्कन्ध विनिमय में, निर्गमित होने वाली प्रतिभूतियों (अंश, ऋण पत्र) का सूचीयन कराया जाता है, मात्र उन्हीं प्रतिभूतियों का स्कन्ध विपणि पर क्रय विक्रय किया जा सकता है। जब किसी कम्पनी के आवेदन देने पर कोई स्कन्ध–विनिमय उसके अंशों ऋण पत्रों व बाण्डों को अपनी सूची में सम्मिलित कर लेता है, तो यह प्रक्रिया सूचीयन कहलाती है। प्रतिभूतियों का सूचीयन स्कन्ध विनिमय में हो जाने पर कम्पनी एवं उसकी प्रतिभूतियों की साख में वृद्धि हो जाती है। अतः इन प्रतिभूतियों की तरलता (Liquidity) बढ़ जाती है। ऐसी प्रतिभूतियों को सूचीयत प्रतिभूति (Listed Securities) कहा जाता है।

8.6.1 सूचीयन की विधि

1. **आवेदन देना**– किसी भी सार्वजनिक कम्पनी द्वारा प्रतिभूतियों (अंशों, ऋण पत्रों एवं बाण्डों) का सूचीयन कराने हेतु आवेदन करना होता है आवेदन पत्र के साथ कतिपय प्रलेख यथा पार्षद सीमा नियम (Memorandum of association), पार्षद अर्न्तनियम (Articles of Association), प्रविवरण (Prospectus), पूँजी निर्गमन हेतु नियन्त्रक की अनुमति, पिछले वर्षों का आर्थिक चिट्ठा, पिछले 10 वर्षों में वितरित लाभांश का विवरण इत्यादि संलग्न करना आवश्यक होता है।

2. **आवेदक कम्पनी द्वारा स्कन्ध विपणि को सन्तुष्ट करना**– आवेदन कम्पनी का यह दायित्व होगा कि स्कन्ध विपणि द्वारा वांछित अभिलेखों के साथ–साथ कतिपय अन्य महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर स्कन्ध विपणि को सन्तुष्ट करें यथाः–

   (i) कम्पनी के अर्न्तनियमों में इन तथ्यों का समावेश होना चाहिये कि कम्पनी अंशों के हस्तान्तरण में एक सामान्य तरीका अपनायेगी,

   (ii) पूर्ण दत्त अंशों पर किसी भी प्रकार का पूर्वाधिकार नहीं होगा, याचना हेतु अग्रिम जमा धन पर ब्याज दिया जा सकता है, लाभांश नहीं। कम से कम 49 प्रतिशत प्रतिभूतियॉ जनता को बेचने हेतु प्रस्तुत की जायेंगी।

3. **आवेदक कम्पनी द्वारा स्कन्ध विपणि को वचन देना**– आवेदक कम्पनी द्वारा विपणि को कतिपय वचन देने होते हैं तभी सूचीयन सम्भव हो पाता है। यथा आवेदन पत्र तथा आवंटन पत्र एक साथ प्रेषित किये जायेंगे जो प्रतिभूतियां कम्पनी के पास जमा होंगी उनकी प्राप्ति की रसीद जमाकर्ता के मांगने पर दे दी जायेगी। हस्तान्तरण हेतु जमा प्रतिभूतियों का प्रमाण पत्र एक माह में जारी कर दिया जायेगा, पूँजी परिवर्तन की सूचना स्कन्ध विपणि को देनी होगी।

4. **सूचीयन हेतु आवेदन पत्र को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना**– आवेदक कम्पनी द्वारा प्रस्तुत आवेदन पत्र के साथ संलग्न अभिलेखों की स्कन्ध विनिमय द्वारा जांच की जाती है। जांच के उपरान्त सन्तुष्ट होने पर कम्पनी की प्रतिभूतियों को सूचीबद्ध कर लिया जाता है। सन्तुष्ट न होने की दशा में

PLONE-029

आवेदन पत्र अस्वीकृत कर दिया जाता है। अस्वीकृति की दशा में आवेदक कम्पनी, केन्द्र सरकार के पास अपील कर सकती है। केन्द्र सरकार यदि उचित समझे तो स्कन्ध विपणि को सूचीयन हेतु बाध्य कर सकती है।

5. **सूचीयन रद्द करना**— सूचीबद्ध कम्पनी यदि स्कन्ध विनिमय द्वारा निर्धारित शर्तों एवं नियमों का अनुपालन नहीं करती तो विनिमय कम्पनी को सूचीयन रद्द करने का अधिकार होगा। किन्तु ऐसा करने के पूर्व कम्पनी को अपना पक्ष रखने हेतु अवसर देना होगा। तीन माह से अधिक निलम्बन अथवा निष्कासन की दशा में कम्पनी केन्द्र सरकार के पास अपील करके पुनः सूचीयन हेतु निर्देश प्राप्त कर सकती है।

8.7 स्कन्ध विनिमय एवं सट्टा

सट्टा अथवा परिकल्पना शब्द (Speculation) का हिन्दी रूपान्तर है। 'Speculation' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द "Speculture" से हुई जिसका अभिप्राय है भविष्य को देखना। इस परिकल्पना का आशय भावी घटनाओं की कल्पना से है। स्कन्ध विनिमय पर सट्टा से अभिप्राय, प्रतिभूतियों के मूल्यों में होने वाले भावी परिवर्तन का अनुमान लगाने से है। **एच0जी0 एमरी के अनुसार,** ''सट्टे का आशय वस्तुओं, प्रतिभूतियों अथवा अन्य सम्पत्तियों के पूर्वापेक्षित मूल्यों परिवर्तनों से लाभ कमाने की मात्रा में क्रय विक्रय करना है।''

थामस के शब्दों में, ''सट्टा से आशय व्यावसायिक साहस के उस वर्ग से है जो मूल्यों में घट—बढ़ की आशा में किया जाता है।''

वस्तुतः सट्टा भावी मूल्य वृद्धि हेतु वर्तमान में किये गये काल्पनिक सौदे होते हैं। सट्टा की प्रक्रिया एक प्रकार की जुआ प्रक्रिया होती है जिसके चलते अनेक विनियोजकों को कभी—कभी अत्यधिक हानि उठानी पड़ती है।

8.7.1 सट्टे की विशेषतायें

1. सट्टे सम्बन्धी व्यवहार प्रचलित मूल्य पर किये जाते हैं।
2. किन्तु इनका निपटान भविष्य में पूर्व निर्धारित तिथि पर किया जाता है।
3. सट्टे सम्बन्धी सौदों का उद्देश्य लाभ कमाना होता है। सटोरिये की कल्पना के अनुसार मूल्य वृद्धि पर लाभ व मूल्य कमी पर हानि होती है।
4. सट्टे सम्बन्धी सौदे के अन्तर्गत काल्पनिक क्रय विक्रय होता हैं अर्थात न प्रतिभूतियाँ खरीदी जाती है और न ही बेची जाती है।
5. मूल्यान्तर राशि का भुगतान निश्चित तिथि को करके सौदा बराबर कर लिया जाता है।

वस्तुतः सौदा प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय का न होकर जोखिम का होता है। इस प्रकार के सौदे व्यक्ति की जोखिम वहनीयता का मापन करते हैं।

8.8 स्कन्ध विनिमय में मूल्यों को प्रभावित करने वाले तत्व

स्कन्ध विनिमय एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील बाजार होता है। जहाँ विक्रय हेतु कोई वस्तु न होकर प्रतिभूतियों के रूप में पूँजी होती है। प्रतिभूतियों के

मूल्यों में होने वाले उच्चावचन से अभिप्राय उनके अंकित मूल्यों से कम या अधिक मूल्य से है। संक्षेप में स्कन्ध विनिमय के अन्तर्गत मूल्यों को प्रमाणित करने वाले तत्व निम्नवत हैं।

1. **लाभोपार्जन (Earnings)-** प्रतिभूतियों के मूल्यों में होने वाले उतार–चढ़ाव का प्रमुख कारण कम्पनियों की लाभोपार्जन क्षमता होती है। अधिक लाभ कमाने वाली कम्पनी की प्रतिभूतियों के मूल्य अधिक तथा कम लाभ कमाने वाली कम्पनी की प्रतिभूतियों के मूल्य कम होंगे।

2. **लाभांश (Dividend)-** प्रतिभूतियों के मूल्यों में होने वाले उच्चावचन का एक कारण लाभांश भी होता है। अधिक लाभ होने पर लाभांश अधिक तथा कम लाभ होने पर लाभांश कम प्राप्त होने की प्रत्याशा होती है। अधिक दर से लाभांश का भुगतान करने वाली कम्पनियों के अंशों के मूल्य अधिक तथा कम लाभांश देने वाली कम्पनियों के अंशों के मूल्य कम होंगे।

3. **क्रय विक्रय दशायें (Purchase sells conditions)-** वस्तुतः प्रतिभूतियों की खरीद बिक्री का भी प्रभाव इनके मूल्यों पर पड़ता है। जिन कम्पनियों की प्रतिभूतियों की मांग अधिक होगी उनके मूल्यों में वृद्धि होगी, तथा जिन कम्पनियों की प्रतिभूतियों की मांग कम होगी, उनके मूल्य कम होंगे। अर्थात प्रतिभूतियों की क्रय मात्रा अधिक होने पर मूल्यवृद्धि तथा विक्रय मात्रा अधिक होने पर मूल्यों में कमी सम्भाव्य होती है।

4. **स्टाक खण्डन (Stock Split)-** कभी–कभी अनेक बड़ी कम्पनियों द्वारा जिनके अंशों के मूल्य अधिक होते हैं। उनके द्वारा प्रतिभूतियों के अधिमान मूल्यों को अनेक छोटे–छोटे खण्डों में विभाजित किया जाता है। जिससे कम पैसे वाले लोग भी उन्हें खरीद सकें। इससे प्रतिभूतियों के अंकित मूल्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु स्कन्ध विनिमय पर ऐसी प्रतिभूतियों का मूल्य बढ़ जाता है।

5. **ब्याजदर (Interest Rate)-** प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय पर बैंकों के ब्याज दरों का भी प्रभाव पड़ता है, अधिक ब्याज दर होने पर अपेक्षाकृत बैंकों से कम कर्ज लेकर लोग प्रतिभूतियों में विनियोग करेंगे, जिससे प्रतिभूतियों की माँग घटने से मूल्य कम होंगे। इसके विपरीत ब्याज दरें कम होने पर लोग अधिक मात्रा में कर्ज लेकर प्रतिभूतियाँ क्रय करेंगे, जिससे प्रतिभूतियों की मांग बढ़ने पर मूल्यों में वृद्धि होगी।

6. **मुद्रा चलन (Currency Circulation)-** मुद्रा की चलन गति का भी प्रभाव प्रतिभूतियों के मूल्यों पर पड़ता है। मुद्रा का अधिक प्रसार होने पर जनता के पास क्रयशक्ति आ जाने के कारण प्रतिभूति के मूल्य बढ़ते हैं। जबकि मुद्रा संकुचन की दशा में मुद्रा की कमी होने के कारण क्रयशक्ति घट जाती है, जिससे प्रतिभूतियों की माँग घट जाती है फलतः इनका मूल्य भी कम हो जाता है।

7. **वस्तुओं के मूल्य (Commodity Prices)-** वस्तुओं के मूल्यों में होने वाली वृद्धि मुद्रा स्फीति तथा कमी मुद्रा संकुचन का संकेत देते हैं। यदि किसी उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं तो जनता अधिक लाभांश की प्रत्याशा में उस उद्योग के अंशों को खरीदने लगती हैं। परिणाम स्वरूप मूल्य बढ़ जाते हैं किन्तु यदि किसी उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य घटने लगते हैं तो कम लाभांश के डर से विनियोजक उन अंशों को बेचने लगते हैं, तथा खरीदना कम कर देते हैं जिससे उन प्रतिभूतियों के मूल्य कम होने लगते हैं।

8. **हड़तालें (Strikes)-** उद्यमों में होने वाली हड़तालें भी प्रतिभूतियों के मूल्यों में उच्चावचन का कारण बनती हैं। हड़ताल के कारण प्रतिभूतियों के मूल्य गिर जाते हैं। कभी कभी हड़ताल की सम्भावना पर ही मूल्य गिरने लगते हें।

9. **बजट सम्बन्धी अफवाहें (Budget Rumers)-** स्कन्ध विनिमय पर व्यवहार करने वाले व्यक्ति देश के बजट पर पैनी निगाह रखते हें। उत्पादों पर सरकार द्वारा की गई कर बढ़ोत्तरी व कमी का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतिभूतियों के मूल्यों पर पड़ता है। किसी उद्योग विशेष को सरकार द्वारा दी गई राहत से सम्बन्धित प्रतिभूतियों के मूल्य बढ़ते हैं तथा सरकार द्वारा किसी उद्योग पर किये गये अतिरिक्त करारोपण से सम्बन्धित प्रतिभूतियों के मूल्य घटते हैं।

10. **मीडिया का प्रभाव (Media Impact)-** प्रतिभूतियों के उतार चढ़ाव पर समाचार माध्यमों जैसे अखबार, टेलीविजन, इन्टरनेट, इत्यादि माध्यमों का भी प्रभाव पड़ता है। मीडिया द्वारा जारी किये गये अनुकूल अथवा प्रतिकूल विचार (Comments) प्रतिभूतियों के मूल्यों में उच्चावचन के कारक होते हैं।

8.9 उपयोगिता

वस्तुतः पूँजी संचयन हेतु स्कन्ध विनिमय पूंजी बाजार की धुरी के समान होते हैं। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के अध्ययन हेतु उस देश के स्कन्ध विपणि का अध्ययन करना आवश्यक होता है। संक्षेप में स्कन्ध विनिमय निम्नलिखित रूपों में उपयोगी होते हैं—

- **विनियोजन की सुविधा एवं सुरक्षा**— प्रायः विनियोजक ऐसी प्रतिभूतियों में अपना धन लगाना चाहते हैं जो सुरक्षित हों तथा तरलता प्रदान करती हों। स्कन्ध विपणि के माध्यम से प्रतिभूतियों में तरलता ;स्पुनपकपजलद्ध एवं सुरक्षा ;ैंमिजलद्ध दोनों गुण आ जाते हैं।

- **मूल्य सूची का प्रकाशन**— स्कन्ध विनिमय सूचीबद्ध प्रतिभूतियों के प्रतिदिन के मूल्य प्रकाशित करते हैं। जिससे विनियोजकों को विनियोजित प्रतिभूतियों के मूल्य आसानी से प्राप्त हो जाते हैं।

- **पूँजी का समुचित उपयोग**— स्कन्ध विनिमय के माध्यम से विनियोजक अपनी पूँजी को अलाभकर विनियोगों से हटाकर लाभकारी विनियोगों में लगा सकते हैं।

- **ख्याति में वृद्धि**— स्कन्ध विनिमय प्रतिभूतियों के सूचीयन से पूर्व सम्बन्धित कम्पनी की आर्थिक स्थिति, उपार्जन क्षमता, एवं वित्तीय व्यवस्था का आकलन कर लेती है, परिणाम स्वरूप सूचीबद्ध कम्पनियों की ख्याति में वृद्धि होती है।

- **विस्तृत बाजार**— स्कन्ध विनिमय के माध्यम से अंश निर्गत करने वाली कम्पनियों को विस्तृत बाजार मिल जाता है जिसके परिणाम स्वरूप निर्गमित अंशों से अधिक मात्रा में आवेदन आ जाते हैं।

- **मध्यस्थ का कार्य**— स्कन्ध विनिमय कम्पनी तथा विनियोजक के मध्य मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं। जिससे व्यक्तिगत धन संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों में विनियोजित होता है।

- **औद्योगीकरण में सहायक**– स्कन्ध विनिमय उद्यम की आधारभूत आवश्यकता पूँजी निर्माण में सक्रिय सहयोग देते हैं, जिससे देश के औद्योगीकरण को बल मिलता है।
- **कुशल उद्यमों को प्रोत्साहन**– कुशल उद्यमों द्वारा निर्गत प्रतिभूतियों का बाजार मूल्य अधिक होता है तथा उनका निर्गमन भी प्रीमियम पर होता है। इसके विपरीत अकुशल उद्यमों की प्रतिभूतियां कटौती पर बिकती है। स्कन्ध–विपणि कुशल उद्यमों को प्रोत्साहित करने का भी कार्य करता है।

8.9.1 दोष

स्कन्ध विनिमय के अनेक लाभों के साथ ही कुछ दोष भी हैं जो इसकी कार्यशैली पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं तथा जनता के मध्य अविश्वास के कारक बनते हैं। संक्षेप में इसके कतिपय दोष निम्नवत हैं :–

- **सट्टेबाजी को प्रोत्साहन**– स्कन्ध विनिमय पर अनवरत प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय सट्टेबाजी का रूप धारण कर लेता है। कुछ लोग विनियोग न करके अपितु काल्पनिक विनियोग द्वारा सट्टेबाजी से लाभ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। परिणाम स्वरूप कभी कभी भारी हानि का सामना करना पड़ता है।
- **मूल्यों में भारी उतार चढ़ाव**– आर्थिक सामाजिक तथा राजनैतिक कारणों से प्रभावित होकर प्रतिभूतियों के मूल्यों में भारी उतार चढ़ाव होता है। जिससे अनेक विनियोजकों को भारी हानि का सामना करना पड़ता है। वस्तुतः स्कन्ध विनिमय के लाभों एवं दोषों का अध्ययन करने के उपरान्त यह पता चलता है कि इसके लाभों की तुलना में दोष बहुत कम है। स्कन्ध विपणि वस्तुतः किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के विकास मापक यन्त्र की भांति होते हैं तथा विकास की गति को त्वरण प्रदान करने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। स्कन्ध विपणि के दोष स्वयं मानव जनित दोष हैं जिनके कारण विनियोजकों को हानि का सामना करना पड़ता है।

8.10 स्कन्ध विनिमय पर नियंत्रण एवं नियमन

स्कन्ध विनिमय जैसे महत्वपूर्ण आर्थिक संगठन के सुचारू संचालन हेतु नियन्त्रण एवं नियमन की सख्त आवश्यकता है। सट्टा व्यवहार इस संगठन का सबसे नकारात्मक बिन्दु है। अतः उचित व्यवहारों को प्रोत्साहित करने एवं नकारात्मक व्यवहारों को समाप्त करने हेतु स्कन्ध विनिमय पर नियन्त्रण एवं नियमन की व्यवस्था की गई। सर्वप्रथम 1922 में मुम्बई की विधान परिषद ने प्रस्ताव पास करके मुम्बई स्कन्ध विपणि की जांच करने व उसके व्यवहारों को नियमित एवं निर्देशित करने के सम्बन्ध में सुझाव देने हेतु एक कमेटी नियुक्त करने का सुझाव दिया। फलस्वरूप 23 सितम्बर 1929 को एटले कमेटी (Atley Committee) नियुक्त की गई।

इसके सुझाव के आधार पर सन् 1925 में मुम्बई सरकार ने (प्रतिभूति अनुबन्ध नियन्त्रण अधिनियम) पास किया। स्वतन्त्रता के पश्चात 23 जून 1951 को ए0डी0 गोरवाला की अध्यक्षता में संशोधित ड्राफ्ट बिल प्रस्तुत हेतु एक समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने अपना प्रतिवेदन 14 जुलाई 1951 को प्रस्तुत किया, इसके रिपोर्ट के आधार पर 24 दिसम्बर 1954 को भारतीय संसद में प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) बिल प्रस्तुत किया गया जो सन् 1956 में पारित होकर 20 फरवरी 1957 से लागू हुआ।

PLONE-029

8.10.1 प्रतिभूति प्रसंविदा (नियमन) अधिनियम 1956

गोरवाला समिति के सुझाव पर निर्मित एवं अधिनियमित यह अधिनियम 20 फरवरी 1957 को देश में लागू किया गया। इस अधिनियम की कतिपय महत्वपूर्ण व्यवस्थायें निम्नवत है।

- स्कन्ध विनिमय का कार्य करने हेतु केन्द्र सरकार से अनुज्ञा पत्र (Licence) प्राप्त करना अनिवार्य है।
- स्कन्ध विनिमय केन्द्रों के लिये यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे अपने नियमों एवं उपनियमों का अनुमोदन केन्द्र सरकार से अवश्य प्राप्त करें। जिससे भविष्य में इनकी कार्य प्रणाली में समरूपता लाई जा सके।
- केन्द्र सरकार को यह अधिकार है कि वह किसी भी समय स्कन्ध विपणि का कार्य अपने हाथ में ले ले। स्कन्ध विपणि की मान्यता समाप्त करने का भी अधिकार केन्द्र सरकार के पास निहित है।
- केन्द्र सरकार समय–समय पर स्कन्ध विनियमों से आवश्यक सूचनायें एवं विवरण मॉग सकती है।
- एक अनुसूचित क्षेत्र में मान्यता प्राप्त स्टाक एक्सचेंज के सदस्यों से ही कोई व्यक्ति प्रतिभूतियों का व्यवहार करेगा। जिन क्षेत्रों में स्कन्ध विनिमय नहीं है वहॉ सरकार से अनुज्ञा पत्र लेकर ही कोई व्यक्ति प्रतिभूति क्रय विक्रय का कार्य करेंगे।
- सन् 1988 में भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड (Securities and Exchange Board of India) S.E.B.I. की स्थापना की गई, 1992 में इसे वैधानिक दर्जा प्रदान कर दिया गया। वर्तमान समय में स्कन्ध विनिमय के सदस्यों, मर्चेन्ट बैंकर्स, शेयर ब्रोकर्स, अभिगोपकों तथा प्रतिभूति बाजार से सम्बद्ध सभी मध्यस्थों का पंजीयन एवं नियमन का कार्य lsch (S.E.B.I.) द्वारा किया जाता है। इन मध्यस्थों द्वारा पंजीयन कराने एवं निर्धारित शुल्क का भुगतान करने के उपरान्त ही प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय का कार्य किया जा सकता है।
- व्यक्ति अथवा संस्था स्कन्ध विनिमय के सदस्य हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त अब व्यक्ति या संस्था एक से अधिक स्टाक एक्सचेंजों में सदस्यता प्राप्त कर सकते हैं।
- अधिनियम की व्यवस्था के अनुसार स्कन्ध विनियमों में अब विकल्प के सौदों (Option Dealing) पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है।
- निर्धारित विधान का उल्लंघन करने पर अधिनियम के अधीन दण्ड की व्यवस्था की गई है।

8.11 सारांश

वर्तमान औद्योगिक परिदृश्य में संगठन की उन्नति एवं विकास हेतु अधिक पूँजी की आवश्यकता का समाधान कम्पनी प्रारूप में निहित होता है। सार्वजनिक कम्पनियों द्वारा जनता के मध्य अपनी प्रतिभूतियों (अंश, ऋणपत्र व बाण्ड) निर्गमित करके

अधिकाधिक पूँजी एकत्र की जा सकती है। पूँजी संग्रहण जैसे महत्वपूर्ण कार्य के कुशल संचालन हेतु किसी नियामक संस्था का होना आवश्यक होता है।

इसी क्रम में स्कन्ध विनिमय (Stock exchange) का जन्म हुआ। स्कन्ध विनिमय के माध्यम से अंशों, ऋण पत्रों एवं सरकारी व गैर सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय किया जाता है। स्कन्ध विनिमय द्वारा प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय हेतु सुव्यवस्थित बाजार (Organised market) उपलब्ध कराया जाता है। स्कन्ध विनिमय द्वारा अनेक महत्वपूर्ण कार्य यथा प्रतिभूतियों के विपणन की व्यवस्था करना, बचतों को विनियोगपरक बनाना, हस्तान्तरणीयता को सुगम बनाना, सूचीयन की सुविधा, विनियोजकों की सुरक्षा इत्यादि सम्पादित किये जाते हैं। प्रत्येक कम्पनी अपने अंशों व ऋण पत्रों को निर्गमित करने से पूर्व स्कन्ध विनिमय में सूचीबद्ध करने हेतु आवेदन करती है। इस संगठन द्वारा कम्पनी की आर्थिक क्षमता एवं भावी योजनाओं का मूल्यांकन करने के उपरान्त ही सूचीबद्ध किया जाता है। जिससे कम्पनी की ख्याति में भी वृद्धि होती है। वस्तुतः स्कन्ध विनिमय वर्तमान परिप्रेक्ष्य में किसी भी देश के औद्योगिक विकास हेतु बैरोमीटर की भांति कार्य करता है। पूंजी का स्वतन्त्र एवं निर्वाध प्रवाह बनाने एवं बचतों को प्रतिभूतियों में विनियोग करने में स्कन्ध विनिमय ने उल्लेखनीय कार्य किया है।

8.12 उपयोगी शब्दावली

- **स्कन्ध विनिमय**– स्कन्ध विनिमय से अभिप्राय उस संगठित बाजार से है जहाँ संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों द्वारा निर्गत विभिन्न प्रकार के अंश, ऋणपत्र व सरकारी एवं गैर सरकारी जनोपयोगी संस्थाओं की प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय किया जाता है।

- **निबटान**– निबटान से आषय प्रतिभूतियों के सौदे से है। नकद निबटान के अन्तर्गत प्रतिभूतियों का सौदा होते ही तत्काल नकद भुकतान हो जाता है जबकि अग्रिम सुपुर्दगी निबटान के अर्न्तगत अग्रिम सौदे में भुगतान एवं प्रतिभूति का आदान–प्रदान एक लम्बे समय बाद किया जाता है

- **सट्टा**– सट्टा भावी मूल्य वृद्धि हेतु वर्तमान में किये गये काल्पनिक सोदे होते है।

- **लाभांश**– लाभ का वह भाग जिसे अंष धारको के माध्य वितरित किया जाता है, लाभॉष कहलाता है।

8.13 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1 स्कन्ध किसे कहते हैं?

प्रश्न 2 स्कन्ध विनिमय क्या है?

प्रश्न 3 प्रतिभूतियों के सूचीयन से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न 4 बदला से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न 5 जौबर किसे कहते हैं?

प्रश्न 6 तेजड़िया से आप क्या समझते है?

प्रश्न 7 मंदड़िया कौन होता है?

प्रश्न 8 स्कन्ध विनिमय से आप क्या समझते हैं? मूल्यों के उतार चढ़ाव को प्रभावित करने वाले तत्व कौन–कौन से हैं?

प्रश्न 9 स्कन्ध विनिमय के प्रमुख कार्यों का उल्लेख कीजिये।

प्रश्न 10 प्रतिभूतियों के सूचीयन हेतु अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का उल्लेख कीजिये।

प्रश्न 11 स्कन्ध विनिमय की उपयोगिता एवं दोषों पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न 12 स्कन्ध विनिमय पर नियन्त्रण एवं निगमन हेतु बने अधिनियम का उल्लेख कीजिये।

प्रश्न 13 निम्नलिखित स्थानों की पूर्ति कीजियेः–

(i) प्रतिभूतियों के अन्तर्गत................................आते हैं।

(ii) भुगतान तिथि को स्थगित करना................................कहलाता है।

(iii) जो सटोरिये अंशों का क्रय विक्रय अपने लिये करते हैं उन्हें ....कहते हैं।

(iv) मन्दड़िया की प्रवृत्ति................................जैसी होती है।

(v) तेजड़िया की प्रवृत्ति................................जैसी होती है।

(vi) सट्टा................................सौदा होता है।

(vii) भारत में सर्वप्रथम................................स्टाक एक्सचेंज की स्थापना हुई।

(viii) प्रतिभूति प्रसंविदा (नियमन) अधिनियम................................को लागू हुआ।

(ix) S.E.B.I.____________________________

(x) सेबी की स्थापना कब हुई थी।

उत्तर– (i) अंश, ऋण पत्र एवं बाण्ड (ii) बदला (iii) जौबर (iv) रीछ (v) साँड (vi) काल्पनिक (vii) मुम्बई (viii) 20 फरवरी 1957 (ix) Securities and Exchange Board of India (x) 1988

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- वित्तीय प्रबन्धन– डॉ0 आर0के0 पाण्डेय, लोकभारती, इलाहाबाद।
- वित्तीय प्रबन्ध– डॉ0 आर0एस0 कुलश्रेष्ठ, साहित्य भवन आगरा।
- Financial Management- I.M. Pandey (Vikas Publishing House Delhi).
- वित्तीय प्रबन्ध– डॉ0 एस0पी0 गुप्ता, साहित्य भवन आगरा।
- Financial Management, Ravi M. Kishore, Taxmann's Publication

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

B.Com-101

व्यावसायिक संगठन

खण्ड – 3

विपणन

इकाई – 9 **117**

विपणन संस्थायें

इकाई – 10 **127**

वितरण माध्यम

इकाई – 11 **143**

फुटकर विपणन

इकाई – 12 **159**

थोक विपणन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 अरविन्द कुमार — वाणिज्य संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो0 गीतिका — विभागाध्यक्ष, प्रबन्ध अध्ययन विद्याशाखा एम0एन0आई0टी0 प्रयागराज

प्रो0 एच0के0 सिंह — वाणिज्य संकाय बी0एच0यू0 वाराणसी

डॉ0 ओमजी गुप्ता — निदेशक प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा प्रयागराज

लेखक

डॉ0 देवेश रंजन त्रिपाठी — सहायक आचार्य, व्यापार प्रबंधक, प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 एच0 के0 सिंह — वाणिज्य संकाय बी0एच0यू0 वाराणसी

परिमापक

अनुवाद की स्थिति में

मूल लेखक	अनुवाद
मूल सम्पादक	भाषा सम्पादक
मूल परिमापक	परिमापक

सहयोगी टीम

संयोजक

डॉ0 देवेश रंजन त्रिपाठी — सहायक आचार्य, व्यापार प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज.

प्रकाशक

सितम्बर, 2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN-978-93-83328-76-5

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन : उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक : कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2020

PLONE-029

मुद्रक- के0सी0 प्रिंटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी , मथुरा- 281003.

खण्ड परिचय

विपणन संस्थायें

प्रस्तुत खण्ड स्नातक वाणिज्य के अति महत्त्वपूर्ण पाठ्यक्रम ''व्यापारिक संगठन'' का तृतीय खण्ड है। इस खण्ड में विपणन की महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की बिन्दुवार चर्चा की गयी है। इस खण्ड में मुख्य रुप से विपणन संगठन, इनका वर्गीकरण, भूमिकाये, महत्त्व वितरण माध्यम तथा वर्गीकरण, मध्यस्थों के प्रकार, फुटकर विपणन एवं इनका वर्गीकरण, उन्मूलन आदि महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर विस्तार से प्रकाष डाला गया है। इस खण्ड में कुल 04 इकाईयों को सम्मिलित किया गया है जिनकी विषय वस्तु इस प्रकार से हैः–

इकाई 09 में विपणन संगठन का अर्थ, परिभाषा, सिद्धान्त, महत्त्व, भूमिका तथा प्रकारों के साथ–साथ क्रियात्मक विपणन विपणन संगठन संरचना, उत्पाद अभिमुखी विपणन संगठन संरचना, ग्राहक अभिमुखी विपणन संगठन संरचना, क्षेत्रान्मुखी विपणन संगठन संरचना तथा मिश्रित रुप–विपणन संगठन संरचना को समाहित किया गया है।

इकाई 10 में वितरण माध्यम का अर्थ, परिभाषा, कार्य, विभिन्न माध्यम, वितरण के तरीके को प्रभावित करने वाले कारक, माध्यस्थों की अवधारणाओं को विस्तार से समझाया गया है।

इकाई 11 में फुटकर विपणन की अवधारणा, विषेषताएँ, कार्य, सेवाएँ, वर्गीकरण, थोक व्यापार एवं फुटकर व्यापार में अन्तः, बड्ड परिमाण फुटकर व्यापार के लाभ्झ, वर्गीकरण को विषेष रुप से सम्मिलित किया गया है।

इकाई 12 में थोक विपणन की अवधारणा पर विस्तार से प्रकाष डाला गया है, साथ ही इसकी विषेषताएँ, कार्य समाज के प्रति सेवाएँ तथा थोक व्यापारीयों के उन्मूलन को भी विस्तार से समझाया गया है।

PLONE-029

इकाई–9 विपणन संस्थायें

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 विपणन संगठन का अर्थ एवं परिभाषाएँ

9.3 विपणन के सिद्धान्त

9.4 विपणन संगठन का महत्त्व

9.5 विपणन संगठन की भूमिका

9.6 विपणन संगठन संरचनाओं के प्रकार

9.6.1 क्रियात्मक विपणन संगठन संरचना

9.6.2 उत्पाद–अभिमुखी विपणन संरचना

9.6.3 ग्राहक–अभिमुखी विपणन संगठन संरचना

9.6.4 क्षेत्रोन्मुख–विपणन संगठन संरचना

9.6.5 मिश्रित रूप–विपणन संगठन संरचना

9.7 सारांश

9.8 उपयोगी शब्दावली

9.9 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप इस योग्य हो सकेंगे किः–

- विपणन संगठन का अर्थ एवं परिभाषाएँ बता सकेगें,
- विपणन के सिद्धान्त की व्याख्या कर सकेंगें,
- विपणन संगठन का महत्त्व जान सकेंगे,
- विपणन संगठन की भूमिका का विष्लेषण कर सकेंगे तथा
- विपणन संगठन संरचनाओं के विभिन्न प्रकारों को विस्तार से विष्लेषित कर सकेंगें।

9.1 प्रस्तावना

वर्तमान प्रतिस्पर्धा के युग में यह आवष्यकता है कि प्रत्येक विभाग आपस में संगठित व समन्वित होकर ही कार्य करे। विपणन का उद्देश्य यह भी है कि समन्वित विपणन, इसका तात्पर्य विपणन के विभिन्न मिश्रणों में समन्वय। इस युग में उत्पाद

नियोजन एवं विकास, बाजार–अनुसंधान, उत्पाद विभेदीकरण, उत्पाद विविधीकरण, नियोजन उत्पाद, उत्पाद सरलीकरण, विज्ञापन, संवर्द्धन, कीमत–निर्धारण एवं नियंत्रण आदि पर एक नये दृष्टिकोण से ध्यान देना होगा जिससे कि बढ़ती हुई विपणन लागतों को रोका जा सके फलस्वरुप उत्पादक द्वारा उपभाक्ताओं को उचित किस्म की वस्तुएं, उचित मूल्य पर उपलब्ध कराकर सामाजिक न्याय का वितरण किया जा सके। इस लिए यह भी आचष्यक है कि व्यवसाय को विपणनमुखी बनाने के लिए विपणन संगठन को व्यवसाय के संगठन में महत्त्वपूर्ण स्थान देना ही होगा, अन्यथा उपभोक्ता संतुष्टि के लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं हो सकेगी जिसपर कि व्यवसाय के लक्ष्यों की पूर्ति निर्भर करती है।

9.2 विपणन संगठन का अर्थ एवं परिभाषायें

विपणन संगठन दो शब्दों का मेल है 'विपणन' + 'संगठन'। 'विपणन' से तात्पर्य कियाी वस्तु अथवा सेवा के उत्पादन के लिए विचारों की उत्पत्ति से लेकर उपभोक्ता को संतुष्टि एवं विक्रयोपरान्त सेवाओं के लिए की जाने वाली समस्ट क्रियाओं से है जबकि संगठन 'सुव्यवस्था' से सम्बन्धित है। सामान्य अर्थ में संगठन का अर्थ उस व्यवस्था अथवा संरचना से है जो व्यक्तियों को प्रभावषाली ढंग से कार्य में लगे व्यक्तियों के अधिकार एवं दायितवों को निर्धारित कर उनके बीच प्रभावपूर्ण सामन्जस्य स्थापित करती है, जिससे सुगमतापूर्वक विपणन लक्ष्य प्राप्त किया जा सके।

विपणन क्रियाओं में संलग्न व्यक्तियों को प्रभावषाली ढंग से कार्य करने के योग्य बनाना ही विपणन संगठन कहलाता है।

''विपणन संगठन उत्पादों, वितरण वाहिकाओं, भौतिक वितरण व्यवस्थाओं, संवर्द्धन क्रियाओं एवं कीमतों के सम्बन्धों में निर्णय लेने के लिए साधन उपलध्य कराता है।''

– **कन्डिफ एवं स्टिल**

उपर्युक्त परिभाषा के अधार पर यह जा सकता है कि विपणन संगठन से तात्पर्य उस संगठन से है जो उपक्रम की नीतियों को क्रियान्वयन विपणन कार्यो का निर्धारण, विभाजन एवं समूहीकरण करता है, इसी के साथ ही साथ विपणन कार्य में संगग्न व्यक्तियों के अधिकारों एवं दायित्वों को निर्धारित कर उसमें प्रभावपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है, जिससे पूर्ण–निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सके।

9.3 विपणन संगठन के सिद्धान्त

व्यावसायिक उपक्रम के पूर्व–निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रभावी विपणन संगठन का होना आवष्यक है क्योंकि किसी उपक्रम की सफलता उसके प्रभावी विपणन संगठन पर निर्भर करती है। एक स्वस्थ, कुशल एवं प्रभावी विपणन संगठन के लिए निम्नलिखित सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहये–

1. **उद्देश्य का सिद्धान्त**– विपणन संगठन एवं उपक्रम के उद्देष्यों में एकरुपता होनी चाहिए अर्थात् विपणन संगठन का प्रत्येक भाग तथा उप–विभाग का उद्देश्य व्यावसायिक उपक्रम के उद्देश्य से मिलता हुआ होना चाहिए।
2. **अधिकार का सिद्धान्त**– संगठन में ऊपर से नीचे तक की अधिकार की रेखाएं स्पष्ट होनी चाहिए अर्थात् विपणन संगठन में विभिन्न कर्मचारियों को अपने कार्य क्षेत्र संबंधी अधिकार स्पष्ट रुप से सौपें जाने चाहिए।

3. **उत्तरदायित्व का सिद्धान्त**– अधिकार एवं उत्तरदायित्व एक दूसरे के पूरक होते है। विपणन संगठन में प्रत्येक कर्मचारी को यह मालूम होना चाहिए कि वह किस कार्य के प्रति उत्तरदायी है एवं उसकी जवाबदेयता किस अधिकारी के प्रति है।

4. **विशिष्टीकरण का सिद्धान्त**– विपणन संगठन के कार्यें का विभाजन कर्मचारियों को उनकी योग्यता, अनुभाव एवं चातुर्य के अनुसार होना चाहिए एवं कर्मचारी को उनके विशिष्टता के अनुरुप कार्य दिए जाने चाहिए।

5. **समन्वय का सिद्धान्त**– संगठन के विभिन्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों की क्रियाओं में समन्वय होना चाहिए साथ ही विभिन्न विभागों में भी आपस में समन्वय होना चाहिए।

6. **आदेश की एकता का सिद्धांत**– विपणन संगठन में इस बात की निश्चितता होनी चाहिए कि एक कर्मचारी को एक ही अधिकारी कार्य करने का आदेश दे सकता है क्योंकि अनेक अधिकारियों द्वारा दिए गये आदेष एक दूसरे के प्रतिकूल भी हो सकते हैं।

7. **अपवादों का सिद्धान्त**– उच्च अधिकारियों या विपणन प्रबन्धन के द्वारा सामान्यतः बड़ी समस्याएं या नीति सम्बन्धी क्रियाएं ही की जानी चाहिए जो सामान्य स्तर से ऊँचा हो, कर्मचारी को अपने कार्य के प्रति पूर्ण अधिकार दे दिये जाने चाहिए जिससे अपने कार्यों को वह स्वतन्त्रता पूर्वक कर सके।

8. **विस्तार नियन्त्रण का सिद्धांत**– उच्च अधिकारियों या विपणन प्रबन्धकों द्वारा नियंत्रण का क्षेत्र सीमित होना चाहिए जिससे कि अधिकारी अपने कर्मचारियों पर उचित नियंत्रण का क्षेत्र व्यापक होने पर नियंत्रण का प्रभाव कम से जाता है।

9. **कार्य सौंपने का सिद्धान्त**– प्रत्येक कर्मचारी को उसके नियुक्ति के समय ही कार्य निश्चित कर सौंप दिया जाना चाहिए जिससे उसको अपने कार्य के बारे में स्पष्ट जानकारी हो।

10. **निश्चितता का सिद्धान्त**– निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी के कार्य निश्चित कर सोंप दिया जाना चाहिए जिससे उसको अपने कार्य के बारे में स्पष्ट जानकारी हो।

11. **लोच का सिद्धान्त**– परिवर्तनशील व्यावसायिक वातावरण में विपणन संगठन के अन्तर्गत समय एवं आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करने के लिए पर्याप्त लोच होना चाहिए।

12. **निरन्तरता का सिद्धान्त**– विपणन संगठन ऐसा होना चाहिए कि भविष्य में भी व्यावसाय की निरन्तरता बनी रहे। इस सम्बन्ध में पीटर एफ. ड्रकर ने भी कहा है ''संगठन ढाँचा इस प्रकार बनाया जाना चाहिए कि वह पाँच, दस अथवा पन्द्रह वर्षो के पश्चात् भी व्यवसाय के उद्देश्य की उपलब्धि को संभव बना सके।''

9.4 विपणन संगठन का महत्त्व

आधुनिक विपणन की प्रमुख मान्यता है कि 'उभोक्ता सर्वोच्च है' अर्थात् उपभोक्ता की आत्मिक संतुष्टि मुख्य रुप से व्यावसायिक लाभ के लिये होती है। व्यावसायिक उपक्रम की समस्त विपणन क्रियायें उपभोक्ता की आवश्यकता से शुरु होती हैं और व्यावसायिक उपक्रम के लाभ के साथ प्रभावशाली ढ़ंग से उपभोक्ता की संतुष्टि के पश्चात् विक्रयोपरान्त सेवाओं पर समाप्त होती है। एनथोनी कैसीनों ने कहा

PLONE-029

है कि ''आधुनिक विपणन एक दार्षनिक तथा संगठनात्मक विचारधारा है। दर्शन की दृष्टि से आधुनिक विपणन ग्राहकों को सम्राट तथा उसकी सेवा को व्यावसायिक संस्था के अस्तित्व का एकमात्र उद्देश्य मानता है।'' कैसीनों के इस कथन से स्पष्ट होता है कि विपणन दर्शन व्यावसायिक संस्था के लिए अपरिहार्य एवं अनिवार्य है, उसकी व्यावहारिक प्रयुक्ति के लिए सुदृढ़ विपणन संगठन में एक विशिष्ट पूरक आवष्यकता है। बिना ग्राहक संचेतन संगठन के विपणन दर्षन की अवधारणा एवं व्यावहारिक प्रयुक्ति संभव नहीं है।

एक प्रभावी विपणन संगठन की आवष्यकता एवं महत्त्व के सम्बन्ध में सी. केनेथ का विचार है ''एक कमजोर विपणन अच्छे उत्पाद को मिट्टी में मिला सकता है, परन्तु एक अच्छा विपणन संगठन, जिसके पास कमजोर उत्पाद है अच्छे उत्पाद को बाजार से बाहर कर सकता है।'' इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यावसायिक संस्था को संगठन के द्वारा ही विपणन की नीतियों का क्रियान्वयन होता है। अतएव व्यवसाय प्रणाली को विपणन मूलक बनाने के लिए विपणन संगठन को व्यवसाय में एक महत्त्वपूर्ण स्थान देना ही होगा, अन्यथा ग्राहक को संतुष्टि के उस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकेगी जिस पर व्यवसायिक लक्ष्यों की पूर्ति निर्भर करती है। सारांष रुप में यही कहा जा सकता है कि विपणन परिणामों के लक्ष्यों की प्राप्ति का एक साधन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विपणन संगठन के द्वारा विपणन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास किये जाते है।

9.5 विपणन संगठन की भूमिका

आधुनिक संगठन विचारधारा के अनुसार संगठन ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो कि अपने प्रयासों को समन्वित आधार पर वांछित दिशा में निर्देशित कर सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करता है। यह सामान्य लक्ष्य संगठन की संरचना को प्रभावित करते हैं। एक व्यावसायिक उपक्रम के निम्नलिखित लक्ष्य हो सकते हैं जिसका विपणन संगठन पर प्रभाव पड़ता है–

1. **लाभ अर्जित करना**– दीर्घकाल की अवधि तक बाजार में बने रहने एवं उद्यमी के हित के लिए व्यवसाय को सामान्य लाभ मिलना चाहिए, एक विपणन संगठन के लिए लाभ की मात्रा बहुत ही महत्त्व रखती है। विपणन संगठन की संरचना ऐसी होनी चाहिए कि वह विक्रय की मात्रा बढ़ाए, जिससे लागत कम हो एवं लाभ में वृद्धि हो सके।

2. **ग्राहकों को संतुष्टि प्रदान करना**– कोई भी व्यवसायिक संस्था दीर्घकाल तक ग्राहक को बनाए रखना चाहती है या पुनविक्रय को अधिक महत्त्व देती है। ऐसी स्थिति में उसे विक्रयोपरान्त सेवाएं प्रदान करना पड़ेगा। वहीं दूसरी तरफ संगठन का लक्ष्य ग्राहक को एक बार ही विक्रय सेवा देना है तो अलग प्रकार का विपणन संगठन कना होगा।

3. **सामाजिक उत्तरदायित्व निभाना**– विपणन प्रबन्ध की आधुनिक विचारधारा सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने पर बल देती है। इसी को सामाजिक विपणन कहते है। जब कम्पनी का विपणन संगठन अपेक्षाकृत लाभ कमाने के उद्देष्य वाली व्यावसायिक उपक्रम से भिन्न होकर सामाजिक कल्याण ही उद्देष्य हो ऐसी स्थिति में दोनों उपक्रमों का विपणन संगठन भिन्न–भिन्न होगा।

4. **प्रतिस्पर्धा की स्थिति**– किसी व्यावसायिक उपक्रम के वर्तमान एवं भावी प्रतिस्पर्धा से सीधा सम्बन्ध होता है। यदि प्रतियोगिता अधिक न हो तो संगठन सरल, सामान्य एवं आकार छोटा होता है, और इसमें वैयक्तिक विक्रय, विज्ञापन एवं विक्रय संवर्द्धन जैसी क्रियांए भी सीमित होती हैं। यदि प्रतियोगिता अधिक हो तो विपणन संगठन संरचना जटिल तथा बड़े आकार की होगी तथा वैयक्तिक विक्रय विज्ञापन एवं विक्रय संवर्द्धन बड़े पैमाने पर होगा।

5. **उपक्रम को स्थायित्व प्रदान करना**– प्रत्येक व्यावसायिक उपक्रम अपने साधनों व क्षमताओं के अनुसार बाजार में एक निष्चित स्थान बनाने का लक्ष्य निर्धारित करता है। जैसे– कीमत, उत्पाद की मात्रा, उत्पाद का गुण, उत्पाद की विभिन्नता आदि। कम्पनी का लक्ष्य जिस प्रकार का होगा उसके अनुरुप ही विपणन संगठन होगा।

9.6 विपणन संगठन संरचनाओं के प्रकार

व्यापारिक संस्थाओं के पूर्व–निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति करने हेतु विपणन क्रियाओं को कुषलतापूर्वक एवं निर्बाध गति से निष्पादन करने के लिए जिस संगठन का निर्माण किया जाता है उसे संगठन संरचना कहते है। विभिन्न व्यावसायिक उपक्रमों में विपणन क्रियाओं की अवष्यकता के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रकार की विपणन संगठन संरचनाओं का प्रयोग किया जाता है।

व्यावसायिक उपक्रमों में सामान्यतया पाँच प्रकार की विपणन संगठन संरचनायें प्रचलित हैं–

9.6.1 क्रियात्मक–विपणन संगठन संरचना

इस प्रकार के संगठन ढाँचे में, विपणन प्रबन्ध के कार्य के आधार पर क्रियाओं का विभाजन होता हैं। जिसके अर्न्तगत उपक्रम की प्रबन्धकीय क्रियाओं को पाँच प्रमुख विभागों में विभक्त किया जाता है– इन पाँचों विभागों के लिए पृथक–पृथक प्रबन्धक नियुक्त किये जाते हैं। जो विपणन प्रबन्धक के नियंत्रण में कार्य करते हैं। इस प्रकार विपणन क्रियाओं से सम्बन्धित विभिन्न विभागों के लिए अंतिम रुप से विपणन क्रियाओं से सम्बन्धित विभिन्न विभागों के लिए अंतिम रुप से विपणन प्रबन्धक ही उत्तरदायित्व होता है और प्रत्यक्ष रीति से प्रबन्ध संचालक के अधीन कार्य करता है। क्रियात्मक विपणन संगठन की संरचना छोटी कम्पनी के लिए उचित है।

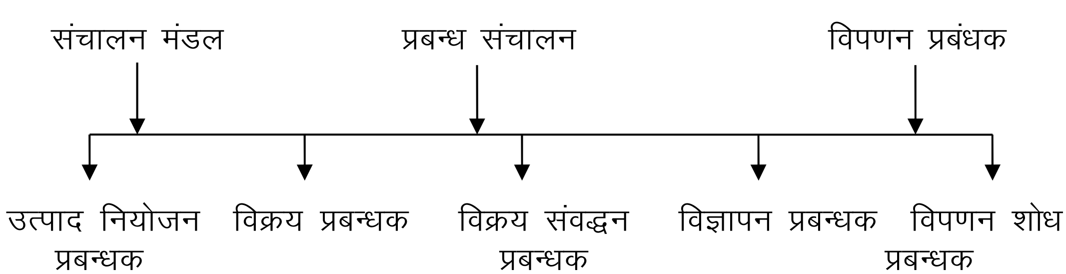

9.6.2 उत्पाद–अभिमुखी विपणन संगठन संरचना

वर्तमान वैश्विक परिवेष में बहुराष्ट्रीय कम्पनीयां जो एक से अधिक वस्तु का उत्पादन व बिक्री बड़े पैमाने पर करती है, उनमें प्रतयेक वस्तु के लिए अलग–अलग

PLONE-029

प्रबन्धक नियुक्त किये जाते हैं लेकिन कुछ क्रियाओं के लिए केन्द्रित विभाग होते हैं जैसे—विज्ञापन, विपणन, शेध, विक्रय संवर्द्धन आदि।

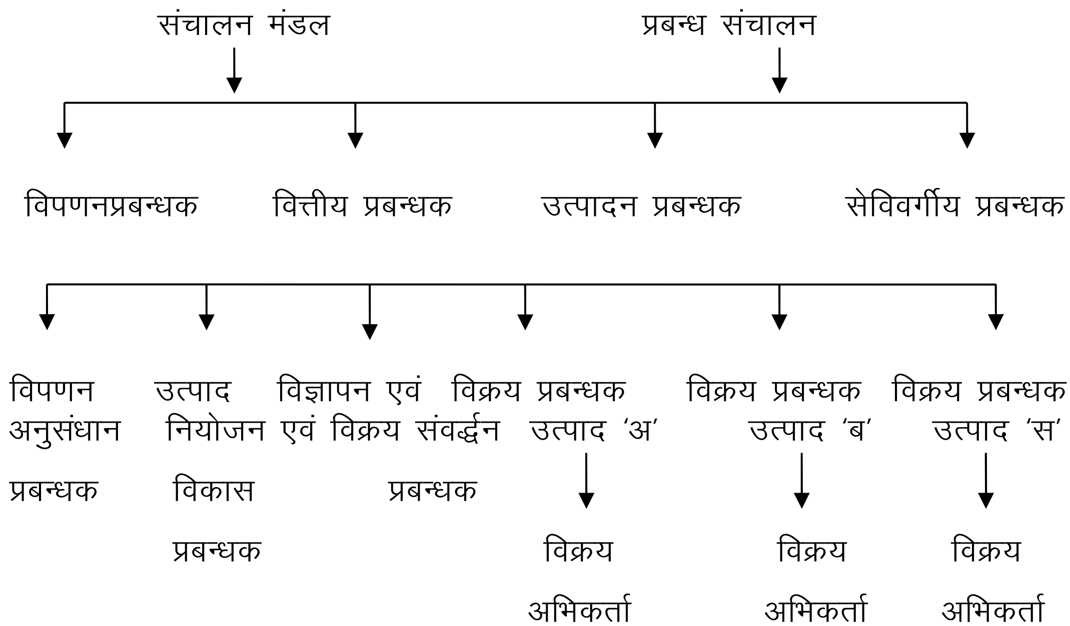

9.6.3 ग्राहक—अभिमुखी विपणन संगठन संरचना

इस प्रकार के व्यवसाय संगठन संरचना में ग्राहकों को उनकी, रुचियों, क्रय व्यवहार, आय अथवा अन्य किसी उचित आधार पर भिन्न—भिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। सामान्यतया ग्राहकों को पाँच या छः वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे—थोक ग्राहक, फुटकर ग्राहक, शहरी ग्राहक, ग्रामीण ग्राहक, विदेषी ग्राहक, संस्थागत ग्राहक आदि।

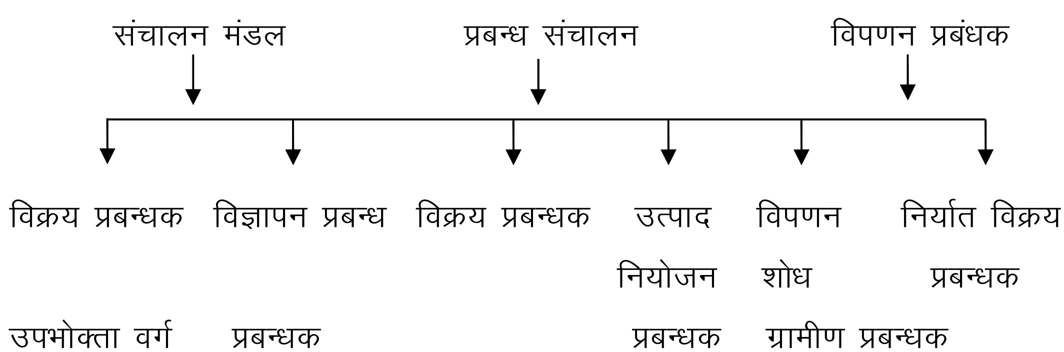

9.6.4 क्षेत्रोन्मुखी—अभिमुखी विपणन संगठन संरचना

क्षेत्रोंन्मुखी या बाजार अभिमुखी विपणन संगठन संरचना के अन्तर्गत समस्त विक्रय क्षेत्र को भौगोलिक/क्षेत्रीय या प्रादेषिक परिस्थितियों के अनुरुप कई क्षेत्रों विभाजित कर दिया जाता है अर्थात विभिन्न बाजार क्षेत्रों के कार्य क्षेत्रीय प्रबंधकों सौंप दिये जाते हैं जो अपने क्षेत्र के कार्यों में कुषल होते हैं और उस क्षेत्र की विषेषता को जान लेते हैं। ये क्षेत्रीय विक्रय प्रबंधक अपने अधीन विक्रय निरीक्षकों को नियुक्त करता है तथा वे विक्रय निरीक्षक अपने अधीन विक्रेताओं को नियुक्त कर वस्तुओं का विक्रय करते हैं।

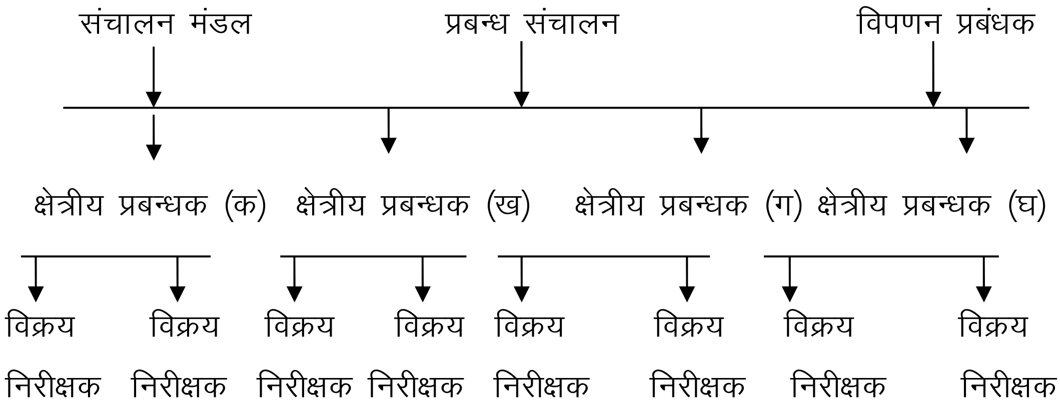

9.6.5 मिश्रित रुप–अभिमुखी विपणन संगठन संरचना

बदलते व्यावसायिक परिदृष्य में बहुआयामी व्यावसायिक व्यवहार में साधारणतया मिश्रित रुप का विपणन संगठन का उदय हो रहा है। सामान्यतया इस संगठन संरचना में उपरोक्त चारों प्रकार की संरचनाओं–क्रियात्मक आधारित, क्षेत्र आधारित, उत्पाद आधारित और ग्राहक आधारित का मिश्रण होता है।

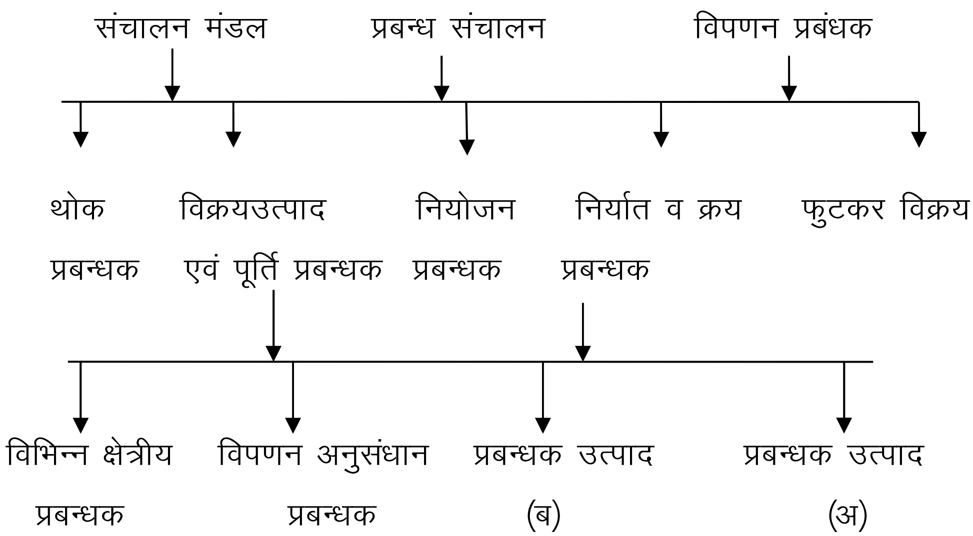

9.7 सारांश

वर्तमान प्रतिस्पर्धा के युग में यह आवश्यकता है कि प्रत्येक विभाग आपस में संगठित व समन्वित होकर ही कार्य करे। विपणन का उद्देश्य यह भी है कि समन्वित विपणन, इसका तात्पर्य विपणन के विभिन्न मिश्रणों में समन्वय। विपणन संगठन दो शब्दों का मेल है 'विपणन' + 'संगठन'। 'विपणन' से तात्पर्य कियाी वस्तु अथवा सेवा के उत्पादन के लिए विचारों की उत्पत्ति से लेकर उपभोक्ता को संतुष्टि एवं विक्रयोपरान्त सेवाओं के लिए की जाने वाली समस्त क्रियाओं से है जबकि संगठन 'सुव्यवस्था' से सम्बन्धित है।

एक स्वस्थ, कुषल एवं प्रभावी विपणन संगठन के लिए निम्नलिखित सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहये, 1. उद्‌देश्य का सिद्धान्त 2. अधिकार का सिद्धान्त 3. उत्तरदायित्व का सिद्धान्त 4. विशिष्टीकरण का सिद्धान्त 5. समन्वय का सिद्धान्त 6.आदेश की एकता का सिद्धानत 7. अपवादों का सिद्धान्त 8. विस्तार नियन्त्रण का सिद्धान्त 9. कार्य सौंपने का

सिद्धान्त 10. निश्चितता का सिद्धान्त 11. लोच का सिद्धान्त 12. निरन्तरता का सिद्धान्त। इसी प्रकार व्यावसायिक उपक्रमों में सामान्यतया पाँच प्रकार की विपणन संगठन संरचनायें प्रचलित हैं, 1. क्रियात्मक–विपणन संगठन 2. उत्पाद–अभिमुखी विपणन संगठन 3. ग्राहक–अभिमुखी विपणन संगठन 4. क्षेत्रोन्मुखी–अभिमुखी विपणन संगठन 5. मिश्रित रुप–अभिमुखी विपणन संगठन

9.8 उपयोगी शब्दावली

- **विपणन संगठन**– विपणन संगठन दो शब्दों का मेल है 'विपणन' + 'संगठन'।
- **विपणन**– विपणन से तात्पर्य कियाी वस्तु अथवा सेवा के उत्पादन के लिए विचारों की उत्पत्ति से लेकर उपभोक्ता को संतुष्टि एवं विक्रयोपरान्त सेवाओं के लिए की जाने वाली समस्त क्रियाओं से है।
- **लोच का सिद्धान्त**– परिवर्तनशील व्यावसायिक वातावरण में विपणन संगठन के अन्तर्गत समय एवं आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करने के लिए पर्याप्त लोच होना चाहिए।
- **कार्य सौंपने का सिद्धान्त**– प्रत्येक कर्मचारी को उसके नियुक्ति के समय ही कार्य निष्चित कर सौंप दिया जाना चाहिए जिससे उसको अपने कार्य के बारे में स्पष्ट जानकारी हो।
- **निश्चितता का सिद्धान्त**– निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी के कार्य निष्चित कर सोंप दिया जाना चाहिए जिससे उसको अपने कार्य के बारे में स्पष्ट जानकारी हो।
- **विज्ञापन**– विचारों, वस्तुओं अथवा सेवाओं को, पहचाने जा सकने वाले विज्ञापनकर्ता द्वारा शुल्क देकर अव्यक्तिगत रुप से प्रेशित करने का कोई भी रुप।
- **प्रचार**– किसी कंपनी अथवा उसके उत्पाद के बारे में व्यापारिक रुप से महत्त्वपूर्ण सूचना का गैर व्यक्तिगत माध्यम द्वारा प्रस्तुतीकरण जिसके लिए कंपनी से कोई शुल्क नहीं लिया जाता।
- **ब्राण्ड निष्ठा**– क्रय करते समय माल के किसी विषिष्ट ब्रांड के लिए ही झुकाव।
- **ब्रांड छवि**– उत्पाद से जुड़े हुए किसी विषिष्ट ब्रांड नाम के प्रति अनुकूल राय।
- **जन–माध्यम**– बड़ी संख्या में लोगों तक संदेष संप्रेषित करने के लिए प्रयोग किए जाने वाले संप्रेषण के माध्यम।

9.9 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. विपणन संस्थाओं से आप क्या समझते है?

प्रश्न 2. विपणन संस्थाओं के महत्त्व को बताइये।

प्रश्न 3. विपणन संस्थाओं के संगठन की संरचनाओं की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 4. विपणन संस्थाओं के विभिन्न प्ररुपों को समझाइये।

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- डॉ0 पदमाकर अस्थाना (साहित्य भवन) आगर/1994 व्यावसायिक संगठन पूर्णतः संशोधित, परिवर्तित एवं परिमार्जित संस्करण।
- डॉ0 जगदीश प्रकाश (एम0काम, डी0 फिल0) प्रोफेसर, वाणिज्य एवं व्यवसाय प्रशासन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद आधुनिक व्यवसायिक संगठन, 1991
- जी0 एल. जोशी, जी0 एल शर्मा, एल0एस0सी0 जोशीः व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध (दिल्ली : श्री महावीर बुक डिपो, 1988 अध्याय 1, 3)
- डाॅ0 एस0सी0 सक्सेना– व्यापारिक संगठन (बंसल पब्लिशिंग हाउस) ब0पा0ह
- वी0पी0सिंह– व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध का परिचय, इलाहाबाद किताब महल, 1988

इकाई–10 वितरण माध्यम

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 वितरण माध्यम का अर्थ व परिभाषाएं

10.3 वितरण माध्यम के कार्य

10.4 वितरण के विभिन्न माध्यम

10.4.1 उपभोक्ता वस्तुओं का वितरण माध्यम

10.4.2 औद्योगिक वस्तुओं का वितरण माध्यम

10.5 वितरण के तरीके को प्रभावित करने वाले घटक

10.5.1 बाजार

10.5.2 उत्पाद या वस्तु

10.5.3 निर्माता

10.5.4 मध्यस्थ

10.5.5 सरकारी नीति

10.6 मध्यस्थों के प्रकार

10.7 थोक विक्रेताओं के प्रकार

10.7.1 उपभोक्ता वस्तुओं के थोक विक्रेता

10.7.2 औद्योगिक वस्तुओं के थोक विक्रेता

10.8 प्रतिनिधि–मध्यस्थ

10.9 सारांश

10.10 उपयोगी शब्दावली

10.11 महत्वपूर्ण प्रश्न

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगें किः

- देशीय व्यापार तथा वितरण प्रणाली की व्याख्या कर सकें
- वितरण के माध्यम का आषय एवं इसके कार्य बता सकें
- वितरण के विभिन्न माध्यमों का वर्णन कर सकें

- वितरण के माध्यम के चुनाव को प्रभावित करने वाले घटकों की व्याख्या कर सकें
- वितरण प्रणाली में मध्यस्थों में अंतर कर सकें।

10.1 प्रस्तावना

वैश्वीकरण के युग में आवश्यकता इस बात की है कि किसी भी वस्तु का उत्पादन क्रम से कम लागत पर होने के साथ–साथ उस वस्तु के उचित एवं पर्याप्त वितरण की व्यवस्था हो। वितरण में अनावश्यक व्यय न हो तथा न ही अनावष्यक माध्यम जिससे वस्तुओं का अधिकतम वितरण सुगमतापूर्वक सम्पन्न किया जा सके। इस प्रकार उपभोक्ताओं की अधिकतम संतुष्टि के लिए उपयुक्त 'वितरण माध्यम' का चुनाव अपरिहार्य है। किसी वस्तु के उत्पादन या निर्माण के पष्चात् अन्तिम उपभोक्ता या औद्योगिक क्रेता के पास किस तरह पहुँचाय जाय, इसको ही साधारणतया वितरण माध्यम कहा जाता है। अतः वितरण माध्यम वे विभिन्न मार्ग है, जिनसे होकर काई उत्पाद उपभोक्ताओं तक सही मात्रा में, सही स्थान एवं सही समय पर पहुँच जाता है।

10.2 वितरण माध्यम का अर्थ व परिभाषायें

वितरण माध्यम की परिभाषा प्रमुख विद्वानों ने निम्नलिखित प्रकार से दी हैः–

''उत्पादक से उपभोक्ता तक का संस्थाओं का कोई भी क्रम जिसमें या तो एक मध्यस्थ है या उनकी कोई भी संस्था हो सकती है, वितरण–माध्यम कहलाता है।''–मैकार्थी

''वस्तुओं के अधिकार–स्वामित्व को अन्तिम उपभोक्ता या औद्योगिक विक्रेता तक पहुँचाने में जो माध्यम अपनाया जाता है, वह वितरण–माध्यम कहलाता है।''–विलियम जे.स्टाण्टन परिभाषाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करने के पश्चात् वितरण माध्यम के निम्नलिखित लक्षण परिलक्षित होते हैं–

- वितरण माध्यम में पहला घटक 'उत्पादक' तक अन्तिम घटक 'अन्तिम उपभोक्ता' होता है।
- वितरण माध्यम में मध्यस्थों की एक निष्चित संख्या नहीं होती है, यह कुछ भी हो सकती है।
- केवल सेवा प्रदान करने वाले व्यक्ति एवं संस्थाएँ वितरण माध्यम में सम्मिलित नही होते हैं, जैसे–बैंक, परिवहन संस्थाएँ, बीमा आदि।
- किसी माध्यस्थ द्वारा वस्तु की प्रकृति, गुण, मात्रा व आकार–प्रकार में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं होना चाहिए।
- यदि किसी वस्तु की प्रकृति, गुण, मात्रा व आकार–प्रकार मे परिवर्तन कर दिया जाता है, तो एसी दषा में नया वितरण माध्यम प्रारम्भ हो जाता है।

10.3 वितरण माध्यम के कार्य

वितरण व्यवस्था में वितरण माध्यम उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं को आवश्यकतानुसार ऐसे कार्य के माध्यम से जोड़ते हैं, जिससे वितरण व्यवस्था की सफलता सुनिश्चित हो सके। वितरण माध्यम या मध्यस्थों के ऐसे कार्य एवं सेवाओं को निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से जाना जा सकता हैः–

1. **आवश्यक साधन जुटाने में सहायक करना**— वितरण माध्यम या मध्यस्थ उचित उत्पादन व्यवस्था करने के लिए विभिन्न स्थानों से कुशल श्रमिक, पूंजी, मशीने व कच्चा माल एकत्रित करने उत्पादकों की सहायता करते है। अतः उत्पादक को उचित उत्पादन व्यवस्था हेतु वितरण माध्यम या माध्यमों की इस प्रकार की सहायता मिल जाने से उनकी उत्पादन प्रक्रिया को पूरा करना आसान हो जाता है।

2. **वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति का पूर्वानुमान लगाना**— वितरण माध्यम में संलग्न माध्यस्थ उपभोक्ताओं से सीधे जुड़े होते है, अतः उनको इस बात की जानकारी होती है कि किस वस्तु की? किस तरह की? किस स्थान पर? कितनी आवष्यकता है? इस प्रकार मध्यस्थों की राय के आधार पर प्रायः निर्माता वस्तु का उत्पादन एवं वितरण सुनिष्चित करता है।

3. **मूल्य निर्धारित करने में मदद करना**— मध्यस्थों का उभोक्ताओं के नजदीक होने के कारण उन्हें यह जानकारी होती है कि उपभोक्ता किस मूल्य पर अधिकतम क्रय करता है। वह यह जानकारी प्रदान करता करता है कि वस्तु का मूल्य कितना निर्धारित किया जाए? जिससे उपभोक्ता आसानी से वस्तु क्रय कर सके।

4. **वस्तुओं की माँग बढ़ाना**— मध्यस्थ भी यह चाहते हैं कि वस्तुओं की माँग बढ़े, जिससे उनके लाभ में वृद्धि हो। अतः अधिक विक्रय करनवाने हेतु मध्यस्थ विज्ञापन तथा अन्य विक्रय सम्वर्द्धन के साधनों को अपनाकर वस्तुओं की माँग बढ़ाने का प्रयास करते है। इस प्रकार निर्माता भी मध्यस्थों को ऐसे कार्य करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रलोभन एवं प्रोत्साहन देते है।

5. **उपभोक्ताओं के प्रति सेवाएँ**— वितरण माध्यम वास्तव में उत्पादक एवं उपभोक्ताओं को जोड़ने का कार्य करता है। मध्यस्थ सदैव इस बात का ध्यान रखते हैं कि उपभोक्ताओं को उचित मूल्य, उचित समय एवं उचित स्थान पर जरुरत की वस्तुएँ आसानी से प्राप्त हो सकें।

6. **वित्त प्रबन्ध करना**— मध्यस्थ या वितरण माध्यम निर्माताओ के लिए वित्त उपलब्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जब वस्तु मध्यस्थों के माध्यम से बेची जाती है, तो ऐसी दशा में प्रायः निर्माता मध्यस्थों से कुछ अग्रिम या गारण्टी राषि जरवा लेते हैं, यह राषि निर्माता अपने उत्पादन एवं वितरण व्यय कि लिए प्रयोग कर लेता है, जिससे वित्त सम्बन्धी समस्या का कुछ सीमा तक समाधान हो जाता है। कभी—कभी मध्यस्थों को माल बैकों के माध्यम से भी भेजा जाता है, जिससे निर्माता उस माल से सम्बन्धित प्रपत्रों को बैंक से बट्टे पर भुना लेता है, जिससे उसके वित्त का प्रबन्ध हो जाता है।

7. **वस्तुओं का बाजार क्षेत्र बढ़ाना**— मध्यस्थों द्वारा निर्माताओं को थोक आधार पर माल बेचा जाता है। थोक व्यापारी पुनः इस माल को फुटकर व्यापारियों द्वारा की जाती है। फुटकर व्यायपारी प्रायः ऐसे क्षेत्र में माल बेचने का भी प्रयास करते हैं, जहाँ माल की पहँच नहीं होती है। इस प्रकार बाजार के नये—नये क्षेत्र विकसित होते हैं।

8. **अन्य महत्त्वपूर्ण जानकारी देना**— वितरण में लगे मध्यस्थ उपभोक्ताओं के नजदीक होते हैं, जिससे उन्हें उनकी क्रय की क्षमता, आवष्यकता, पसन्द, आदि

का अनुभव होता है। साथ ही साथ यदि उपभोक्ताओं का झुकाव अन्य किसी वस्तु की ओर होता है तो इन परिस्थितियों में मध्यस्थ, निर्माताओं को इसकी सूचना देते रहते है, जिससे निर्माता भी उपभोक्ताओं की रुची के अनुरुप अपने उत्पाद में आवष्यक परिवर्तन कर लेता है।

10.4 वितरण के विभिन्न माध्यम

वितरण के माध्यम को वितरण के मार्ग या तरीके या व्यापार के मार्ग आदि नामों से भी जाना जाता है। वितरण के माध्यम को हम व्यापारिक प्रवृत्ति के अनुसार दो भागों में विभाजित कर सकते हैं–

10.4.1 उपभोक्ता वस्तुओं का वितरण माध्यम

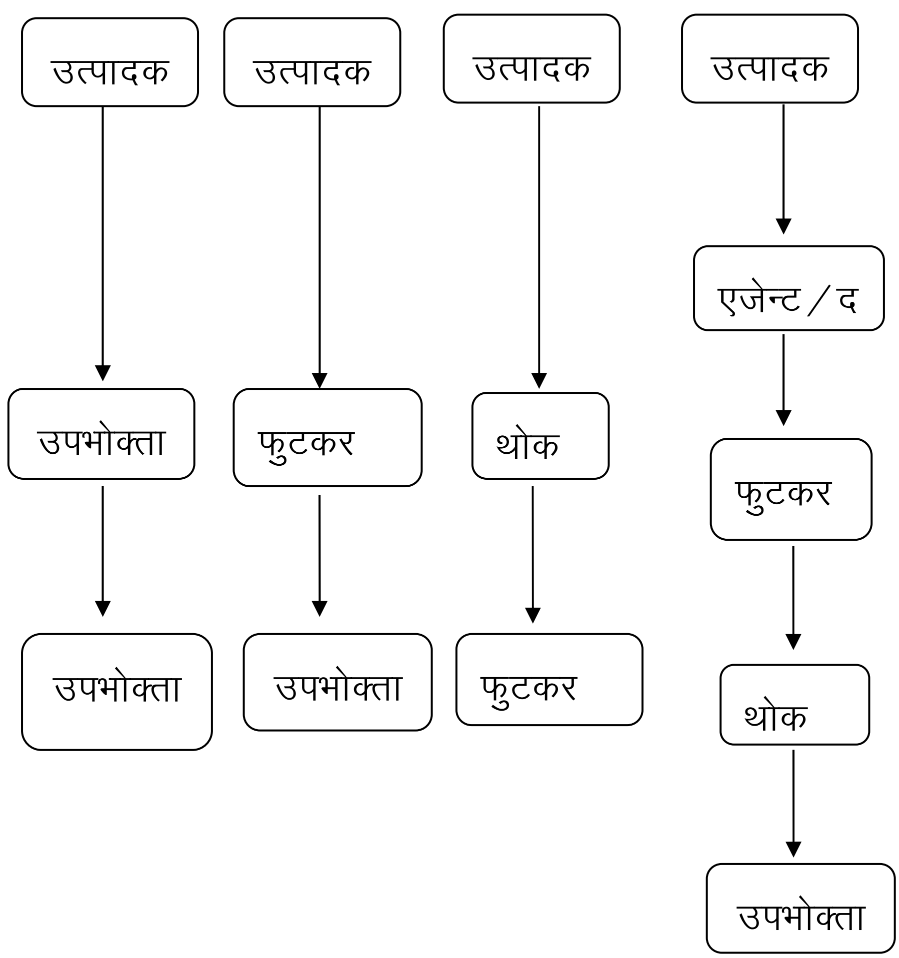

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वितरण माध्यम कई प्रकार के होते हैं एवं प्रत्येक वितरण माध्यम में मध्यस्थों की स्थिति अलग–अलग होती है। परन्तु उपभोक्ता चार्ट से यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि वितरण माध्यम में उपरोक्त चित्र में दर्शाये गये 6 ही तरीके होते हैं, कुछ परिस्थितियों में इनकी संख्या बढ़ या घट भी सकती है। यह संख्या प्रतिनिधि या थोक विक्रेता के रुप में बढ़ सकती है। उपरोक्त चित्र में दर्शाये गये वितरण माध्यमों का विस्तृत स्पष्टीकरण निम्न तरीकों से दिया जा सकता है–

1. **निर्माता → प्रतिनिधि → फुटकर उपभोक्ता**– इस वितरण माध्यम को उपरोक्त चत्र में में '◆' माध्यम से दर्षाया गया है। जो यह प्रदर्षित करता है कि निर्माता एवं उपभोक्ता के बीच सिर्फ एक ही कड़ी प्रतिनिधि या दलाल है। इस माध्यम में प्रतिनिधि या दलाल वितरण के विभिन्न स्थानों पर फैले रहते है। इस माध्यम से वितरण करने के लिए संस्थाए प्रतिनिधियों की नियुक्ति आवष्यकतानुसार करती है। प्रतिनिधियों से सीधे उपभोक्ताओं के सम्पर्क में रहने से कम्पनी को अपनी वितरण नीति में आवष्यकता परिवर्तन करने में आसानी रहती है। भारत वर्ष में इस के माध्यम मुख्य रुप से दवा निर्माता तथा सौन्दर्य प्रसाधन वस्तुओं के निर्माता अपनाते हैं।

2. **निर्माता → प्रतिनिधि → अन्तिम उपभोक्ता**– इस वितरण माध्यम को चित्र में '□' माध्यम से दर्षाया गया है। जो यह प्रदर्शित करता है कि निर्माता एवं उपभोक्ता के बीच प्रतिनिधि और फुटकर विक्रेता वितरण माध्यम का कार्य करते हैं। इस माध्यम में प्रतिनिधि ही फुटकर विक्रेताओं की आपूर्ति करते हैं तथा फुटकर विक्रेता, उपभोक्ताओं को वस्तुएँ प्रदान करते है। यह माध्यम मुख्य रुप से मध्यम आकार की निर्माणी संस्थाओं द्वारा अपनाया जाता है।

3. **निर्माता → प्रतिनिधि → थोक व्यापारी → फुटकर उपभोक्ता → उपभोक्ता**– इस वितरण माध्यम को चित्र में '++' चिन्ह से दर्षाया गया है। यह चिन्ह वस्तुओं के निर्माता से शुरु होकर प्रतिनिधि–थोक व्यापारी–फुटकर व्यपारी से होते हुए अन्तिम उपभोक्ता के बिन्दु पर पहुँचकर समाप्त होता है। जिससे यह ज्ञात होता है कि वितरण कार्य पूरा होने में प्रतिनिधि थोक विक्रेता एवं फुटकर विक्रेता वितरण मााध्यम होता है। यह माध्यम मुख्य रुप से बड़ी–बड़ी उपभोक्ता वस्तुओं की निर्माणी संस्थाओं द्वारा अपनाया जाता है, जिनका वितरण विस्तृत एवं व्यापक होता है। इस वितरण माध्यम से उपभोक्ताओं के पास पहुँचने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है।

4. **निर्माता → थोक व्यापारी → फुटकर उपभोक्ता → उपभोक्ता**– इस वितरण माध्यम को चित्र में '◆' चिन्ह द्वारा दर्शाया गया है, जो यह प्रदर्शित करता है कि निर्माता एवं उपभोक्ता के बीच व्यापारी एवं फुटकर व्यापारी की वितरण माध्यम का कार्य करते है। इस तरह किसी उपभोक्ता वस्तु के निर्माण के पश्चात् सर्वप्रथम थोक व्यापारी के पास पहुचती है, तत्पश्चात् थोक व्यापारी आवष्यकतानुसार उन्हे फुटकर व्यापारियों को बेचता है। उपभोक्ता इन फुटकर व्यापारियों से वस्तु क्रय करते है। वास्तव में वस्तु वितरण का यह माध्यम बहुत पुराना है। मुख्य रुप से छोटे निर्माताओं के लिए वर्तमान में भी यह विधि सरल एवं सुविधाजनक है।

5. **निर्माता → फुटकर उपभोक्ता → उपभोक्ता**– इस वितरण माध्यम को चित्र में '■' चिन्ह द्वारा निर्माता निभिन्न भागों में फैले फुटकर व्यापारियों को वस्तु बेचता है तथा फुटकर व्यापारी उपभोक्ताओं को वस्तु की आपूर्ति करते हैं। यह माध्यम मुख्य रुप से उन निर्माताओं द्वारा अपनाया जाता है जिनका व्यापारिक क्षेत्र छोटा होता है या उनके द्वारा निर्मित वस्तु की मात्रा कम होती है। इस प्रकार के माध्यम अपनाये जाने से वितरण लागत में कमी आती है। इस तरह की वितरण व्यवस्था डी.सी.एम. व बिन्नी के द्वारा मुख्य रुप से किया जाता है।

6. **निर्माता → उपभोक्ता** – चित्र में इसे '☼' द्वारा प्रदर्षित किया गया है। और यह रेखा निर्माता से शुरु होकर सीधे उपभोक्ताओं की रेखा में मिलती है। अतः यह

इस बात को परिलक्षित करती है कि यहां पर वितरण कार्य सम्पन्न करने के लिए कोई मध्यस्थ नहीं है। निर्माता ही अपनी निर्मित वस्तु को उपभोक्ताओं तक पहुंचाता है। इस विधि को सीधी बिक्री भी कहते हैं। इस तरह की बिक्री करने के लिए निर्माता स्वयं की दुकानों, विक्रयकर्ताओं, डाक माध्यम व टेलीफोन आदि को अपनाते हैं। यह माध्यम बहुत ही छोटे निर्माता स्वयं की दुकानों, विक्रयकर्ताओं, डाक माध्यम व टेलीफोन आदि को अपनाते है। यह माध्यम बहुत ही छोटे निर्माता के लिए उपयुक्त समझा जाता है। इस वितरण माध्यम को अपनाने से वितरण व्यय कम करने के लिए भी यह वितरण माध्यम अपनाया जाता है। इस तरह के वितरण प्रायः नये निर्माता अपनाते हैं, जो कम मूल्य पर वस्तुओं को उपभोक्ताओं को उपलब्ध कराते हैं और उपभोक्ताओं को विष्वास में लेते हैं कि बड़े निर्माताओं की अपेक्षा वे कम मूल्य पर अमुक वस्तु को उपलब्ध करा रहे है। वर्तमान समय में प्रत्यक्ष विपणन में इसी प्रकार के वितरण माध्यम को अपनाया जा रहा है।

10.4.2 औद्योगिक वस्तुओं का वितरण माध्यम

औद्योगिक वस्तुओं के वितरण माध्यम से भिन्न होते हैं। औद्योगिक क्रेताओं को विक्रय होने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए माध्यस्थों की कम आवष्यकता होती है, क्योकि इस तरह के वितरण के लिए प्रायः दो उत्पादकों के बीच सीधा अनुबन्ध हो जाता है फिर भी इन वस्तुओं एवं सेवाओं की आपूर्ति के लिए मध्यस्थों एवं उत्पादकों की तरफ से नियुक्ति व्यक्ति या संस्थाओं द्वारा वितरण कार्य उत्पन्न किया जाता है। यह वितरण मार्ग निर्माताओं या क्रेताओं की इच्छा एवं आवष्यकता अनुसार भिन्न–भिन्न हो सकते हैं, फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण वितरण मार्गों का प्रदर्षन इस प्रकार किया जाता हैः–

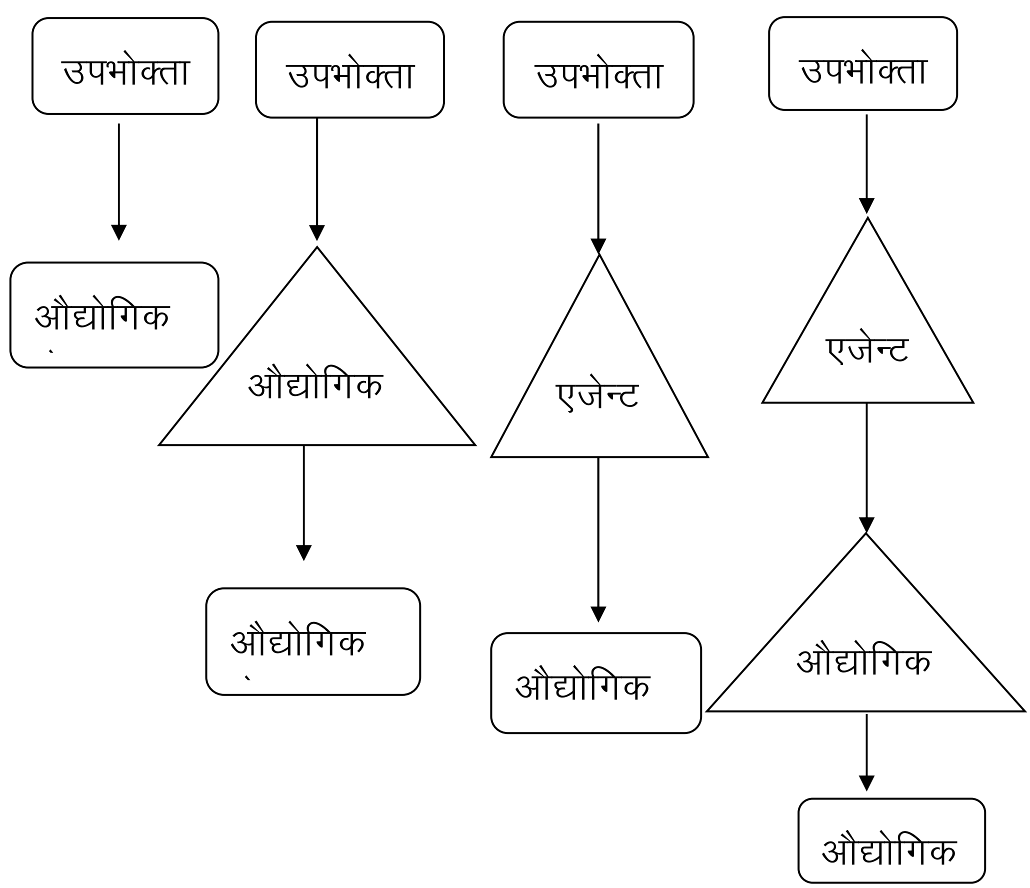

कम्प्यूटर मशीनें   ट्रक, कन्वेयर सिस्टम   खाद्यान्न जैसे मक्का   विदेशी बाजार से
काफी आदि   बिजली उपकरण

1. **निर्माता⟶ प्रतिनिधि⟶ औद्योगिक क्रेता**– इस वितरण माध्यम को चिन्ह द्वारा प्रदर्षित किया गया है, जो यह दर्शाता है कि औद्योगिक क्रेता तक वस्तुओं की आपूर्ति करते हैं। इस वितरण माध्यम में औद्योगिक निर्माता या संस्थाएँ जो कम माध्यम का कार्य केवल प्रतिनिधि ही करता है। वे निर्माता या संस्थएँ जो कम मध्यस्थों को चाहती हैं एवं वितरण व्यय कम करना चाहती है, इस वितरण व्यय कम करना चाहती है, इस वितरण मार्ग को अपनाते हैं।
2. **निर्माता⟶ प्रतिनिधि ⟶औद्योगिक क्रेता**– इस वितरण माध्यम को चिन्ह' 'द्वारा प्रदर्षित किया गया है। इस वितरण माध्यम में निर्माता से वस्तुओं को प्रतिनिधियों द्वारा क्रय कर लिया जाता है। ये प्रतिनिधि, थोक विक्रेताओं को वस्तुओं का विक्रय करते हैं और अन्त में औद्योगिक क्रेता इन थोक विक्रेताओं से आवष्यक माल या सामान क्रय करते है। इस तरह के वितरण मार्ग अपेक्षकृत खर्चीले होते हैं एवं निर्मित वस्तु को निर्माता से औद्योगिक क्रेताओं को थोक व्यापारी पर निर्भर रहना पड़ता है। इस माध्यम में औद्योगिक क्रेता को वस्तु की आपूर्ति करते है जिससे वस्तु की लागत अधिक हो जाती है। इस वितरण माध्यम को प्रायः मध्यम एवं छोटे औद्योगिक क्रेता अपनाते हैं।
3. **निर्माता⟶ थोक व्यापारी ⟶ औद्योगिक क्रेता**– इस विवरण में औद्योगिक क्रेता वस्तुओं को थोक व्यापारी से खरीदते हैं तथा थोक व्यापारी सीधे निर्माता से। थोक व्यापारी वस्तुओं भण्डारण अपने पास रखते हैं एवं औद्योगिक क्रेताओं की आवष्यकतानुसार आपूर्ति करते है। चित्र के माध्यम से इसे '++' चिन्ह द्वारा प्रदर्षित करता है। इस माध्यम में औद्योगिक क्रेताओं को थोक व्यापारी पर निर्भर रहना पड़ता है। थोक व्यापारी पर्याप्त लाभ लेकर ही औद्योगिक क्रेता को वस्तु की आपूर्ति करते है जिससे वस्तु की लागत अधिक हो जाती है। इस वितरण माध्यम को प्रायः मध्यम एवं छोटे औद्योगिक क्रेता अपनाते हैं।
4. **निर्माता⟶ औद्योगिक क्रेता**– इस वितरण माध्यम को सीधा मार्ग कहते हैं, क्योंकि इस पद्धति या सीधा मार्ग कहते हैं, क्योंकि इस पद्धति में निर्माता और औद्योगिक क्रेता के मध्य कोई मध्यस्थ नहीं होता है। चित्र में इस '■' चिन्ह से दिखाया गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह रेखा निर्माता से शुरु होकर सीधे औद्योगिक क्रेता के पास जाती है। औद्योगिक क्रेता द्वारा सीधे निर्माता से वस्तु खरीदने के कारण वस्तु की वितरण लागत नहीं बढ़ती है साथ वस्तु को प्राप्त करने में अनावष्यक विलम्ब से भी बचा जा सकता है। इस वितरण माध्यम को बड़े औद्योगिक क्रेताओं द्वारा अपनाया जाता है।

10.5 वितरण के तरीके को प्रभावित करने वाले घटक

वितरण माध्यम का चुनाव करते समय किसी निर्माता या संस्था को विभिन्न घटकों पर ध्यान देता होता है, जो कि वितरण माध्यम को प्रभावित करते हैं। अतः उचित वितरण माध्यम या मध्यस्थों का चुनाव करते समय निम्न घटकों पर ध्यान देना आवश्यक है–

10.5.1 बाजार

किसी उत्पादक को बाजार सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए यह आवष्यक होता है कि यह ज्ञात करे कि उपभोक्ता एक विषिष्ट प्रकार की वस्तु को क्यों

पसन्द करता है और क्यों नहीं? यह सब जानकारी वितरण के तरीके के चुनाव में सहायता करती है। वितरण को प्रभावित करने वाले बाजार सम्बन्धी निम्न घटक उत्तरदायी हैं–

1. **उपभोक्ता अथवा औद्योगिक बाजार**– वस्तुओं के निर्माताओं को सर्वप्रथम यह देखना आवष्यकता होता है कि निर्मित वस्तु साधारण उपभोक्ताओं के लिए है या औद्योगिक उपभोक्ताओं के लिए यदि वस्तु औद्योगिक उपभोक्ताओं के लिए है तो ऐसी दषा में फुटकर व्यापारियों की कोई आवष्यकता नहीं होगी। यदि वस्तु दोनों प्रकार के उपभोक्ताओं के लिए है तो ऐसी दषा में वितरण के एक से अधिक माध्यम का चुनाव करना उचित एवं उपयुक्त होगा।

2. **ग्राहकों की संख्या**– किसी भी वस्तु के उपभोक्ताओं या ग्राहकों की संख्या वितरण माध्यम के चयन को प्रभावित करती है। यदि ग्राहकों की संख्या बहुत अधिक है तो एक या अधिक मध्यस्थों की सेवाओं को लेना आवष्यकता है, परन्तु यदि ग्राहकों की संख्या बहुत ही कम है तो ऐसी दषा में, निर्माता कम्पनी या संस्था स्वयं वितरण के कार्य को पूरा कर सकती है, जिससे मध्यस्थों की कोई आवष्यकता नही होगी।

3. **ग्राहकों की क्रय सम्बन्धी बातें**– वितरण माध्यम का चुनाव करते समय उपभोक्ताओं की रुची एवं आदतों का ध्यान रखना आवष्यक होता है। वस्तुओं के चुनाव में ग्राहकों द्वारा व्यय किये जाने वाले समय, उधार क्रय की सीमा, दुकान पर क्रय के पक्ष में वरीयता आदि को ध्यान में रखकर ही वितरण माध्यम का चुनाव करना चाहिए।

4. **आदेशों का आकार**– किसी वस्तु पर मिलने वाले आदेष के आकार का छोटा या बड़ा होना वितरण माध्यम को प्रभावित करता है। किसी भी वस्तु के आदेष की संख्या यदि निरन्तर नहीं होती है, तो ऐसी दषा में वस्तु का निर्माता ही प्रत्यक्ष रुप के वस्तु के वितरण का कार्य करता है, जिससे मध्यस्थों की आवष्यकता मे दिये जाते हैं तो ऐसे आदेषों के लिए मध्यस्थ ही उपयुक्त होंगे।

5. **ग्राहकों का केन्द्रीयकरण**– ग्राहकों के केन्द्रीयकरण की स्थिति भी वितरण माध्यम को प्रभावित करती है। यदि किसी वस्तु के ग्राहकों किसी एक स्थान पर या निष्चित स्थान पर ही है तो ऐसी दषा में वितरण का कार्य स्वयं कम्पनी या निर्माता के द्वारा ही पूर्ण किया जाता है तथा मध्यस्थों की आवष्यकता नहीं होती। परन्तु यदि ग्राहक दूर–दूर फैले हुए हैं तो ऐसी दषा में मध्यस्थों का सहारा लेना पड़ता है।

10.5.2 उत्पाद या वस्तु

वस्तु की प्रकृति या विषेषताएँ वितरण माध्यम को प्रभावित तथा निष्चित करती हैं। ऐसे कारक जो वितरण माध्यम को प्रभावित करते हैं, उन्हे निम्नलिखित प्रकार से समझा सकता है–

1. **नाशवानता या टिकाऊपन**– ऐसी वस्तुएँ जिनमें टिकाऊपन का गुण बहुत की कम होता है, वे शीघ्र नष्ट होती है। अतः इस प्रकृति की वस्तुओं को शीघ्रातिषीघ्र विक्रय की आवश्यकता होती है। अतः शीघ्र विक्रय हेतु वितरण माध्यम कम से कम होना उपयुक्त होता है। ऐसी वस्तुएँ स्चयं निर्माता द्वारा विक्रय की जाती है या निर्माता द्वारा सीधे फुटकर व्यापारियों को विक्रय कर दी जाती है। इसके विपरीत यदि वस्तु शीघ्र नाषवान प्रकृति की नहीं है तो ऐसी

दषा में सामान्यतः वितरण मार्ग लम्ब होता है और मध्यस्थों की संख्या बहुत अधिक होती है।

2. **वस्तु का आकार व भार**– किसी वस्तु का भार एवं आकार भी वितरण माध्यम को प्रभावित करता है। बड़ी एवं भारी वस्तुओं के सम्बन्ध में, जिनके भाड़े की लागत वस्तु के कुल मूल्य का महत्वपूर्ण अंश होती है उनके सम्बन्ध में ऐसे मध्यस्थों का चुनाव करना चाहिए जिनके पास परिवहन का साधन, जैसे–कार, ट्रक, ट्रलर एवं जहाज आदि निजी हो तथा जिनसे वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक सुगमतापूर्वक उचित लागत पर पहुँचाया जा सके। भारी एवं बड़े आकार वाली वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुँचााने में प्रायः मध्यस्थों का ही सहारा लिया जाता है।

3. **प्रमापित बनाम विशिष्ट वस्तुएँ**– प्रमापित एवं विषिष्ट वस्तुओं के विक्रय के सम्बन्ध में प्रायः निर्माता ऐसे मध्यस्थों को वितरण के लिए चुनते हैं, जिनकी उस वस्तुओं की ऐसी प्रकृति होती हैं जिन्हें उपभोक्ताओं की पसन्द के अनुसार ही बेचना आवष्यक होता है, साथ ही साथ मध्यस्थ प्रायः उपभोक्ताओं के विषेष रुचि एवं पसन्द से निर्माताओं को अवगत कराते रहते है।

10.5.3 निर्माता

इसके अन्तर्गत वे घटक आते हैं जो निर्माता के आकार, प्रबन्धकीय क्षमता आर्थिक साधन ख्याति आदि से अवगत कराते हैं। ऐसे प्रमुख कारकों या घटकों से वितरण माध्यम प्रभावित होता है, इन कारको, घटकों को निर्माता सम्बन्धी बाते कहते हैं। निर्माता सम्बन्धी ऐसे कारक अथवा कारण, जिनसे वितरण माध्यम प्रभावित होता है, वे निम्न हैं–

1. **निर्माता का आकार**– निर्माता का आकार वितरण माध्यम को प्रभावित करता है, क्योकि जिन निर्माताओं का आकार बहुत बड़ा होता है, उनमें आर्थिक साधन, ख्याति एवं प्रबन्ध करने की योग्यता भी अच्छी होती है। अतः ऐसे निर्माता प्रायः वस्तु को कम से कम मध्यस्थों द्वारा उपभोक्ताओं तक पहुंचाना चाहते हैं। परिणामस्वरुप वस्तु की वितरण लागत अपेक्षाकृत कम होती है, जिससे उपभोक्ताओं को वस्तुएँ कम मूल्य पर उपलब्ध हो जाती हैं एवं निर्माता को भी इसी मूल्य पर अच्छा लाभ प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत यदि छोटे–छोटे निर्माता हैं, तो ऐसी स्थिति में वितरण माध्यम कुछ भी हो सकता है।

2. **वितरण माध्यम को नियन्त्रित करने की इच्छा**– किसी भी निर्माता द्वारा वितरण माध्यम को नियन्त्रित करने की इच्छा द्वारा भी वितरण माध्यम प्रभावित उपाय करता है, जिससे कि उसका सीधा सम्बन्ध उपभोक्ता से स्थापित हो जाय ताकि वितरण व्यय अधिक न हो सके।

3. **ख्याति एवं आर्थिक साधन**– किसी संस्था की ख्याति एवं आर्थिक साधन भी वितरण माध्यम को प्रभावित करते हैं। यदि किसी संस्था की ख्याति एवं आर्थिक साधन अच्छे हैं, तो ऐसी संस्था आवष्यकतानुसार स्वयं ही दुकाने, भण्डारगृह आदि खोलकर या परिवहन की पर्याप्त सुविधा देकर मध्यस्थों पर निर्भर नहीं रह सकती है।

4. **प्रबन्धकीय क्षमता**–किसी वस्तु का वितरण माध्यम प्रबन्धकीय योग्यता एवं अनुभव की सीमा द्वारा भी प्रभावित होता है क्योंकि यदि निर्माता आवष्यक

प्रबन्धकीय अनुभव एवं योग्यता में कमी है तो उसे मध्यस्थों एवं व्यापारियों पर निर्भर रहना पड़ेगा। परिणामस्वरुप मध्यस्थों की संख्या में अनावष्यक वृद्धि होगी, जो निर्माता एवं उपभोक्ता दोनों के लिए हानिप्रद होगी। निर्माता प्रायः प्रारम्भिक अवस्था में मध्यस्थों पर अधिक निर्भर रहते हैं।

10.5.4 मध्यस्थ

वितरण माध्यम मध्यस्थ सम्बन्धी घटकों द्वारा भी प्रभावित होता है। मध्यस्थ सम्बन्धी वे बातें जो वितरण माध्यम को प्रभावित करती हैं, उनका विवरण निम्न हैः–

1. **उपलब्धता**– किसी वस्तु को निर्मित स्थान से उपभोक्ताओं तक पहुंचाने के लिए निर्माता को किस तरह के मध्यस्थ हैं, यह बात वितरण माध्यम को प्रभावित करती है। यदि कोई निर्माता ऐसे मध्यस्थ चाहता है जो आर्थिक रुप से सम्पन्न हो एवं पर्याप्त अनुभव रखते हैं, तो निर्माता ऐसी स्थिति में अन्य मध्यस्थ को नहीं चुनेगा।

2. **सेवाएँ**– मध्यस्थों द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं की सीमा भी वितरण माध्यम को प्रभावित करती है। यदि कोई मध्यस्थ किसी वस्तु को उपरोक्ता तक पहँचाने के समस्त कार्य एवं सेवाओं को पूरा करता है तो अन्य मध्यस्थ की आवष्यकता नहीं होगी।

3. **वितरण लागत**– किसी भी वितरण में यदि मध्यस्थों की संख्या आवष्यकता से अधिक है, तो वितरण लागत भी अधिक हो जाती है। अतः मध्यस्थों की संख्या ऐसी होनी चाहिए जिससे वितरण लागत में अनावष्यक वृद्धि न हो तथा उपभोक्ताओं तक वस्तु की उपलब्धता उचित दर एवं उचित समय पर सुनिष्चित की जा सके। अतः वितरण लागत की दृष्टि से मध्यस्थों की संख्या भी वितरण माध्यम को प्रभावित करती है।

4. **बिक्री**– मध्यस्थों की संख्या का किसी वस्तु की वर्तमान बिक्री की सम्भावनओं का प्रभाव वितरण माध्यम पर पड़ता है। यदि किसी वस्तु की वर्तमान बिक्री निर्माता के लिए सन्तोषजनक है, तो वह मध्यस्थों की संख्या में परिवर्तन नहीं करेगा। इसी प्रकार जिस वितरण साधन बिक्री बढ़ने की सम्भावनाएँ सबसे अधिक है, तो निर्माता वैसे ही साधनों को चुनाता है।

5. **विक्रय की शर्तें**– निर्माता कभी–कभी विक्रय की शर्तें उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा के लिए रख देता है। ऐसी दषा में उसकी शर्त यह हो सकती है कि वस्तु एक निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर वस्तु को बेचने की अनुमति दी जाय। अतः निर्माता द्वारा निर्धारित मूल्य पर ही बेचने की शर्त के कारण मध्यस्थों को कम लाभ होगा, जिससे मध्यस्थों की संख्या में कमी हो जाएगी।

10.5.5 सरकारी नीति

वितरण मार्ग को सुनिष्चित करते समय सरकारी नीति एवं नियमों को भी ध्यान में रखना आवष्यक होता है, ताकि सरकारी नियमों एवं कानूनों का उल्लंघन न हो। सरकारी नियमों व कानूनों के अन्तर्गत सरकार द्वारा उत्पादन से वितरण तक कुछ दिषा निर्देष उपभोकताओं के हित को ध्यान में रखकर जारी किये जाते हैं, जिसका अनुपालन अनिवार्य होता है।

किसी भी वस्तु को उत्पादक से उपभोक्ताओं तक पहुँचाने में वितरण मार्ग या माध्यम का अति महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, अतः वितरण मार्ग को सुनिष्चित करते समय यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि किसी वस्तु को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने का सरलतम मार्ग कौन सा है

जिसके माध्यम से वस्तु को उपभोक्ताओं तक आसानी से पहुँचाया जा सके।

10.6 मध्यस्थों के प्रकार

वे थोक व्यवसायी जो वस्तुओं के क्रय एवं विक्रय में अपना सहयोग प्रदान करते हैं थोक व्यवसायी–मध्यस्थ कहलाते हैं। यह थोक व्यवसायी मध्यस्थ निम्न दो प्रकार के होते हैं:

1. **व्यापारी मध्यस्थ**– ''एक व्यापारी मध्यस्थ माल का स्वामित्व ग्रहण करता है और फिर उस माल को बेच देता है। इसको अपना माल बेचने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। साधारणतया ऐसे मध्यस्थ सौदागरी, कपड़े, हौजरी आदि में पाये जाते हैं। ऐसे मध्यस्थों का लाभ वार्जित कम होता है। यह सौदागर मध्यस्थ थोक व्यवसायी के कुछ या सब कार्यों को पूरा करते हैं। अतः इनको साधारण भाषा में थोक विक्रेता कहा जाता है।''

2. **प्रतिनिधि मध्यस्थ**– ''एक प्रतिनिधि–मध्यस्थ क्रय अथवा विक्रय अथवा दोनों कार्य करता है लेकिन उस माल का स्वामित्व ग्रहण नहीं करता है जिसमें कि वह व्यवहार कर रहा है। यह प्रतिनिधि कुछ कमीषन या दलाली के लिए विता को माल देता है लेकिन अपने लिए वस्तुओं को नहीं खरीदता और न उन वस्तुओं को स्वयं खरीदकर अपने पास रखता है।

10.7 थोक विक्रेताओं के प्रकार

10.7.1 उपभोक्ता–वस्तुओं के थोक विक्रेता

अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से थोक विक्रेताओं के निम्नलिखित स्वरूपों का अध्ययन किया जा सकता है। जिनका विस्तृत विवरण आगे के उपखण्ड में दिया गया है।

(अ) **सामान्य थोक विक्रेता**– यह विक्रेता अपनी शाखा में आने वाली सभी प्रकार की वस्तुओं का भण्डार रखता है जिससे लाभ यह होता है कि फुटकर व्यापारियों को उनकी आवष्यकताओं की सभी वस्तुएँ एक ही विक्रेता के यहाँ मिल जाती हैं; जैसे, कपड़े के थोक व्यपारी कमीज, बुषर्टें, आदि के कपड़े, मर्दानी व जनानी धोतियां, मलमल, जीन, बाइल, चादरें, आदि भिन्न प्रकार के कपड़ों का अच्छा स्टॉक रखते हैं। इस प्रकार के थोक व्यापारी साधारण व्यापार थोक विक्रेता कहा जाता है।

(ब) **विशेष थोक विक्रेता**– केन्द्रीय थोक बाजारों में कुछ ऐसे थोक व्यापारी होते हैं जो अपनी शाखा को किसी एक वस्तु की ही बिक्री के लिए रखते हैं जैसे, कपड़े के व्यवसाय में ही ऐसे थोक विक्रेता हैं जो केवल कटपीस का ही काम करते हैं। ऐसे थोक व्यापारी साधारण व्यापार थोक विक्रेता कहलाते हैं।

(स) **सौदागरी के सामान के थोक विक्रेता**– यह वे थोक विक्रेता हैं जो विभिन्न प्रकार की वस्तु–पंक्तियों में व्यवहार करते है। यह विक्रेता साधारणतया सौदागरी के सामान में पाये जाते हैं। सौदागरी के थोक विक्रेता के यहाँ विभिन्न प्रकार की

वस्तुएँ जैसे कंघा, शीशा, तेल, साबुन, स्टेषनरी, रोज काम आने वाली दवाइयाँ, हौजरी की वस्तुएँ, पैन, पेन्सिल आदि मिल जाती हैं। आज के इस विषिष्टीकरण युग में यह अभी भी पाये जाते हैं और इनकी उपयोगिता होने के कारण इनके बने रहने की सम्भावनाएँ अधिक हैं।

(द) **पूर्ण सेवा प्रदान करने वाले थोक विता**— यह वे थोक विक्रेता हैं जो निर्माण व फुटकर विक्रेताओं को विपणन सम्बन्धी सम्पूर्ण वस्तुएँ प्रदान करते हैं। यह विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को एकत्रित करते हैं तथा उनके परिवहन तथा विक्रय का भी प्रबन्ध करते हैं।

(य) **सीमित सेवा प्रदान करने वाले थोक विक्रेता**— वे मध्यस्थ थोक विक्रेता जो थोक व्यवसाय सम्बन्धी सभी कार्य न करके कुछ ही कार्य करते हैं सीमित सेवा प्रदान करने वाले विक्रेता कहलाते हैं। यह थोक विक्रेता निम्न प्रकार के होत हैं:

(i) नकद दो और ले जाओ थोक विक्रेता— यह विक्रेता सीमित सेवा प्रदान करने वाले थोक विक्रेता की श्रेणी में आते हैं इनके द्वारा वस्तुएँ उधार नहीं बेची जाती हैं और न ये वस्तुओं को भेजने का प्रबन्ध करते है। यह तो वस्तुएँ उन्हीं को बेचते हैं जो भुगतान नकद करते हैं और वस्तुओं को खरीदकर स्वयं ले जाने का उत्तरदायित्व लेत हैं। भारत में इस प्रकार के थोक विक्रेता कपड़े, किरान, दवाइयाँ आदि में पाये जाते हैं।

(र) **राष्ट्रीय थोक विक्रेता**— यह वे विक्रेता हैं जो एक बड़े स्तर पर पूरे राष्ट्र में उपभोक्ता वस्तुओं के वितरण का कार्य करते है। साधारणतया यह विक्रेता केन्द्रीय थोक बाजारों में कार्य करते है। इनके यहाँ अन्य बाजारों के थोक व फुटकर विक्रेता माल क्रय करने के लिए आते हैं। भारत में कपड़े के व्यवसाय में राष्ट्रीय विक्रेता बम्बई, चेन्नई, दिल्ली, सूरत आदि नगरों में पाये जाते हैं। यह राष्ट्रीय विक्रेता अपने ग्राहक को वे सब सुविधाएँ देते हैं जो एक पूर्ण सेवा प्रदान करने वाले विक्रेता द्वारा प्रदान की जाती हैं।

(ल) **क्षेत्रीय थोक विक्रेता**— यह थोक विक्रेता केवल एक निष्चित क्षेत्र में ही कार्य करता है। यह क्षेत्र एक राज्य या कुछ जिले हो सकते हैं। यह थोक विक्रेता उन्हीं वस्तुओं पर व्यवहार करते हैं जिनकी माँग उस क्षेत्र में अधिक होती है। इन थोक विक्रेताओं का आकार राष्ट्रीय थोक विक्रेताओं से छोटा होता है लेकिन यह वे सभी सेवाएँ प्रदान करते हैं जो राष्ट्रीय थोक विक्रेताओं द्वारा प्रदान की जाती हैं।

(व) **स्थानीय थाक विक्रेता**— वास्तव में क्षेत्रीय थोक विक्रेता व स्थानीय थोक विक्रेता में कोई अन्तर नहीं है। विक्रेता अपने शहर और आस–पास के क्षेत्र में कार्य करते हैं उन्हे स्थानीय विक्रेता कहते हैं।

भारत में कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में अधिकृत थोक विक्रेता भी पाये जाते हैं जिनकी नियुक्ति उन निर्माताओं के द्वारा की जाती है जिनका कि माल बेच रहे हैं। यह अधिकृत थोक विक्रेता राष्ट्रीय, क्षेत्रीय व स्थानीय तीनों ही स्तरों पर पाये जाते हैं। ऐसे थोक विक्रेता साधारणतया उसी निर्माता के माल को बेचते हैं जिनके साथ उन्होने माल बेचने का समझौता किया है लेकिन कुछ दषाओं में यह अन्य प्रकार का माल भी बेचने के लिए अपनी दुकान पर रख लेते हैं।

10.7.2 औद्योगिक वस्तुओं के थोक विक्रेता

(अ) **डीलर**— भारत में इस प्रकार के डीलर या थोक विक्रेता दो प्रकार के होते हैं। एकतो स्वतंत्रा डीलर तथा दूसरे को अधिकृत डीलर कहते हैं। स्वतंत्रा डीलर वह थोक विक्रेता है जो कई निर्माताओं के माल को बेचता है लेकिन अधिकृत डीलर

वह है जो केवल किसी विषेष निर्माता का ही माल बेचता है और जिसने उस निर्माता से माल बेचने का समझौता कर लिया है।

(ब) **इकहरा थोक विक्रेता**– यह थाक विक्रेता केवल एक विषेष शाखा के माल का ही विक्रय करता है। उदाहरण के लिए, बिजली के सामान के थोक विक्रेता। यह विक्रेता बिजली के बल्ब, ट्यूब, तार, होल्डर, लकड़ी के ब्लॉक, बटन, प्लग आदि बिजली से सम्बन्धित सभी प्रकार की वस्तुएँ बेचते हैं।

(स) **विशिष्ट प्रकार के क्रेताओं के थोक विक्रेता**– यह थोक विक्रेता केवल एक क्षेत्र के क्रेताओं को चुन लेते हैं और उनकी सभी प्रकार की आवष्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने पास माल रखते हैं। उदाहरण के लिए, छपाई उपकरण का थोक विक्रेता। यह थोक विक्रेता छपाई उपकरण की भिन्न–भिन्न आवष्यकताओं की पूर्ति के अनेक प्रकार के माल की बिक्री का प्रबन्ध करता है। यह दूसरे प्रकार की आवष्यकताओं की वस्तुएँ नहीं रखता है।

अमरीका में औद्योगिक माल के थोक विक्रताओं को औद्योगिक वितरणकर्ता डीलर कहते हैं। इसके द्वारा माल सीधा निर्माताओं से खरीदा जाता है। इसका कार्यक्षेत्र उपभोक्ता क्षेत्र के पूर्ण–सेवा–थोक–विक्रेताओं को बेचते हैं लेकिन औद्योगिक वितरणकर्ता प्रयोग करने वाले कारखानों को बेचते हैं। इस देष में उन थोक विक्रेताओं को मिल, स्टोर्स, मषीनरी डीलर्स तथा इन्जीनियरिंग कम्पनी, आदि के नामों से जाना जाता है।

10.8 प्रतिनिधि–मध्यस्थ

वस्तुओं के क्रय एवं विक्रय में थोक व फुटकर विक्रेता के अतिरिक्त कुछ मध्यस्थ प्रतिनिधि भी अपने सेवाएँ अर्पित करते हैं। यह वे प्रतिनिधि हैं, जो स्वयं किसी भी माल का स्वामित्व ग्रहण नहीं करते, बल्कि कुल कमीषन पर क्रेता व विक्रेता को मिला देते हैं। यह प्रतिनिधि–मध्यस्थ फुटकर व थोक दोनों ही प्रकार के व्यवसायों में पाये जाते हैं। यह निम्न प्रकार के होते हैं–

(1) **निर्माताओं के प्रतिनिधि**– निर्माता प्रतिनिधि वे प्रतिनिधि हैं जिनकी नियुक्ति निर्माता द्वारा अपने माल की बिक्री के लिए की जाती है। ऐसे प्रतिनिधियों की वस्तुओं के मूल्य व विक्रय शर्तों के सम्बन्ध में कुछ सीमित अधिकार दे दिये जाते हैं। ये प्रतिनिधि किसी खास क्षेत्र में एकमात्र प्रतिनिधि के रुप में कार्य करते हैं। ये प्रतिनिधि अपने व्यापार से सम्बन्धित वस्तु पंक्ति में कार्य करते हैं लेकिन साधारणतया प्रतियोगी वस्तु पंक्ति में कार्य नहीं करते हैं। इनके द्वारा अपने प्रधान का माल उसके द्वारा निष्चित मूल्य पर या उसके द्वारा निर्धारित मूल्य–सीमा में बेचा जाता है। साथ ही यह निर्माता के गोदाम के क्रेता के स्थान तक माल को भेजने का भी प्रबन्ध करते हैं। माल की बिक्री पर उनको कमीषन मिलता है जो कि बिक्री का एक निष्चित प्रतिषत होता है। माल के विक्रय के लिए प्रतिनिधि अपने यहाँ विक्रय स्टॉक भी रखते हैं जिसका सारा व्यय यह प्रतिनिधि ही सहन करते हैं।

(2) **विक्रय निर्माता**– ये प्रतिनिधि जो एक निर्माता के समपूर्ण उत्पादन की एक निष्चित समय तक बेचने का उत्तरदायितव अपने ऊपर लेते हैं उन्हें विक्रय प्रतिनिधि कहते हैं। निर्माता व विक्रय प्रतिनिधि के बीच एक प्रसंविदा होता है। जिसके अनुसार प्रतिनिधि एक निष्चित समय तक उसका प्रतिनिधित्व करता है इस प्रसंविदे के अनुसार को काफी विस्तृत अधिकारी प्राप्त होते हैं। वह निर्माता की ओर से मूल्य व बिक्री की शर्तें तय करने का अधिकारी रखता है। ये प्रतिनिधि निर्माता

की आर्थिक सहायता भी करते हैं। भारत में इनको एकमात्र विक्रय प्रतिनिधि कहते हैं।

(3) दलाल— दलाल एक प्रतिनिधि है जिसके पास उस माल का भौतिक नियंत्रण नहीं होता है जिसमें वह व्यवहार करता है, लेकिन वह क्रेता या विक्रेता का प्रतिनिधित्व करता है और अपने प्रधान के लिए व्यवसाय करता है। यह वस्तुओं को बिना भौतिक रुप से लिये या दिये, क्रय करने या बेचने में सहायता करता है। साधारणतया इसका कार्य क्रेता व विक्रेता में विक्रय—वार्ता प्रारम्भ कराना है। इसको मूल्यों को निर्धारित करने का अधिकारी नहीं होता है।

इसी प्रकार भारत में औद्योगिक माल की बिक्री के क्षेत्र मे भी दलाल पाये जाते हैं जैसे, सूती वस्त्र व चीनी मिलों की मषीनों की बिक्री में। अनाज व्यापार में भी दलाल पाये जाते हैं जो मण्डी में आढ़तिया व फुटकर विक्रेता या उपभोक्ता को मिलाने का कार्य करते हैं। मण्डियों में भी दलाल पाये जाते हैं।

(4) नीलामकर्ता— यह प्रतिनिधि अपने प्रधान के माल को बेचने के लिए नीलाम की पद्धति उपनाता है। जिस व्यक्ति द्वारा वस्तु का सबसे अधिक मूल्य बोला जाता है उसी के नाम की बोली समाप्त कर दी जाती है और वस्तु बेच दी जाती है। पुरानी वस्तुओं को बेचने के लिए यह पद्धति अपनायी जाती है। भारत में कृषि पदार्थों जैसे, चाय, तम्बाकू, फल आदि में भी यह पद्धति अपनायी जाती है। वस्तुओं के विक्रय के बाद तुरन्त मूल्य ले लिया जाता है और नीलामकर्ता विक्रय—मूल में से अपना कमीषन काटकर बाकी रकम उस व्यक्ति को भेज देता है जिसकी वस्तु का विक्रय किया गया है।

(5) कमीशन—गृह— कमीशन गृह भी एक प्रकार से प्रतिनिध है लेकिन इसमें एक विषेषता यह है कि ये वस्तुओं पर अपना अधिकार रखते है (यद्यपि इनका स्वामित्व उन वस्तुओं पर नहीं होता है) और दलाल की तुलना में इनको अपने प्रधान के आदेषों का पालन करना पड़ता है। यह वस्तुओं को बेच सकते हैं, उनका विक्रय—मूल्य एकत्रित कर सकते है और उसकी सुपुर्दगी दे सकते हैं। यदि आवष्यक हो तो उधार भी बेच सकते हैं लेकिन उधार देने का उत्तरदायित्व प्रधान पर नहीं होता है। माल के विक्रय के बाद जो रकम आती है उसमें से अपना कमषीन व कुछ व्यय काटकर शेष प्रधान को दे देते हैं।

(6) स्थानीय क्रेता— यह भी एक प्रकार का प्रतिनिधि है लेकिन इसकी विषेषता यह है कि यह क्रेताओं का प्रतिनधि होता है ओर यह अपना पारिश्रमिक वस्तु के क्रय—मूल्य पर कमीषन के रुप में प्राप्त करता है। यह स्थानीय क्रेता प्रतिनिधि को लिख देते हैं। इन प्रतिनिधियों का काम बाजार से माल क्रय करके सबको भेज देना है।

(7) निर्यात एवं आयात प्रतिनिधि— आयात एवं निर्यात में भी कुछ संस्थाएँ होती हैं जो प्रतिनिधि के रुप में कार्य करती हैं। वह संस्थाएँ समुद्री बन्दरगाहों के पास वाले शहरों में होती हैं। इनका काम अपने प्रधान द्वारा जो माल मँगाया गया है उसके आयात या निर्यात का प्रबन्ध करना है। यह आयात व निर्यात दोनों में ही प्रतिनिधि के रुप में कार्य करते हैं जब माल देष में आयात होता है तो इनको आयात प्रतिनिधि कहते हैं जब निर्यात में प्रतिनिधित्व करते हैं तो इनको निर्यात प्रतिनिधि कहते हैं।

10.9 सारांश

वस्तुओं के उस क्रय–विक्रय अथवा विनिमय को, जो देष की सीमाओं के अन्दर किया जाता है, ''देशीय व्यापार'' कहते है। स्थान एवं समय का अंतर हो जाने से उत्पादक एवं उपभोक्ता एक दूसरे से दूर हो जाते हैं। वितरण–प्रणाली उत्पादकों तथा फैले हुए उपभोक्ताओं के बीच की खाई को पाटती है और स्थान, समय व रुप की उपयोगिताओं का निर्माण करती है। ''वितरण का माध्यम'' उन बिचौलिया–संस्थाओं का एक जाल है जो उत्पादकों का माल उपभोक्ताओं को सौपने हेतु विभिन्न प्रकार के परस्पर संबंधित एवं तालमेल बिठाने संबंधी कार्यों का निष्पादन करता है। साधारणतया वितरण के माध्यम तीन प्रकार के कार्य करते हैं–1. सौदा 2. माल के भौतिक विनिमय के लिए आवष्यक रणनीति सम्बन्धी कार्य, तथा 3. माल के भौतिक विनिमय हेतु आवष्यक व्यापार में सहायक कार्य।

वितरण के माध्यमों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– 1. विनिर्माताओं द्वारा प्रत्यक्ष विक्रय तथा 2. एजेटों, थोक व्यापारियों, फुटकर व्यापारियों आदि मध्यस्थों द्वारा विक्रय। दैनिक उपयोग की उपभोक्ता वस्तुओं के वितरण के माध्यम के अंतर्गत एजेंट अथवा दलाल, थोक व्यापारी सम्मिलित होते हैं। टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ सामान्यतया निर्माताओं के शोरुम से अथवा फुटकर व्यापारी विक्रेताओं द्वारा वितरित की जाती हैं। पूँजीगत वस्तुओं का वितरण प्रायः प्रत्यक्ष–विक्रय द्वारा किया जाता है। परन्तु कभी–कभी इन वस्तुओं की सप्लाई हेतु वितरकों, विक्रेताओं अथवा एजेंटों की नियुक्ति की जाती है।

माल का स्वामित्व ग्रहण किये बिना विपणन कार्य की जिम्मेदारी लेने वाले मध्यस्थ एजेंटों को ''कार्यकार मध्यस्थ'' कहा जाता है। कार्यकारी मध्यस्थों की श्रेणी के अंतर्गत आढ़तिये, दलाल, कमीषन, एजेंट, निलामकर्ता आदि सम्मिलित होते है। इनके विपरीत, ''मर्चेंट मध्यस्थ'' लाभ कमाने की दृष्टि से वस्तुओं का क्रय–विक्रय अपने नाम से करते है और कारोबार की समस्त जोखिम भी स्वयं ही उठाते हैं। इनको दो प्रमुख वर्गों में बांटा जा सकता है। 1. थोक व्यापारी 2. फुटकर व्यापारी।

ये व्यक्ति जो न तो वस्तुओं का उत्पादन करते हैं और न ही उपभोग, बल्कि उत्पात्कों और उपभोक्ताओं को आपस में मिलाते हैं और उनके बीच सौदा करते हैं, मध्यस्थ कहलाते हैं। विपणन कार्य के कुषल निष्पादन द्वारा मध्यस्थ माल के वितरण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। वे अपने कार्य के विषेषज्ञ होते हैं। अपने विषिष्ट ज्ञान, निपुणता, अनुभव तथा समपर्कों के कारण वे उत्पादकों की तुलना में कम लागत पर अधिक कुषल सेवाएँ प्रदान करते हैं।

10.10 उपयोगी शब्दावली

- **एकत्रीकरण**– पूर्ति के विभिन्न श्रोतों से माल जुटाना तथा उनका संग्रह करना।
- **नीलामकर्ता**– एक ऐसा मध्यस्थ एजेंट, जो अपने प्रधान के माल को बेचने हेतु नीलाम की प्रणाली अपनाता है।
- **ब्रांड नामकरण**– अपनी निर्मित वस्तु को प्रतियोगियों की वस्तु से अलग करने के लिए इसे विषिष्ट नाम या चिन्ह देना।
- **दलाल**– क्रेता और विक्रेता को एक दूसरे से मिलाने वाला मध्यस्थ–एजेंट जो इन दोनों में से किसी एक की ओर से विक्रय अथवा क्रय का सौदा करता है।
- **वितरण के माध्यम**– वितरण के मार्ग जिनसे प्रवाहित होकर वस्तुएँ उतपादाकों से उपभोक्ताओं तक पहुँचती हैं। इनके अंतर्गत मुख्य रुप से बिचौलियों की संस्थाएँ शामिल होती है।

- **कमीशन एजेंट**— निर्माता अथवा उत्पादक की ओर से कमीषन पर माल बेचने वाला एक मध्यस्थ जो माल का कब्जा ले सकता है, उसे बेच सकता है तथा उसकी सुपुर्दगी दे सकता है।
- **आश्वासी एजेंट**— माल उधार की वसूली करने और डूबे उधार की जोखिम उठाने वाला एक मध्यस्थ एजेंट।
- **आढ़तिया**— एक व्यापारिक एजेंट जो दूसरों का माल अपने पास बेचने हेतु रखता है। वह प्राधान के माल को अपने नाम से बेच सकता है, उसे गिरवी रख रखता है और वे सभी कार्य कर सकता है जो प्रधान कर सकता है।
- **श्रेणीकरण**— किस्म, आकार, गुण आदि की समानता के आधार पर वस्तुओं को अलग–अलग थोंको में छाँटना।
- **व्यापारिक मध्यस्थ**— व्यापारिक एजेंट से भिन्न एक मध्यस्थ जो अपने नाम से क्रय–विक्रय करता है और कारोबार की जोखिम भी उठाता है।
- **व्यापारिक एजेंट**— माल का स्वामित्व ग्रहण किये बिना विषिष्ट विपणन कार्यों की जिम्मेदारी लेने वाला एक क्रियात्मक एजेंट।
- **मध्यस्थ**— उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के बीच एक विचौलिया जो विपणन कार्यों के निष्पादन द्वारा माल के वितरण को सहज एवं सुगम बनाता है।
- **सवेष्टन**— उठाने–रखने, खरीदने–बेचने तथा क्षय व क्षति बचाने हेतु माल को भिन्न–भिन्न आकार वाले डिब्बों, बोतलों, टिनों, पीपों आदि में डालना अथवा पैक करना।

10.11 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. वितरण माध्यम की परिभाषा दीजिए।

प्रश्न 2. वितरण माध्यम के चयन को प्रभावित करने वाले घटकों को बजाइए।

प्रश्न 3. वितरण माध्यम के विभिन्न प्रकारों को बताइए।

प्रश्न 4. मध्यस्थों के विभिन्न प्रकारों को बताइए।

प्रश्न 5. औद्योगिक वस्तुओं के वितरण में आप कौन सी वितरण वाहिकाएं प्रयोग करेंगे।

कुछ उपयोगी पुस्तकें—

- डॉ0 पदमाकर अस्थाना (साहित्य भवन) आगर/1994 व्यावसायिक संगठन पूर्णतः संशोधित, परिवर्तित एवं परिमार्जित संस्करण।
- डॉ0 जगदीश प्रकाश (एम0काम, डी0 फिल0) प्रोफेसर, वाणिज्य एवं व्यवसाय प्रशासन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद आधुनिक व्यवसायिक संगठन, 1991
- जी0एल जोशी, जी0 एल शर्मा, एल0एस0सी0 जोशी : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध (दिल्ली : श्री महावीर बुक डिपो, 1988 अध्याय 1, 3)
- डाॅ0 एस0सी0 सक्सेना – व्यापारिक संगठन (बंसल पब्लिशिंग हाउस) ब0पा0ह
- वी0पी0सिंह – व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध का परिचय, इलाहाबाद किताब महल, 1988

इकाई–11 फुटकर विपणन

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 फुटकर व्यापारियों की विशेषताएं

11.3 फुटकर व्यापारियों की कार्य

11.4 फुटकर व्यापारियों की सेवाएं

11.4.1 थोक व्यापारी एवं निर्माताओं के प्रति सेवाएँ

11.4.2 उपभोक्ताओं के प्रति सेवाएँ

11.5 थोक व्यापारी एवं फुटकर व्यापार में अन्तर

11.6 बृहत् स्तरीय फुटकर व्यापार

11.7 बहु–परिमाण फुटकर व्यापार का लाभ

11.8 बहु–परिमाण फुटकर व्यापार का वर्गीकरण

11.8.1 विभागीय स्तर

11.8.2 श्रृंखलाबद्ध दुकानें

11.8.3 सुपर बाजार

11.8.4 विक्रय मशीन

11.9 सारांश

11.10 उपयोगी शब्दावली

11.11 महत्वपूर्ण प्रश्न

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगें किः

- फुटकर व्यापार का अर्थ बता सकेगें,
- फुटकर व्यापारियों के कार्यों की व्याख्या कर सकेंगें,
- थोक व्यापारी एवं फुटकर व्यापार में अन्तर बता सकेंगे,
- बृहत् स्तरीय फुटकर व्यापार को जान सकेंगें,

- बहु–परिमाण फुटकर व्यापार के लाभों को सूचीबद्ध कर सकेंगें और
- बहु–परिमाण फुटकर व्यापार का वर्गीकरण प्रस्तुत कर सकेंगें।

11.1 प्रस्तावना

आज की आर्थिक व्यवस्था में सभी उत्पादक अपने उत्पादन को अन्तिम उपभोक्ता या औद्योगिक उपभोक्ता तक सीधे नहीं पहुँचा सकते, अर्थात् वस्तु का प्रवाह उत्पादक से उपभोक्ता तक निर्बाध रुप से नहीं होता है। उत्पादक और उपभोक्ता एक दूसरे से मध्यस्थों के माध्यम से जुड़े रहते हैं जिनकी सहायता से वस्तुओं एवं सेवाओं का प्रवाह उत्पादक से उपभोक्ता तक एक निर्बाध रुप से लाभदायक तरीके से होता रहता है। खुदरा विक्रेता वह है, जिनका व्यवसाय विभिन्न प्रकार की वस्तुओं एवं सेवाओं का अपने पास संग्रह कर, अन्तिम उपभोक्ता को उपलब्ध कराता है। वस्तुतः खुदरा विक्रेता, वस्तुओं एवं सेवाओं को अन्तिम उपभोक्ता और उत्पादकों के बीच स्थित वितरण माध्यम की अन्तिम कड़ी है। खुदरा की कुछ प्रमुख परिभाषा निम्नलिखित हैः–

''खुदरा विपणन में उन सभी क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जो कि वैयक्तिक व गैर–व्यावसायिक प्रयोग के लिए वस्तुओं को अन्तिम उपभोक्ता को विक्रम से सीधे सम्बन्धित किया जाता है।'' – **विलियम जे. स्टाण्टन**

''खुदरा विपणन में वे क्रियाएं सम्मिलित की जाती हैं, जो कि उपभोक्ता से सीधे सम्बन्द्ध होती हैं।''– **कण्डिफ एवं स्टिल**

फुटकर व्यापारी से आषय उस व्यक्ति से है जो थोक विक्रेताओं या निर्माताओं से माल खरीद कर उपभोक्ता को उनकी आवष्यकतानुसार बेचता है। फुटकर व्यापार को प्रमुख विद्वानों ने निम्न रुपों में परिभाषित किया हैः–

'' उपभोक्ता की जाने वाली वस्तुओं की बिक्री गृहस्थ या उपभोक्ता को अंतिम रुप से करना ही फुटकर वितरण कहलाता है।''– **प्रो. मैकार्थी**

11.2 फुटकर व्यापारियों की विशेषताएँ

वस्तु वितरण वाहिका की अंतिम कड़ी के रुप में फुटकर व्यापारियों की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैंः–

- फुटकर व्यापारी थोक व्यापारी से या निर्माता से थोड़ी–थोड़ी माल क्रय करते हैं।
- ये अंतिम उपभोक्ताओं को उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ बेचते हैं। जो अंतिम रुप से वस्तु का उपभोग करते हैं।
- इनका उपभोक्ता सीधे सम्पर्क होता है।
- इनके द्वारा विभिन्न निर्माताओं के उत्पाद थोड़ी–थोड़ी मात्रा में एक जगह उपलब्ध कराये जाते हैं।
- समाज से जुड़े होने के कारण व्यापारी वर्तमान परिवेष में हाने वाले परिवर्तन को थोक विक्रेता या निर्माता को प्रायः जानकारी उपलब्ध कराते हैं एवं समय–समय पर बहुमूल्य सुझाव भी देता रहते हैं
- ये प्रायः दैनिक उपयोग की वस्तुओं का व्यवसाय हैं।

11.3 फुटकर व्यापारी के कार्य

फुटकर व्यापारी निर्माता या थोक व्यापारी द्वारा उत्पादित या बेचे गए माल को सीधे उपभोक्ताओं तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। वर्तमान परिदृष्य में फुटकर व्यापारी के निम्नलिखित कार्य हैं:–

1. **उपयुक्त माँग का अनुमान**– उपभोक्ताओं से सीधे जुड़े होने के कारण स्थान विषेष की जनसंख्या एवं माँग के अनुसार इनको लगाना पड़ता है कि किस वस्तु की कितनी माँग होगी उसी के अनुरुप उनके क्रय का प्रबन्ध भी करना पड़ता है।
2. **साख सुविधाएँ प्रदान करना**– व्यक्तिगत लगाव एवं सीधे सम्पर्क होने के कारण उपभोक्ताओं को साख की सुविधा उपलब्ध कराकर उसके अनुसार उधार विक्रय भी करना पड़ता है जिसे उपभोक्ता एक निश्चित समय चुकता करता है।
3. **उचित स्कन्ध की व्यवस्थ**– फुटकर व्यापारी उपभोक्ताओं की विभिन्न प्रकार की आदतों, रुचि एवं इच्छा के अनुरुप भिन्न–भिन्न प्रकार की वस्तुओं को एकत्र कर आवष्यकतानुसार बेचते हैं।
4. **सुविधानुसार वस्तुओं की पैकिंग**– अंतिम उपभोक्ता की माँग थोड़ी–थोड़ी होती है इसलिए उनको सुविधानुसार पैकिंग की व्यवस्था भी करनी पड़ती है।
5. **अंतिम की सुपुर्दगी की व्यवस्था**– अंतिम उपभोक्ता को माल बेचना व्यापारी का कार्य है इसके लिए वह भिन्न–भिन्न निर्माताओं एवं थोक व्यापारियों से समपर्क कर वस्तुओं को एकत्रित करते हैं।
6. **वस्तुओं की सुपुर्दगी की व्यवस्था**– फुटकर व्यापारी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वे अंतिम उपभोक्ताओं को माल की सुपुर्दगी उनके वाहन तक या उनके घर तक करते हैं, क्योंकि उपभोक्ता कभी–कभी अपना आदेष टेलीफोन के माध्यम से देता है।
7. **जोखिम सहन करना**– उपभोक्ताओं की फैशन, रुचि, आदत एवं माँग में परिवर्तन से वस्तु की माँग न होने पर या उपयोक्ताओं द्वारा उधार न चुकाने से होने वाली हानि आदि, जोखिम भी फुटकर विक्रेताओं को सहन करना पड़ता है।

11.4 फुटकर व्यापारियों की सेवाएँ

फुटकर व्यापारी की सेवाएँ मुख्यतः थोक व्यापारी, निर्माताओं और समाज को प्राप्त होती है, जो निम्नलिखित हैं:–

11.4.1 थोक व्यापारी एवं निर्माताओं के प्रति सेवाएँ

1. उपभोक्ताओं की रुची, फैषन एवं आदत का ज्ञान कराना
2. विक्रय का प्रबन्धन करना
3. नव उत्पाद का प्रचार
4. विपणन व्यय में कमी

11.4.1 उपभोक्ताओं के प्रति

1. उपभोक्ताओं के निकट
2. साख सुविधाएँ उपलब्ध कराना
3. वस्तुएँ चुनने की स्वतंत्रता
4. धोखे की कम सम्भावना
5. निःशुल्क परामर्श
6. ग्राहकों के ज्ञान में वृद्धि
7. घर पर सुपुर्दगी
8. शल वापसी की सुविधा

11.5 थोक व्यापार एवं फुटकर व्यापार में अन्तर

थोक व्यापार एवं फुटकर व्यापार में हम निम्नलिखित आधारों पर अन्तर प्रस्तुत कर सकते है, आइये क्रमषः इन्हे समझने का प्रयास करें:–

क्र सं	अन्तर का आधार	थोक व्यापार	फुटकर व्यापार
1.	व्यापारिक क्रियाएं	थोक व्यापार में निर्माता एवं फुटकर व्यापारी के साथ व्यापारिक क्रियाएं होती है।	फुटकर व्यापारी में थोक व्यापारी एवं अंतिम उपभोक्ता के साथ व्यापारिक क्रियाएं होती है
2.	वस्तु की मात्रा	इसमें वस्तु की अपेक्षा इसका क्षेत्र विस्तृत होता है।	इसमें माल का क्रय विक्रय थोड़ी–थोड़ी मात्रा में किया जाता है।
3.	व्यवसाय का क्षेत्र	फुटकर व्यापार की अपेक्षा इसका क्षेत्र विस्तृत होता है	इनका क्षेत्र थोक व्यापार की अपेक्षा बहुत छोटा होता है।
4.	पुँजी की आवश्यकता	इसमें अत्यधिक पुंजी की आवष्यकता होती है, क्यांकि बड़े पैमाने पर व्यवसाय होता है	इसमें बहुत कम पूँजी से भी व्यापार किया जा सकता है।
5.	साख सुविधाएँ प्रदान करना	ये प्रायः फुटकर व्यापारियों को उनकी साख के आधार पर उधार माल देते हैं। जिसकी मात्रा फुटकर व्यापार की अपेक्षा अधिक होती है।	इसमें उपभोक्ता को उनकी क्रयषक्ति एवं संबंध के आधार पर उधार माल दिया जाता है जिसकी मात्रा बहुत ही कम होती है।
6.	विशिष्टीकरण	इसमें प्रायः कम वस्तुओं का व्यापार होने के कारण विषिष्टीकरण पाया जाता है।	इसमें विभिन्न निर्माताओं द्वारा भिन्न–भिन्न वस्तुओं का क्रय–विक्रय किया जाता है जिससे विशिष्टीकरण का

			अभाव पाया जाता है।
7.	व्यवसाय का स्थान एवं सजावट	इसमें व्यवसाय के स्थान एवं उसके दुकान की सजावट का कोई विषेष महत्व नहीं होता है।	इसमें व्यवसाय का स्थान एवं दुकान की सजावट दोनों ही महत्वपूर्ण है।
8.	जोखिम	बड़े पैमाने पर क्रय–विक्रय के कारण जोखिम की संभावना अधिक होती है।	इसमें अपेक्षाकृत बहुत की कम जोखिम की संभावना रहती है।

11.6 बृहत् स्तरीय फुटकर व्यापार

वर्तमान शताब्दी में उत्पादन एवं वितरण करने वाली संस्थाओं की संख्याओं की संख्या एवं सामान्य कुषलता निरन्तर बढ़ती जा रही है, इससे प्रतिस्पर्द्धा भी पूर्व की अपेक्षा बढ़ी हुई दिखाई देती है। इस मनोवृत्ति के कारण कम कुषल फर्में इस संघर्ष में समाप्त सी हो गयी हैं और जो शेष बची हैं, वे ग्राहकों के आदेष प्राप्त करने की दौड़ में मूल्यों के गिर जाने के करण कम लाभ उठा रही हैं। बहु–परिणाम फुटकर व्यापार से आषय ऐसे व्यापार से हैं जिसमें पूँजी का विनियोजन बड़ी मात्रा में हाता है तथा एक ही संगठन के अन्तर्गत बृहत् स्तर पर अधिकतम उपभोक्ताओं की आवष्यताओं को पूरा करने का प्रयास किया जाता है। इनके द्वारा अनेक वस्तुओं अथवा विषिष्ट वस्तुओं का विक्रय किया जाता है।

11.7 बहु–परिमाण फुटकर व्यापार के लाभ

इसके अतिरिक्त स्वयं बहु–परिणाम फुटकर व्यापार से होने लाभ ने भी उनकी स्थापना एवं विकास को बल दिया है। बहु–परिणाम फुटकर व्यापार से होने वाले प्रमुख लाभ निम्न हैं– (1) उपभोक्ताओं की अधिकतम सन्तुष्टि पर बल, (2) कुषल एवं प्रषिक्षित विक्रेताओं की नियुक्ति एवं उनसे होने वाले लाभ, (3) विषिष्टीकरण के लाभ, (4) विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के संग्रह के लाभ, (5) क्रय में मितव्ययिता, (6) विज्ञापन में मितव्ययिता, (7) शीर्ष अथवा समतल संयोजन सम्भव, (8) स्थायी व्ययों में मितव्ययिमा तथा (9) ग्राहकों को विभिन्न सुविधाएँ प्रदान करना आदि।

11.8 बहु–परिमाण फुटकर व्यापार

बहु–परिणाम फुटकर व्यापार करने वाली दुकानें दो रुपों में पाई जाती हैः– (1) विभागीय भण्डार, तथा (2) बहु–विक्रयषालाएँ

11.8.1 विभागीय भण्डार

विभागीय भण्डारों का उद्गम सर्वप्रथम फ्रांस में सन् 1852 में हुआ। बोन मार्क तथा लूअर नामक विभागीय भण्डार 18वीं शताब्दीं में स्थापित हुए थे, जो आज भी प्रसिद्ध हैं। धीरे–धीरे इस व्यवस्था का विकास 19वीं शताब्दी के मध्य में युरोप तथा अमेरिका में हुआ। मुख्यतः इसका विकास धनी लोगों की सुविधा को ही दृष्टि में रखकर किया गया है। विभागीय भण्डारों के लिए बड़े नगरों का निर्माण, उनमें

PLONE-029

जनसंख्या की वृद्धि, यातायात तथा अमेरिका में हुआ। मुख्यतः इसका विकास धनी लोगों की सुविधा को ही दृष्टि में रखकर किया गया है। विभागीय भण्डारों के लिए बड़े नगरों का निर्माण, उनमें जनसंख्या की वृद्धि, यातायात तथा आधुनिक साधनों की प्रगति–सभी इसके लिए आवष्यक हैं। इसी कारण आज अमेरिका इन भण्डारों का संसार में सबसे बड़ा केन्द्र है।

विभागीय भण्डार से आशय बड़े पैमाने पर फुटकर विक्रेता की दुकान से है, जिसमें एक ही भवन के अन्तर्गत कई विभाग होते हैं और प्रत्येक विभाग एक विषेष प्रकार की वस्तु का ही विक्रय करता है। इन विभागों का नियन्त्रण एक ही व्यक्ति अथवा संस्था के हाथ में होता है। इन विभागों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं (सुई से लेकर हवाई जहाज तक) का विक्रय होता है। इसके अतिरिक्त इन विभागों में ग्राहकों के लिए आमोद–प्रमोद के साधन भी उपलब्ध होते है।

जेम्स स्टीफेंसन के अनुसार,''एक ही छत के अन्तर्गत एक बड़ा भण्डार है, जो विभ्न्नि प्रकार की वस्तुओं में फुटकर व्यापार करता है।''

श्री क्लार्क के अनुसार,'' यह एक फुटकर संख्या है जो एक ही छत के अर्न्तगत विभिन्न प्रकार की वस्तुओं में कारोबार करती है। ये वस्तुएँ निष्चित विभागों में विभाजित हाती हैं। इसका केन्द्रीय प्रबन्धन होता है और यह मुख्यतः स्त्री ग्राहकों की आवष्यकताओं की पूर्ति करता है।''

फुटकर व्यापारी की रवह पद्धति जिसमें विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ एक ही दुकान में उपलब्ध हो सकती हैं तथा एक प्रकार के नियन्त्रण में रहती हैं, उनको 'विभागीय भण्डार' कहते हैं। इस प्रकार विभागीय भण्डार वाले व्यापार में ग्राहक एक ही स्थान पर बैठकर अपनी आवष्यकता की सारी वस्तुओं को सुगमता के साथ प्राप्त कर सकता है। यही नहीं, ग्राहकों की सुविधा के लिये भण्डारों में वाचनालय, शौचनालय, स्नानागार, जलपान–गृह, विश्राम गृह, पोस्ट ऑफिस, टेलीफान एवं पार्क भी होते हैं। इनके अतिरिक्त प्रदर्षन संगीत कार्यक्रम, चलचित्र तथा नाट्य आदि का प्रबन्ध भी होता है। विभागीय भण्डार के प्रमुख लक्षण निम्न हैंः–

(1) **बड़े नगरों के केन्द्र में स्थित होना**– प्रायः विभागीय भण्डार बड़े नगरों में ऐसे स्थान पर स्थापित होते हैं जहाँ अधिक से अधिक ग्राहक आसानी से आ सकें।

(2) **सभी प्रकार की वस्तुओं की उपलब्धि**– विभागीय भण्डार में ग्राहकों को सभी प्रकार की वस्तुओं को एक ही स्थान पर उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया जाता है। यहाँ सुई से लेकर वायुयान तक उपलब्ध हो जाता है।

(3) **एक ही दुकान के अन्दर अनेक दुकानें**– विभागीय भण्डार में एक ही छत के नीचे अनेक दुकानें होती हैं, जोकि भिन्न–भिन्न प्रकार की वस्तुओं का संग्रह करती है।

(4) **ग्राहकों के लिए सर्वोत्तम किस्म की सेवा**– विभागीय भण्डार अपने ग्राहकों के लिए सर्वोत्तम किस्म की व्यक्तिगत सेवा अर्पित करने का प्रयत्न करते है। ये सेवाएँ निःषुल्क अर्पित की जाती हैं। विभागीय भण्डारों में मूल्य की अपेक्षा ऐसा पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

(5) **प्रत्येक विभाग का स्वतंत्र संचालन**– विभागीय भण्डार में अलग–अलग कई विभाग होते हैं, जो कि अलग–अलग विभागीय प्रबन्धों के नियंत्रण में कार्य करते हैं।

(6) **केन्द्रीय स्वामित्व, प्रबन्ध एवं नियंत्रण**– यद्यपि विभागीय भण्डार में कई छोटे–छोटे एवं पृथक्–पृथक् विभाग होते हैं, किन्तु फिर भी वे एक केन्द्रीय इकाई के अंग होते हैं।

(7) **कुशल विक्रेता**– ऐसे भण्डारों पर प्रषिक्षित एवं कुषल विक्रेता कार्य करते हैं, जो ग्राहकों को अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करते हैं।

(8) **उच्च किस्म की वस्तुओं का विक्रय**– ये उच्च किस्म की वस्तुओं का ही विक्रय करने को प्राथमिकता देते हैं।

(9) **श्रम विभाजन विभेदीकरण**– यहाँ श्रम–विभाजन तथा विषिष्टीकरण पर विषेष बल दिया जाता है।

विभागीय भण्डार के निम्नलिखित लाभ हैः–

स्वामियों अथवा व्यवसायियों अथवा संस्था को लाभ –

(1) **बड़े पैमाने पर क्रय के लाभ**– विभागीय भण्डार बड़ी मात्रा में माल को क्रय करते हैं। यह क्रय सीधा उत्पादकों अथवा निर्माताओं से करते हैं। आवष्यकता पड़ने पर विदेषों से आयात भी करते हैं। बड़ी मात्रा में क्रय करने के कारण उन्हें मूल्रू में अपेक्षकृत अधिक छूट मिल जाती है तथा किराया आदि में भी मितव्ययिता रहती है।

(2) **विज्ञापन में सुविधा एवं मितव्ययिता**– इनकी बृहत् रुप से विज्ञापन की सुविधा प्राप्त है, क्योंकि ये अपनी आार्थिक सुदृढ़ता के कारण विज्ञापन हेतु कुषल विषेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त कर सकते हैं, जिसके कारण उनका विज्ञापन अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सामूहिक विज्ञापन होने के कारण मित्व्ययिता भी रहती है।

(3) **कुशल कर्मचारियों की नियुक्ति**– विभागीय भण्डार के आर्थिक साधन अधिक होने के कारण उनके लिए कुषल, योग्य, अनुभवी विषेषज्ञों की सेवाये प्राप्त करना सम्भव है। हस प्रकार कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है।

(4) **श्रम–विभाजन एवं विशिष्टीकरण के लाभ**– अन्य फुटकर व्यापारिक संस्थाओं की तुलना में विभागीय भण्डार के साधन विषाल एवं विस्तृत होते हैं, अतः वे श्रम–विभाजन एवं विषिष्टीकरण की क्रियाओं को प्रभावषाली ढंग से लागू कर सकते हैं।

(5) **बिक्री में वृद्धि**– इस प्रकार के भण्डार अत्यन्त आकर्षण होते हैं। जब कोई ग्राहक किसी वस्तु को खरीदता है तो वह अन्य वस्तुओं को क्रय करने के लिए भी उत्साहित हो उठता है, परिणामस्वरुप इन भण्डारों की बिक्री बहुत बढ़ जाती है।

(6) **कुशल प्रशासन**– चूँकि विभागीय भण्डार का संगठन बड़े पैमाने पर होता है, अतः यह कुषल एवं अनुभवी व्यक्तियों की सेवाओं का लाभ उठाकर कुषल प्रषासन देने में समर्थ होता हैं जैसे–जैसे प्रषासन की कुषलता में वृद्धि होती जाती है, उसमें मितव्ययिता भी होती है।

ग्राहकों तथा समाज को लाभ–

(1) **वस्तुओं को चुनने का सुअवसर**– विभागीय भण्डार में एक वस्तु की कई किस्में रखी जा सकती हैं, अतः ग्राहकों को वस्तुओं के चुनाव में पर्याप्त सुविधा रहती है।

(2) **ग्राहकों को क्रय करने में सुविधा**– चूँकि ग्राहकों को एक ही स्थान पर अपनी आवष्यकताओं का सम्पूर्ण सामान प्राप्त हो जाता है, अतः उनको विभिन्न वस्तुओं के लिए अन्य दुकानों पर नहीं जाना पड़ता।

(3) **सेवा–तत्व**– इनकी स्थापना का मूल उद्देष्य ग्राहकों को हर प्रकार की सुविधायें पहुँचाना होता है। ये अपने सेवाभाव से ग्राहकों को सदैव के लिए अपना बना लेते हैं। फलतः इनके यहाँ भावों में मोल–तोल करने का कोई प्रष्न ही उत्पन्न नहीं होता है। सेवा तत्व के कारण ही विभागीय भण्डार अन्य फुटकर व्यपारियों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं।

(4) **ग्राहको को घर तक माल पहुँचाने की सुविधा**– कभी–कभी विभागीय भण्डार ग्राहकों को घर तक माल पहुँचाने की सुविधायें प्रदान करते हैं। ये सेवायें पाष्चात्य देषों में निःषुल्क की जाती हैं, जिनका उद्देष्य ग्राहकों को सुविधा देना तथा माल की बिक्री बढ़ाना है।

(5) **आधुनिकता का प्रतीक**– विभागीय भण्डार नये से नये डिजाइन एवं फैषनयुक्त वस्तुओं को रखने का प्रयत्न करते हैं, जिसके कारण इनको आधुनिकता का प्रतीक कहते हैं। इसके अतिरिक्त इन भण्डारों में प्रायः सभ्य वर्ग के ग्राहक ही प्रवेष करते हैं।

(6) **साख–सुविधाएँ**– विभागीय भण्डार अपने विषिष्ट ग्राहकों को आवष्यकतानुसार साख–सुविधाएँ भी प्रधान करते है।

(7) **प्रमापित वस्तुएँ**– विभागीय भण्डार, जहाँ तक सम्भव होता है, अपने यहाँ प्रमापित तथा अच्छी किस्म की वस्तुएँ ही रखते है। परिणामस्वरुप ग्राहकों को अच्छा माल उपलब्ध हाता है।

(8) **ज्ञान में वृद्धि**– विभागीय भण्डार आधुनिकता के प्रतीक मानते जाते हैं, अतः ग्राहकों को नये से लये फैषन, नवीनतम किस्मे तथा सुझाव आदि देकर ग्राहकों एवं समाज के ज्ञान में वृद्धि करते है।

(9) **ग्राहको के लिए आकर्षण**– विभागीय भण्डार अपने केन्द्रीय स्थिति, स्वच्छ व्यवस्था, कलात्मक सजावट, मनोरंजन के साधन तथा नम्र व्यवहार से ग्राहकों के लिए आकर्षण केन्द्र बन जाते हैं। विषेषतः ग्राहकों को विभागीय भण्डारों से क्रय करने में अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है जिसे मुद्रा में नहीं नापा जा सकता है।

(10) **अन्य लाभ– 1.** ग्राहकों के समय की बचत, 2. उच्च जीवन स्तर, 3. माल पसन्द न आने पर वापसी की सुविधा आदि।

उपर्युक्त लाभों होते हुए भी विभागीय भण्डार में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं–

स्वामियों अथवा व्यवसायियों अथवा संस्था की दृष्टि से दोष–

(1) **अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता**– इनका व्यापारिक स्वरुप विषाल होने के कारण अत्यधिक पूँजी की आवष्यकता होती है, अतः इन्हें स्थापित करने में भारी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यही कारण है कि भारत में इनका विकास नहीं पाया है।

(2) परिचालक व्ययों में वृद्धि– विभागीय भण्डारों को चलाने के लिए परिचालन व्यय बहुत अधिक होते हैं। इसका कारण यह है कि इनमें सेवाओं पर बहुत ध्यान दिया जाता है, जैसे–घर पर माल पहुँचने की निःशुल्क व्यवस्था, मनोरंजन केन्द्र का होना, वाचनालय एवं स्नान–गृह की व्यवस्था आदि।

(3) सेवाओं का दुरुपयोग– ग्राहक प्रायः इनकी निःषुल्क सेवाओं का दुरुपयोग करते हैं। जैसा कि सामान्यतः देखा जाता है कि अनेक व्यक्तियों भण्डारों में केवल घूमने एवं निःशुल्क सेवाओं का लाभ उठाने के लिए आते हैं, क्रय करने के लिए नहीं। इससे सेवा व्ययों में वृद्धि होती है जिसके कारण लाभ की मात्रा घट जाती है।

(4) अनार्थिक विभागों का प्रचलन– विभागीय भण्डार में कुछ ऐसे विभाग भी होते हैं जो केवल इसलिए चनते हैं ताकि वे भण्डार सब वस्तुओं का विक्रय स्थान बन सकें। साधारणतः इन विभागों में अधिकतर हानि ही होती है, जिसके कारण सम्पूर्ण भण्डार के लाभों पर इनका बुरा प्रभाव पड़ता है।

(5) आकर्षण विशाल भवन मिलने में कठिनाई– विभागीय भण्डार के लिए आकर्षक विषाल भवन की आवष्यकता होती है, जो कि अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में स्थित होना चाहिए। ऐसा भवन मुश्किल से ही मिल पाता है। यदि मिलता है तो उसके लिए इतना अधिक किराया देना पड़ता है जिसका व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(6) समन्वय का अभाव– प्रत्येक विभाग का अलग–अलग संगठन तथा हिसाब–किताब होने के कारण प्रत्येक विभाग अपनी ही बिक्री का ध्यान रखता है तथा अन्य विभागों की ओर ध्यान नहीं देता । अधिक लाभ कमाने की भावना भी विभागों में अस्वस्थ प्रतिद्विन्दिता को जन्म देती है जिसका समन्वय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

ग्राहकों की दृष्टि से दोष–

(1) मूल्यों में वृद्धि– विभिन्न निःशुल्क सेवाओं, व्यापार का स्थापन एवं संचालन–व्यय बढ़ जाने के कारण वस्तुओं का मूल्य अधिक बढ़ जाता है जिसके परिणामस्वरुप क्रेताओं की संख्या भी कम हो जाती है, अतः केवल धनी वर्ग के लोग की यहाँ आने का साहस कर सकते हैं।

(2) ग्राहकों से कोसों दूर– विभागीय भण्डार नगर के केन्द्र में स्थित होने के कारण सर्वसाधारण के स्थानों से दूर रहते हैं, अतः साधारण ग्राहकों को जाना सम्भव नहीं होता। ग्राहक अपने आस–पास के फुटकर विक्रेताओं से ही अपनी आवष्यकता की वस्तुएँ खरीदना अधिक सुविधाजनक समझते हैं।

(3) व्यक्तियों सम्पर्क का अभाव – विभागीय भण्डार में ग्राहक और दुकानदारों के मध्य व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव रहता है, जसका बिक्री पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(4) सामाजिक भेदभाव को प्रोत्साहन – विभागीय भण्डार पूँजीवादी प्रथा की देन है, अतः इसमें ऐसे ग्राहकों की ओर विषेष ध्यान दिया जाता है जो या तो समाज के विषिष्ट पुरुष होते हैं अथवा धनाढ्य व्यक्ति होते हैं। निर्धन ग्राहकों की उपेक्षा की जाती है जिससे सामाजिक भेदभाव को प्रोत्साहन मिलता है।

PLONE-029

11.8.2 श्रृखलाबद्ध दुकानें

बहु–विक्रयशलाएँ अथवा श्रृखलाबद्ध दुकानें उस प्रकार की फुटकर व्यापार पद्धति को कहते हैं, जिसमें एक ही स्वामित्व में अनेक फुटकर व्यापार व्यापार की दुकानें एक ही शहर के विभिन्न स्थानों पर अथव विभिन्न शहरों में एक ही प्रकार की वस्तुओं की दुकानें रहती हैं, अर्थात् उत्पादक या किसी वस्तु का थोक विक्रेता अपनी वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के लिए अनेक स्थानों पर अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत दुकानें खोल देता है, जिससे उपभोक्ताओं की वह अपने घरों के अत्यन्त निकट प्राप्त हो सकें। इस प्रकार इन दुकानों पर केवल वही वस्तुएँ बिकती हैं, जो इनका सूत्रधार उत्पादक हो सकें। ग्राहक को आकर्षित करने के लिए अन्य वस्तुएँ भी रखी जा सकती हैं।

विभिन्न विद्वानों ने बहु–विक्रयशालाओं की परिभाषाएँ विभिन्न रुपों में दी है। कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं :–

''एक ही स्वामित्व तथा प्रबन्ध के अन्तर्गत चलने वाली कई फुटकर दुकानों को बहु–विक्रयषालायें कहते हैं।''– **पी. डी. कनवर्स**

''श्रृंखलाबद्ध विभाग दो या दो से अधिक फुटकर भण्डारों का मिश्रित फुटकर संगठन है, जिसका स्वामित्व एवं क्रियाषीलन एक प्रबन्ध के अन्तर्गत होता है।''– **एफ. एच. नाइस्ट्रॉम**

''बहुसंख्यक दुकाने फुटकर व्यापार का वह प्रारुप है जिसमें एक ही स्वामित्व एवं प्रबन्ध के अन्तर्गत कई दुकानें स्थापित की जाती हैं। इन सभी पर समान प्रकार का माल समान मूल्यों पर विक्रय किया जाता है। इनकी सजावट एवं कार्य–प्रणाली में भी समानता पाई जाती है।''उपरोक्त दुकानों के निम्नलिखित लक्षण होते हैं:–

(1) **उपरोक्ताओं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध**– इनका उद्‌देश्य सभी मध्यस्थों को हटाकर उपभोक्ता से प्रत्यक्ष प्रबन्ध स्थापित करना होता है।

(2) **समरुपता**– प्रत्येक दुकान का समान रुप होता है तथा उनकी व्यापार–पद्धति भी समान होती है। यहाँ तक कि उनका रंग–रोगन, फर्नीचर तथा सजावट आदि भी समान होती है।

(3) **विशिष्टीकरण**– एक ही स्वामित्व के अन्तर्गत एक ही शहर के विभिन्न स्थानों पर अथवा विभिन्न शहरों में एक ही प्रकार की वस्तुओं के विक्रय की दुकानें स्थापित की जाती हैं।

(4) **समान मूल्य**– सब दुकानों में एक सी सजावट, एक सी किस्म तथा समान मूल्य एवं समान व्यवस्था पाई जाती है।

(5) **जन–साधारण के उपयोग की वस्तुएँ**– इन दुकानों पर साधारणतः जन–साधारण के उपयोग की वस्तुओं का विक्रय होता है।

(6) **केन्द्रीय निर्माणशाला**– इन दुकानों पर विक्रय की जाने वाली वस्तुओं का निर्माण एक ही स्थान पर होता है।

(7) **प्रमापीकरण**– इन दुकानों पर केवल प्रमापित वस्तुओं का ही विक्रय होता है। ये वस्तुएँ आकार, गुण आदि की दृष्टि से उच्च कोटि की होती हैं।

(8) **केन्द्रीय निर्माणशाला**– यद्यपि अलग–अलग दुकानों में अलग–अलग विक्रय प्रबन्ध होता है, परन्तु उनका प्रबन्ध प्रायः केन्द्रित है।

(9) **नकद बिक्री**— इन दुकानों पर वस्तुओं का विक्रय नकद के आधार पर होता है, अतः यहाँ पर साख सुविधायें उपलब्ध नहीं होती हैं।

(10) **केन्द्रीय क्रय—व्यवस्थ**— इनकी केन्द्रीय क्रय—व्यवस्था होती है।

(11) **व्यापक क्षेत्र**— इनका क्षेत्र काफी व्यापक होता है। एक ही नगर में आबादी के अनुपात में कई दुकाने खुल जाती हैं।

(12) **केन्द्रीय क्रय—स्वामित्व**— इनका स्वामित्व केन्द्रीय होता है, अर्थात् एक ही स्वामित्व में अनेक दुकानें होती हैं।

11.8.3 एक मूल्य की दुकान

वह दुकान जिस पर समस्त वस्तुएँ एक ही मूल्य पर बिकती हैं, 'एक मूल्य की दुकान' कहलाती है। इस प्रकार की दुकानें व्यापारी भारत में अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं, जो 'हर माल मिलेगा 50 पैसा', 'छाँटों बीनो 50 पैसा' अथवा इसी प्रकार की अन्य आवाजें देकर ग्राहकों को आकर्षित करते हैं। इनके पास वस्तुएँ अधिकतर कम मूल्य की तथा विभिन्न गुणों वाली होती हैं, किन्तु उन सबका मूल्य इस प्रकार लगाया जाता है कि वे सारी वस्तुएँ एक ही मूल्य पर बेची जा सकें। ऐसी दुकानों पर से ग्राहक अपनी आवश्यकतानुसार माल को आसानी से क्रय कर सकता है।

लाभ—

(1) इन दुकानों पर प्रायः जनसाधारण की आवष्यकता वस्तुओं का ही विक्रय होने के कारण, यह पद्धति गरीब जनता के लिए बहुत उपयुक्त है। (2) ग्राहकों को आसानी से आकर्षित किया जा सकता है। (3) इन पर बिकने वाली वस्तुओं का मूल्य प्रायः बाजार से कम होता है। (4) इन दुकानों की स्थापना हेतु अधिक पूँजी की आवष्यकता नहीं पड़ती है। (5) सस्ती तथा जन—उपयोगी वस्तुएँ होने के कारण तुरन्त विक्रय हो जाती हैं। (6) इन दुकानों का संगठन व्यय कम होता है, क्योकि न तो विज्ञापन ही करना पड़ता है न सजावट ही करनी पड़ती है।

हानियाँ—

(1) इन दुकानों पर साधारणतया सस्ते सामानों का ही विक्रय हाता है। (2) पढ़े—लिखे तथा धनिक वर्ग के लिए ये दुकानें अधिक उपयुक्त नहीं है। (3) इन दुकानों पर अधिक किस्में नहीं मिलती हैं। (4) इन दुकानों से क्रय करने पर धोखे की सम्भावाना अधिक रहती है। (5) इन दुकानों पर ग्राहकों को पूर्ण सन्तुष्टि नहीं हो पाती।

11.8.4 सुपर बाजार मिला—जुला विभाग

'सुपर बाजार— शब्द अंग्रजी भाषा के दो शब्दों के संयोग से बना है—'सूपर' + 'बाजार'। 'सुपर' शब्द का शाब्दिक अर्थ अधिक, ऊपर अथवा असाधारण से है और 'बाजार' शब्द का अर्थ विपणि से है, अतः सुपर बाजार या मिले—जुले विभाग से आषय बड़े पैमाने की ऐसी फुटकर व्यापारिक संस्था से है जो विभिन्न प्रकार के खाद्य—पदार्थों का विक्रय करती है, जैसे— फल, सब्जी, सूखे मेवे, माँस, बेकरी, डेरी का सामान आदि। इसका सिद्धान्त है 'दाम दो तथा माल लो।' ''सूपर बाजार एक बड़ी फुटकर व्यापार करने वाली व्यावसायिक इकाई है, जो कम लाभ पर मुख्यतः खाद्य एवं किराना वस्तुओं का व्यापार करती है, जो कम लाभ पर मुख्यतः खाद्य एवं किराना वस्तुओं का व्यापार करती है, जो विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का स्वयं सेवा के आधार पर विक्रय करती है और वस्तुओं पर अत्यधिक ध्यान देती है। ''सुपर बाजार एक बड़ी फुटकर व्यापार करने

वाली व्यावसायिक इकाई है, जो विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का स्वयं सेवा के आधार पर विक्रय करती है और वस्तुओं पर अत्यधिक ध्यान देती हैं। ''सुपर बाजार वह बड़ा फुटकर भण्डार है जो घर के काम में आने वाली वस्तुओं का विक्रय करता है।''

इस प्रकार ''सुपर बाजार एक बड़ा फुटकर व्यापार करने वाली संस्था है जो विभिन्न दैनिक आवष्यकताओं की वस्तुओं का स्वयं सेवा के आधार पर व्यापार करती है।''

सुपर बाजार बिना विक्रेताओं की सहायता से चलाये जाते हैं और ग्राहकों को अपनी मनपसन्द की वस्तुओं को चुनने का पूरा–पूरा सुअवसर प्रदान करते हैं। ग्राहक एक छोटे रास्ते से सुपर बाजार में घुसता है और वह खुली अलमारियों में से अपनी मनपसन्द चीजें बिना विक्रेता की सहायता के ले लेता है। यहाँ ट्राली (पहियेदार गाड़ी) खड़ी रहती हैं, जिन पर तष्तरियाँ लगी रहती है। इन पर वह वस्तुएँ खरीद–खरीद कर रखता है और अन्त में जब वह खरीद चुकता है तब खरीदी वस्तुओं से भरी ट्राली को ढकेलकर बाजार के बाहरी दरवाजे पर लाता है, जहाँ भुगतान काउण्टर होता है। यहाँ पर एक क्लर्क रहता है, जो सम्पूर्ण वस्तुओं के मूल्य का बिल बनाता है। इस बिल का भुगतान करने के पश्चात् ग्राहक वस्तुओं को ले जा सकता है। यह बहुत कुछ विभागीय भण्डार से मिला–जुला होता है, अतः इसे मिला–जुला विभाग भी कहते हैं।

सुपर बाजार की विषेषताएँ निम्न हैं– (1) यह बड़े पैमाने की फुटकर व्यापारिक संस्था है। (2) यह विभागीय भण्डार की भाँति विभिन्न वस्तुओं के विक्रय का कार्य करती है। (3) इसमें मुख्यतयाः खाद्य पदार्थ, माँस तथा सामान्य उपयोग के सामानों का विक्रय होता है। (4) इसमें विक्रेता नहीं होते हैं बल्कि स्वयं सेवा के आधार पर वस्तुओं का विक्रय होता है। (5) वस्तुओं का विक्रय केवल नकद के रुप में होता है, उधार नहीं। (6) यह प्रायः बड़े–बड़े शहरों में स्थित होते हैं बल्कि स्वयं सेवा के होता है, उधार नहीं। (7) ग्राहक स्वयं अपनी मनपसन्द की वस्तुएँ उठाता है तथा ट्राली में रखता जाता है। अन्त में स्वयं ही उसे ढकेलकर बाजार के बाहरी दरवाजे पर काउण्टर के पास ले जाता है। (8) इसमें ग्राहक को यह बड़ा सन्तोष रहता है कि कोई उस पर इस बात के लिए कतई जोर नहीं दे रहा है कि आमुक वस्तु अच्छी है या खराब।

11.8.5 विक्रय मशीन

पाश्चात्य देषों में वस्तुओं का विक्रय स्वचालित मषीनों द्वारा सम्पन्न होता है। मशीनों में पहले से ही प्रमाणित वस्तुओं के बन्द पैकिटों को सावधानी के साध रख दिया जाता है। ग्राहक जैसे ही मषीन के नियत छेद में आवष्यक सिक्के डालता है, वस्तु का पैकिट मषीन से निकलकर बाहर आ जाता है। इन पैकिटों के समाप्त हो जाने पर मषीन में पुनः पैकिटों को रख दिया जाता है। इन मषीनों को इमारत के अन्दर या बाहर, चौराहे अथवा अन्य किसी स्थान पर रखा जा सकता है। वर्तमान समय में इस प्रकार की मषीनों के माध्यम से भारत में विभिन्न एयरपोर्टो पर आवष्यक खाद्य वस्तुयें या पेय पदार्थ की पूर्ति की जाती है।

लाभ–

(1) विक्रय मशीनों द्वारा होता है, अतः विक्रताओं की नियुक्ति करने की आवष्यकता नहीं रहती। (2) मशीन को किसी भी आबादी वाले स्थान पर रखा जा सकता है। (3) इसके द्वारा केवल प्रमाणित वस्तुओं का ही विक्रय होता है। (4) विक्रेता को हिसाब–किताब रखने की आवष्यकता नहीं रहती। (5) वस्तुओं का विक्रय निष्चित भावों पर होता है। (6) इस पद्धति में मितव्यिता रहती है। (7) इन मषीनों के सम्बन्ध में समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है, अर्थात् मषीनें दिन–रात चालू रहती हैं। (8) इन मषीनों द्वारा

केवल सीमित वस्तुओं का ही विक्रय सम्भव है, जैसे–भारी वस्तुओं का विक्रय करना सम्भव नहीं।

11.9 सारांश

विस्तृत अर्थ में, बड़ी मात्रा में माल बेचने वाली व्यावसायिक फर्मों को थोक व्यापारी कहते है। विशिष्ट अर्थ में, थोक व्यापारी से अभिप्राय उस मध्यस्थ व्यापारी से होता है जो बड़ी–बड़ी मात्रा में माल खरीदकर उसे पुनर्विक्रय एवं लाभ कमाने हेतु फुटकर विक्रेताओं तथा औद्योगिक व व्यवसायिक उपभोक्ताओं को थोड़ी–थोड़ी मात्रा में बेचता है। अतः थोक व्यापारी विनिर्माताओं के माल का वितरण संभव करता है और छोटे–छोटे फुटकर व्यापारियों की आवष्यकताओं की पूर्ति करता है।

व्यवहार की जाने वाली वसतुओं के आधार पर थोक व्यापारी तीन प्रकार के होते हो सकते हैं– सामान्य माल के थोक व्यापारी, सामान्य उत्पाद श्रंखला के थोक व्यापारी तथा किसी विषिष्ट वस्तु के थोक व्यापारी। कार्य–संचालन की पद्धति के आधार पर इनको सेवा प्रधान थोक व्यापारी तथा सीमित सेवा थोक व्यापारी के रुप में वर्गीकृत किया जा सकता है। भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से थोक व्यापरी स्थानीय, जिला स्तर के तथा राष्ट्रीय स्तर के हो सकते हैं।

वस्तुओं का एकत्रीकरण, संग्रहण, श्रेणीकरणव वितरण, मूल्य–निर्धारण आदि थोक व्यापारी के प्रमुख कार्य है। इनके अतिरिक्त, वह माल के बिकने तक की सारी जोखिम स्वयं उठाता है और विनिर्माताओं व फुटकर विक्रेताओं को वित्तीय सहायता प्रदान करता है। इस प्रकार थोर व्यापारी वस्तु के विनिर्माताओं तथा फुटकर व्यापारियों को मूल्यवान सेवाएँ प्रदान करता है।

फुटकर व्यापार के अंतर्गत अधिकतर माल सीधे उपभोक्ताओं को उनके उपभोग अथवा प्रयोग हेतु बेचा जाता है। अतः थोक व्यापारियों या विनिर्माताओं से अधिक मात्रा में माल खरीद कर उसे सीधा अंतिम उपभोक्ताओं को उनकी पसंद व जरुरत के अनुसार बेचने वाला व्यक्ति या संस्था फुटकर व्यापारी कहलाती हैं। चूँकि फुटकर व्यापार करना विनिर्माता का प्रधान कार्य नहीं है, अतः सीधे उपभोक्ताओं को अपना माल बेचने वाले निर्माता को फुटकर व्यापारी नहीं कहा जाता है। फुटकर व्यापारी वस्तुओं के वितरण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उसका मूल ध्येय अंतिम उपभोक्ताओं की अधिकांष जरुरतों को एक ही स्थान पर पूरा करना होता है। वह एक ओर उत्पादकों अथवा थोक व्यापारियों तथा दूसरी ओर उपभोक्ताओं के बीच कड़ी के रुप में प्रस्तुत होता है। फुटकर व्यापारी निम्नलिखित कार्य करता है : माँग मा पूर्वानुमान करना, माल का क्रय करना, माल संग्रहण करना, माल को पैक करना, ग्राहकों को सेवाएँ व सुविधाएँ प्रदान करना, थोक व्यापारियों के माध्यमा करना, माल को पैक करना, ग्राहकों को सेवाएँ व सूविधाएँ प्रदान करना, थोक व्यापारियों के माध्यम से विनिर्माताओं को बाजार संबंधी जानकारी व थोक व्यापारियों को प्रत्यक्ष तथा उत्पादकों को अप्रत्यक्ष सहायता प्रदान करता है।

फुटकर व्यापारियों को दो मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है : चलते–फिरते या भ्रमणषील फुटकर व्यापारी तथा स्थायी दुकानों के फुटकर व्यापारी चलते–फिरते फुटकर व्यापारी घर–घर जाकर अथवा अपनी सुविधानुसार स्थान बदल कर माल बेचते हैं। इनके अंतर्गत फेरी वाले, पटरी वाले तथा हाटों के व्यापारी सम्मिलित होते है। स्थायी दुकानों वाले फुटकर व्यापारी अपना व्यापार किसी ऐसे स्थान पर चलाते है। जहाँ ग्राहक आसानी से पहुँच कर अपनी जरुरत का सामान खरीद सकें। स्थायी फुटकर दुकानें भी दों प्रकार की होती हैः लघु स्तरीय तथा दीर्घ स्तरीय। लघु स्तरीय

फुटकर दुकानों पर बिक्री की मात्रा तथा माल के स्टॉक सापेक्ष रुप से कम होते है। स्टॉक वाली दुकान, सामान्य वस्तुओं की दुकान, विषिष्ट वस्तुओं की दुकान, पुरानी वस्तुओं की दुकान आदि लघु स्तरीय स्थायी दुकानों के उदाहरण हैं। दीर्घ स्तरीय स्थायी दुकानों के अन्तर्गत वे फुटकर विक्रेता सम्मिलित होते हैं जो नाना प्रकार की वस्तुओं का बड़ी–बड़ी मात्रा में क्रय करते हैं, उनका स्टॉक रखते हैं और भारी संख्या में ग्राहकों की आवष्यकताओं की पूर्ति करते हैं। दीर्घ स्तरीय स्थायी फुटकर दुकानें, डाक आदेष गृह, उपभोक्ता सहकारी भंडार, अवक्रय व्यापार गृह, रियायती भंडार तथा स्वचालित विक्रय मषीनें।

11.10 उपयोगी शब्दावली

- **स्वतः विक्रय**– सिक्के से क्रियाषील होने वाली स्वचालित मषीनों द्वारा सामान्य उपभोक्ता वस्तुओं का भिन्न–भिन्न स्थानों पर विक्रय।
- **उपभोक्ता सहकारी भंडार**– उपभोक्ताओं के हिंतो की रक्षा करने हेतु संगठित सहकारी समितियों के सदस्यों द्वारा संचालित फुटकर भंडार।
- **विभागीय भंडार**– बड़े पैमाने की फुटकर व्यापारियों संस्था जिसमें एक ही भवन के अंतर्गत बहुत से विभाग होते हैं और प्रत्येक विभाग एक विषेष प्रकार की वस्तु भेजता है तथा वह स्वयं में एक पूर्ण इकाई होता है।
- **रियायती भंडार**– टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं को रियासती दर पर नियमित रुप से बेचने वाले दीर्घ स्तरीय फुटकर भंडार।
- **चलते–चलते फुटकर व्यापारी**– घर–घर जाकर अथवा कार्य–स्थ्ल बदल–बदल कर अपनी वस्तुएँ बेचने वाले फुटकर व्यापारी।
- **डाक आदेश–गुह**– बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार की एक संस्था जो डाकघर को अपनी वस्तुओं के वितरण का माध्यम बना लेती है और वी.पी.पी. के द्वारा माल बेचती है।
- **फुटकर व्यापारी**– फुटकर व्यापार में व्यस्त वह व्यक्ति अथवा संस्था जो अपना अधिकतर माल सीधे उपभोग के लिए वस्तुओं का विक्रय करती है।
- **फुटकर व्यापार**– वे लेन–देन जिनके माध्यम से सीधे अंतिम उपभोक्ताओं को उनके निजी प्रयोग अथवा उपभाग के लिए वस्तुओं का विक्रय किया जाता है।
- **विशिष्ट वस्तु की दुकानें**– छोटी–छोटी फुटकर दुकानें जो एक अथवा दों विषेष प्रकार की वस्तुओं का विक्रय करती है।
- **सुपर बाजार**– स्वयं सेवा के सिद्धान्त पर अनेक प्रकार की सामान्य उपभोक्ता वस्तुओं का कम मूल्य पर नकद–विक्रय एक ही स्थान से करने वाली फुटकर व्यापारिक–संस्था।
- **थोक व्यापारी**– पुनविर्क्रय एवं लाभ कमाने के उद्देष्य से थोक व्यापार में लगें व्यक्ति अथवा संस्था।
- **थोक व्यापार**– विनिर्माताओं से माल खरीदने तथा फुटकर व्यापारियों को बेचने में निहित लेन–देन।

11.11 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. फुटकर व्यापारी की क्या विषेषताएं हैं?

प्रश्न 2. फुटकर व्यापारी के कार्यों को बताइए।

प्रश्न 3. फुटकर व्यापारी द्वारा उपभोक्ताओं व निर्माताओं को प्रदान करने वाली सेवाओं का विवरण दीजिए।

प्रश्न 4. बृहत स्तरीय फुटकर व्यापार के क्या लाभ हैं?

प्रश्न 5. विभागीय भण्डार से आप क्या समझते हैं? इनकी विषेषताओं को बताइए।

प्रश्न 6. विभागीय भण्डार से ग्राहकों व समाज को क्या लाभ है?

प्रश्न 7. श्रृंखलाबद्ध दुकानों को परिभाषित कीजिए तथा इनकी विषेषताओं को बताइए।

प्रश्न 8. एक मूल्य की दुकान के लाभ व हानियों की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 9. सुपर बाजार से आप क्या समझते हैं? इनकी विषेषताओं का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 10. मशीन द्वारा विक्रय से आप क्या समझते हैं?

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- डॉ0 पदमाकर अस्थाना (साहित्य भवन) आगर/1994 व्यावसायिक संगठन पूर्णतः संशोधित, परिवर्तित एवं परिमार्जित संस्करण।
- डॉ0 जगदीश प्रकाश (एम0काम, डी0 फिल0) प्रोफेसर, वाणिज्य एवं व्यवसाय प्रशासन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद आधुनिक व्यवसायिक संगठन, 1991
- जी0एल जोशी, जी0 एल शर्मा, एल0एस0सी0 जोशी : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध (दिल्ली : श्री महावीर बुक डिपो, 1988 अध्याय 1, 3)
- डाॅ0 एस0सी0 सक्सेना – व्यापारिक संगठन (बंसल पब्लिशिंग हाउस) ब0पा0ह
- वी0पी0सिंह – व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध का परिचय, इलाहाबाद किताब महल, 1988

इकाई–12 थोक विपणन

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 थोक विक्रेता की विशेषताएं

12.3 थोक व्यापारी के कार्य

12.4 थोक व्यापारी की सेवाएं

12.4.1 उत्पादकों के प्रति सेवाएं

12.4.2 फुटकर विक्रेताओं के प्रति सेवाएं

12.5 थोक व्यापारियों का उन्मूलन

12.5.1 उन्मूलन के पक्ष में तर्क

12.5.2 उन्मूलन के विपक्ष में तर्क

12.6 सारांश

12.7 उपयोगी शब्दावली

12.8 महत्वपूर्ण प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगें कि:

- थोक व्यापार का अर्थ बता सकेगें,
- थोक व्यापारियों के कार्यों की व्याख्या कर सकेंगें,
- थोक विक्रेता की विषेषतााएं बता सकेंगे,
- थाक व्यापारी की सेवाएं को जान सकेंगें तथा
- थोक व्यापारियों के उन्मूलन को विस्तार से विष्लेषित कर सकेंगें।

12.1 प्रस्तावना

निर्माता एवं फुटकर व्यापारी के मध्य की कड़ी को थोक व्यापारी कहते हैं। ये वस्तुओं को उत्पादक से खरीदकर फुटकर व्यापारी को थोड़ी मात्रा में बेचते हैं। थोक

व्यापारी वितरण व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण कड़ी होते हैं। थोक व्यापारी के संबंध में कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैः–

"थोक विक्रेता वस्तुएँ खरीदते हैं फिर उसकी बिक्री फुटकर विक्रेताओं एवं अन्य व्यापारियों तथा औद्योगिक, संस्थागत वाणिज्यिक उपभोक्ताओं को करते है, लेकिन अंतिम उपभोक्ताओं को पर्याप्त मात्रा मं नहीं बेचते हैं।" –**कण्डिफ व स्टिल**

12.2 थोक विक्रेता की विशेषताएँ

थोक विक्रेता को निर्माता और फुटकर विक्रेता के मध्य की महत्त्वपूर्ण कड़ी माना गया है। थोक विक्रेता की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं :–

- ये निर्माता और फुटकर विक्रेता के बीच की कड़ी होते है।
- थोक विक्रेता वस्तुओं को पुनः बिक्री के लिए खरीदते है।
- इनके द्वार थोक मात्रा में ही वस्तुएँ बेची जाती हैं।
- सामान्यतः ये उपभोक्ताओं को वस्तुएँ सीधे तौर पर नहीं बेचते हैं अगर बेचते भी हैं तो इनकी मात्रा बहुत ही कम होती है।
- थोक व्यापारी वस्तुओं के संग्रह के साथ–साथ उनका श्रेणीयन भी करते हैं।
- इनके लाभ का प्रतिषत बहुत ही कम होता है।
- ये प्रायः एक ही प्रकार की या एक ही कम्पनी की वस्तुओं का व्यापार करते हैं।

12.3 थोक व्यापारी के कार्य

निर्माता कम्पनी द्वारा उत्पादित माल फुटकर व्यापारियों तक आसानी से पहुँच जाय यह थोक व्यापारी के द्वारा ही सम्भव होता हैं। वर्तमान परिदृश्य में थोक व्यापारी के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं:–

1. **वस्तुओं का केन्द्रीयकरण**– थोक व्यापारी का प्रमुख कार्य विभिन्न निर्माताओं द्वारा निर्मित वस्तुओं को एक जगह इकट्ठा कर फुटकर विक्रेताओं को बेचना है जिससे फुटकर विक्रेताओं को वस्तुओं को प्राप्ति करने में अधिक कठिनाइयों का सामना न करना पड़े।
2. **प्रमापीकरण एवं श्रेणीकरण**– कुछ थोक व्यापारी प्रमापीकरण एवं श्रेणीयन का भी कार्य करते हैं। ये भिन्न–भिन्न उत्पादकों की वस्तुओं को एकत्रित कर उनको श्रेणीगत करके उनके प्रमाप के आधार पर उनका वितरण करते हैं।
3. **भौतिक वितरण**– थोक विक्रेता निर्माताओं से एकत्रित की गयी वस्तुओं को फुटकर विक्रेताओं को उनकी सुविधानुसार वितरित है।
4. **वित्तीय सुविधाएँ**– थोक व्यापारी जहां निर्माताओं से नगद माल खरीदते हैं, वहीं उन्हे फुटकर विक्रेताओं को साख सुविधा के तहत माल उपलब्ध कराना पड़ता है।

5. **भण्डारण**— वस्तुओं की माँग से पहले थोक विक्रेताओं द्वारा वस्तुओं का भण्डारण कर लिया जाता है जिसे उनको किसी भी प्रकार की कोई परेषानी न हो साथ ही उन्हें सुरक्षित भण्डारण की सुविधा भी उपलब्ध कराना पड़ता है।

6. **साख सुविधाएँ**— थोक विक्रेता साख के आधार पर फुटकर विक्रेताओं को उधार विक्रय कर उनकी आर्थिक सहायता करते है।

7. **परिवहन**— फुटकर विक्रेताओं की माँग के अनुसार अपने साधन से उन्हें माल की आपूर्ति कराते है।

8. **कीमत में स्थिरता**— थोक विक्रेता माँग एवं पूर्ति के अनुसार माल का भण्डारण एवं आपूर्ति कर वस्तु की कीमत में स्थिरता प्रदान करने का कार्य करते है।

9. **सूचनाएँ प्रदान करना**— थोक विक्रेता उपभोक्ता की माँग, रुचि, आदत में परिवर्तन एवं वस्तुओं के बारे में विभिन्न सूचनाएँ एकत्रित कर निर्माताओं एवं फुटकर विक्रेताओं तक पहुँचाने का कार्य भी करते हैं।

12.4 थोक विक्रेता की सेवाएँ

उत्पादकों, फुटकर व्यापारियों और उपभोक्ताओं को निम्नलिखित सेवाएँ प्रदान की जाती हैं:—

12.4.1 उत्पादकों के प्रति सेवाएँ

1. **वस्तु वितरण की उचित व्यवस्था**— थोक विक्रेता उत्पादकों द्वारा उत्पादित माल को एकत्रित कर फुटकर विक्रेताओं को सुगमता से उपलब्ध कराने का कार्य करते हैं इसके लिए उनका अपना स्वयं का वितरण संगठन होता है जिससे 'उत्पादक' वितरण संबंधी क्रियाओं से बच जाते हैं।

2. **स्कन्ध रखना**— थोक विक्रेता ज्यादा मात्रा में वस्तुओं को खरीदते हैं और बाजार माँग के अनुसार अपने पास स्टाक रखते हैं इससे एक ओर जहाँ बाजार में वस्तु की उपलब्धता बनी रहती है वहीं दूसरी ओर निर्माताओं को ज्यादा भण्डारण की समस्या से मुक्ति मिलि जाती है।

3. **बड़े पैमाने पर उत्पादन में सहयोग**— थोक विक्रेता ज्यादा मात्रा में वस्तुओं को खरीदते हैं इस प्रकार अग्रिम धनराषि देकर बड़ी मा्त्रा में उत्पादक को सहयोग प्रदान करते हैं।

4. **विपणन व्ययों में कमी**— थोक विक्रेता निर्माता से वस्तुओं को खरीदकर उन्हे सुचारु रुप से फुटकर विक्रेताओं को वितरित करता है जिससे निर्माता को वितरणस संबंधी क्रिया कम करनी पड़ती है। इस प्रकार थोक विक्रेता को थोड़े में समझाकर वस्तु को बेजने के लिए तैयार कर लिया जाता है।

5. **प्रमापीकरण एवं श्रेणीकरण**— निर्माताओं से वस्तुओं को खरीदकर उनके प्रमाप के अनुसार श्रेणीबद्ध करने वस्तुओं का वितरण करते हैं। जिससे निर्माताओं को इन कार्यों से छुटकारा मिल जाता है और वे अपना पूरा ध्यान उत्पादन पर लगाते हैं।

6. **जोखिम में कमी**– थोक विक्रेताओं द्वारा नकद माल खरीदने के कारण निर्माताओं को उधार बिक्री से मुक्ति मिल जाती है, जिससे जोखिम का भार कम वहन करना पड़ता है।

7. **सूचनाएँ प्रदान करना**– थोक विक्रेता, फुटकर विक्रेताओं के माध्यम से उपभोक्ता की रुचि, इच्छा, माँग व आदत आदि के बारे में जानकारी प्राप्त कर उनसे निर्माता को अवगत कराता है जिससे निर्माता उन सूचनाओं को ध्यान में रखकर अपनी व्यावसायिक नीतियों में परिवर्तन भी कर लेते हैं।

12.4.2 फुटकर विक्रेताओं के प्रति सेवाएँ

1. **अधिक स्टॉक की आवश्यकता नहीं**– थोक विक्रेता निर्माता से अधिक मात्रा में माल तो खरीदते हैं लेकिन फुटकर विक्रेताओं को उनकी बिक्री के अनुरुप समयान्तराल पर बराबर माल की आपूर्ति करते रहते हैं जिससे फुटकर विक्रेताओं को अधिक भण्डार रखने की आवष्यकता नहीं होती है।

2. **साख सुविधाएँ उपलब्ध कराना**– सामान्यतः फुटकर विक्रेताओं की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होने के कारण थोक विक्रेता उनकी साख के आधार पर बिक्री के लिए उन्हें उधार माल भी उपलब्ध कराते हैं, जिसे फुटकर विक्रेता उन वस्तुओं को बेचकर चुकता करते हैं। इस प्रकार की सुविधाएँ अधिकांष फुटकर विक्रेता प्राप्त करते हैं।

3. **समय–समय पर सलाह देना**– थोक विक्रेता जिस माल की आपूर्ति करते हैं उससे संबधित सभी जानकारी रखते हैं। वे फुटकर विक्रेताओं के हितों को ध्यान में रखते हुए उन वस्तुओं सूचनाएँ एवं सलाह उन्हें बराबर देते रहते हैं।

4. **माल की आपूर्ति सुगमता से कराना**– थोक विक्रेता स्वयं या अपने एजेन्ट के माध्यम से फुटकर विक्रेताओं के पास जाकर उनसे आर्डर लेते हैं और उनकी माँग के अनुसार अपने साधन से उनके प्रतिष्ठान तक माल की आपूर्ति सुनिष्चित करवाते हैं।

5. **जोखिम उठाना**– थोक विक्रेता द्वारा अधिक मात्रा में वस्तु खरीदी जाती है, परन्तु फुटकर विक्रेता सामान्यतः कम ही स्टॉक रखते हैं, क्योंकि यदि इस बीच फैषन, आदत, रुचि या माँग में परिवर्तन हो जाय तो फुटकर विक्रेता इन परिवर्तनों से होने वाली हानि से बच जाते हैं।

6. **अनेक निर्माताओं से मुक्ति**– इस उपभोक्तामुखी व्यावसायिक वातावरण में एक फुटकर विक्रेता को कई निर्माताओं के उत्पाद रखना आवष्यक हो जाता है। एक फुटकर विक्रेता द्वारा निर्माताओं से सम्पर्क करने की जरुरत नहीं पड़ती, क्योंकि सभी निर्माताओं के उत्पाद थोक विक्रेता के यहाँ एक ही जगह पर उपलब्ध हो जाते हैं।

12.4.3 समाज के प्रति सेवायें

1. **कीमतों में स्थिरता प्रदान करना**– थोक विक्रेता समाज द्वारा वस्तु की माँग एवं पूर्ति के बीच संतुलन बनाने का प्रयास करता है, जिससे कीमतों में स्थिरता बनी रहे। इसका प्रत्यक्ष लाभ समाज को मिलता है।

2. **बड़े पॅमाने पर उत्पादन के लाभ**— थोक विक्रेता निर्माताओं को बड़े पैमाने पर उत्पादन को प्रोत्साहित करते है, जिससे निर्माताओं को तो लाभ होता ही है परन्तु बड़े पैमाने पर उत्पादन लागत में कमी से वस्तुओं का मूल्य निर्धारण भी कम होता है जिसका प्रतयक्ष लाभ समाज को मिलता है।

3. **वस्तु के चयन की सुविधा**— थोक विक्रेता द्वारा विभिन्न निर्माताओं के उत्पाद फुटकर विक्रेताओं को आसानी से उपलब्ध कराए जाने के कारण उपभोक्ता को अपनी पसन्द की वस्तुएँ चुनने की सुविधा भी प्राप्त हो जाती है।

4. **विपणन शोध के लाभ**— थोक विक्रेता वितरण शोध की क्रियाएँ सम्पन्न कराते हैं जिससे समाज में हो रहे परिवर्तन के अनुसार वस्तुएँ उपलब्ध कराने की भूमिका अदा करते हैं जिसका लाभ समाज को प्राप्त होता है।

12.5 थोक व्यापारियों का उन्मूलन

समाज का एक बड़ा वर्ग इस बात पर विष्वास करता है कि उत्पादक तथा उपभोक्ताओं के बीच थोक व्यापारियों की लम्बी श्रृंखला वस्तु की वितरण लागत बढ़ा देती है, जिसको सीधे उपभोक्ताओं को ही देना पड़ता है। ऐसी स्थिति में एक गम्भीर प्रष्न खड़ा होता है कि क्या वितरण श्रृंखला में थोक व्यापारियों को रखना नितान्त आवष्यक है? अतः इस महत्त्वपूर्ण प्रष्न का उत्तर देने के लिए हमें वितरण श्रृंखला में थोक व्यापारियों के उन्मूलन के पक्ष ओर विपक्ष में दिये गये तर्कों का सावधानीपूर्वक निष्पक्ष रुप से विष्लेषण करना उचित होगा।

12.5.1 थोक व्यापारियों के उन्मूलन के पक्ष में तर्क

थोक व्यापारियों के उन्मूलन के पक्ष में लोग प्रायः यह मानकर चलते हैं कि यह एक अनावश्यक कड़ी है, इसके माध्यम से वस्तु की लागत में वृद्धि होती है, जिसको उपभोक्ता को ही भरना होता है। अतः थोक व्यापारियों के उन्मूलन के पक्ष में दिये गये विभिन्न तर्को का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से किया जा सकता हैः—

1. **वस्तुओं की लागत में वृद्धि**— इस सम्बन्ध में लोगों का तर्क यह होता है कि थोक व्यापारियों के ही कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते है। एक सर्वेक्षण के अनुसार 30 से 60 प्रतिषत तक मूल्यों में वृद्धि थोक व्यापारियों की उपस्थिति के कारण होती है। वास्तव में थोक व्यापारियों को जो लाभ प्राप्त होता है। वह उपभोक्ताओं द्वारा दिया गया है। वास्तव में थोक व्यापारियों को जो लाभ प्राप्त होता है। वह उपभोक्ताओं द्वारा दिया गया अतिरिक्त मूल्य ही होता है, जिसे उपभोक्ता ने वस्तु के मूल्य के रुप में चुकता किया है।

2. **अपने लाभ के लिए कार्य**— थोक व्यापारियों के उन्मूलन के पक्ष में प्रायः यह तर्क दिया गया है कि मध्यस्थ केवल अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए ही सदैव प्रयत्नषील रहता है। अतः मध्यस्थ केवल ऐसी वस्तुएँ बेचने का सदैव प्रयास करते हैं जो उनको अधिक से अधिक लाभ दिला सके। उन पर उत्पादक एवं उपभोक्ताओं के हितों की अनदेखी करने का भी आरोप लगाया जाता है।

3. **अनावश्यक कड़ी**— वितरण श्रंखला में बहुत से मध्यस्थ तो बाजार में मध्यस्थ अथवा स्थान्तरण के अभिकर्ता ही हैं। एक विद्वान् के अनुसार 'इन लोगों का व्यवसाय में स्थान लगभग सड़क के किनारे बने हुए अनेक फिजूल स्टेषनों की

PLONE-029

भाँति है जहाँ निर्माताओं से उपभोक्ताओं तक ही यात्रा में वस्तुओं को अनावष्यक रुप से रोक लिया जाता है।' अतः यह सही है कि वस्तुओं का ठहराव जितनी बार होगा, उसकी कीमत में उतनी ही बार वृद्धि होना स्वाभाविक है। अतः मध्यस्थ अपने लाभ को अधिकाधिक करने के लिए अपने हिसाब से ही उपभोक्ताओं को उपलब्ध कराते हैं।

4. **लोकप्रिय वस्तुओं का प्रचार**— वितरण श्रृंखला में संलग्न थोक व्यापारियों पर यह आरोप है कि वे केवल उन वस्तुओं का ही अधिक विक्रय करते हैं जो उपभोक्ताओं के मध्य लोकप्रिय हो चुकी हैं तथा जिनकी माँग अधिक है या जिन वस्तुओं पर इन्हें अधिक गुणवत्ता वाली वस्तुओं के विक्रय में अधिक रुचि नहीं लेते हैं। परिणामस्वरुप ऐसी वस्तुओं के निर्माताओं को अपनी वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने तथा ख्याति प्राप्त करने में विभिन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

5. **अनुचित पारिश्रमिक**— इस सम्बन्ध में लोगों का विचार है कि वितरण श्रृंखला में संलग्न थोक व्यापारियों का काई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं होता है। थोक व्यापारियों द्वारा वस्तु को इकट्ठा करके एक निष्चित अवधि के पश्चात् एक स्थान से दूसरे स्थान तक केवल सुपुर्दगी करना होता है। मध्यस्थ किसी वस्तु के वनज, रंग, आकार एवं गुणवत्ता में किसी भी प्रकार का कोई भी परिवर्तन नहीं करते हैं, परन्तु उन्हें सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है, जो उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं की दृष्टि से अनुचित है।

6. **कई निर्माताओं की वस्तुओं का व्यापार**— थोक व्यापारियों द्वारा एक साथ निर्माताओं के वस्तुओं का व्यापार किया जाता है। अतः स्वाभाविक है कि वह ऐसे निर्माता की वस्तुओं को अधिक विक्रय करना चाहेगा, जिस पर उसे अधिकतम लाभ मिलेगा। उसे उसकी गुणवत्ता, वनज, रंग एवं आकार से कोई मतलब नहीं होता है। उधर निर्माता भी थोक व्यापारियों को खुष करने के लिए गुणवत्ता, रंग, वनज आदि से समझौता करने के लिए तैयार रहते हैं, जो भविष्य के लिए घातक सिद्ध होता है।

7. **काला—बाजारी की स्थिति उत्पन्न करना**— निर्माता वस्तु की निर्मित करने के उपरान्त थोक व्यापारियों को वितरण का कार्य सौंप देता है। अतः थोक व्यापारियों द्वारा अपने निहित स्वार्थ को पूरा करने के लिए उपभोक्ताओं का शोषण किया जाता है। थोक व्यापारियों द्वारा प्रायः लाभ अधिक कमाने के लिए वस्तुओं की बाजार में कृत्रिम कमी पैदा की जाती है। जिससे उपभोक्ता को खरीदने के लिए वास्तविक मूल्य से अधिक मूल्य देना पड़ता है, जो एक गम्भीर समस्या है।

12.5.2 थोक व्यापारियों के उन्मूलन के विपक्ष में तर्क

थोक व्यापारियों के उन्मूलन के विपक्ष में तर्क से आषय है कि थोक व्यापारियों का उन्मूलन नहीं किया जाना चाहिए। इस विचार धारा को मानने वाले लोगों का विचार है कि मध्यस्थ, उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों के लिए आवष्यक होते हैं, बिना थोक व्यापारियों के उचित वितरण व्यवस्था नहीं सुनिष्चित की जा सकती है। अतः इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत हैं—

1. **आवश्यक तथा उपयोगी सेवाएँ प्रदान करना**— वितरण श्रृंखला में संलग्न मध्यस्थ अनेक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी कार्य करते हैं, जो न तो उत्पादकों द्वारा

और नहीं उपभोक्ताओं द्वारा समुचित ढंग से किये जा सकते हैं। इस प्रकार की निम्नलिखित आवष्यक एवं उपयोगी सेवाएँ हैं:

- ➢ निर्मित वस्तुओं को छोटे–छोटे उत्पादकों से खरीदकर एक स्थान पर जमा करना, जिससे उपभोक्ताओं की आवष्यकता की पूर्ति को सुनिष्चित किया जा सके।
- ➢ देष में फैले हुए उपभोक्ताओं तक निर्मित वस्तु को पहुँचाने का कार्य केवल मध्यस्थ ही कर सकते हैं, क्योकिं निर्माताओं के पास वस्तुओं के निर्मित करने में धन एवं समय चला जाता है, वितरण के लिए उन्हें फुरसत नहीं मिलती।
- ➢ भण्डारण की समस्त समस्याओं को निपटारा थोक व्यापारियों द्वारा कर दिया जाता है।
- ➢ थोक व्यापारियों द्वारा वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुंचाने या वितरित करने का कार्य सरल एवं सहज ढंग से कर लिया जाता है, जो एक निर्माता के लिए शायद सम्भव नहीं है। अतः वितरण को पूरा देष में फैले उपभोक्ताओं तक सुनिष्चित करवाने के लिए थोक व्यापारियों का होना आवष्यक है।
- ➢ मध्यस्थ प्रायः वस्तुओं के मूल्यों में उतार चढ़ाव का जोखिम भी लेते हैं एवं उपभोक्ताओं एवं निर्माताओं का जोखिम कम करते हैं।

2. **धन की व्यवस्था का समाधान**– किसी भी वस्तु के उत्पादन से उपभोक्ता तक पहुँचने में अनेकों प्रक्रियाओं का सामना करना पड़ता है, जिसमें धन सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक होता है। यदि कोई निर्माता इन सभी प्रक्रियाओं में धन व्यय करे तो बहुत मुष्किल होगी कि इतनी बड़ी धन की व्यवस्था हो सके परन्तु इस समस्या का समाधान थोक व्यापारियों द्वारा आसानी से कर दिया जाता है। वे निर्माताओं से थोक में वस्तु को खरीद कर धन उपलब्ध करा देते हैं, जिससे निर्माता वस्तु के निर्माण के पश्चात् निष्चिंत हो जाता है अन्यथा उसे परिवहन लागत, भण्डारण लागत, विज्ञापन व्यय, बीमा व्यय, बैंकिंग व्यय आदि जैसे खर्चों में उलझना पड़ सकता है।

3. **विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन**– किसी भी वस्तु के उतपादन से उपभोग तक पहुंचाने में दो प्रमुख स्वाभाविक भाग हैं– इन दोनों के परस्पर मेल से ही वस्तु की अधिकतम बिक्री सुनिश्चित होती है, यदि निर्माता केवल निर्माण की तरफ ध्यान दें एवं मध्यस्थ व्यापारी इन्हें ग्राहकों तक पहुँचाने की व्यवस्था करें तो दोनों ही पक्ष निश्चित रुप से अपने–अपने काम में विशिष्टता प्राप्त कर लेंगे। अतः अपनी लागत पर समुचित नियंत्रण के साथ–साथ साधनों का प्रभावकारी सदुपयोग कर सकते हैं। अतः इस जोड़ी को समाप्त करना उत्पादन एवं वितरण की दृष्टि से अवांछनीय है।

थोक व्यापारियों के उन्मूलन के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क जानने के बाद यह स्पष्ट रुप से स्वीकार किया जाता है कि जहाँ थोक व्यापारियों में अनेकों बुराइयाँ या कर्मियाँ हैं, वहीं उनके द्वारा प्रदत्त सेवाओं की अनदेखी नहीं की जा सकती है, जों प्रशंसनीय है। हाँ, बदलते परिवेश में थोक व्यापारियों की भूमिका में भी व्यापक बदलाव आया है, जो प्रषंसनीय है। हाँ, बदलते परिवेश में थोक व्यापारियों की भूमिका में भी व्यापक बदलाव इाया है, जिस कारण से उनके अस्तित्व एवं उपस्थिति पर प्रष्न चिन्ह लग रहा

है। इस सम्बन्ध में पाइले का विचार है कि, ''थोक व्यापारी की अग्नि परीक्षा की जा रही है कि क्या अब भी इसका स्थान हमारी वितरण व्यवस्था में है? जब तक कि वह अन्य संस्थाओं की अपेक्षा वितरण सेवाओं को अधिक संतोषजनक स्थिति में कर सकता है, उसे लाभप्रद स्थान मिलता रहेगा, जब तक उत्पादक अपना ध्यान उत्पादन की ओर लगाता है तथा वस्तुओं के विक्रय का कार्य विषिष्ट वितरण संस्थाओं को सौंपना अधिक लाभदायक समझता है तब तक उपभोक्ता अपनी आवष्यकता की पूर्ति उत्पादक से करने के बजाय फुटकर व्यपारी से कर लेना अधिक सुविधाजनक तथा लाभकारी समझता है। हम लोगो को थोक व्यापारियों की सेवाओं को प्रषंसनीय रहने की आषा करनी चाहिए।''

अतः थोक व्यापारियों को अपना स्वामित्व बनाये रखने के लिए आवष्यक है कि वे उत्पादक एवं उपभोक्ताओं के हितों की अनदेखी न करें। यदि इनके बारे में भी मध्यस्थ सोचना शुरु कर दें, तो शायद आज जो ज्वलन्त प्रष्न खड़ा हुआ है कि क्या व्यापारियों का उन्मूलन कर देना चाहिए? यह ठंडे बस्ते में पड़ जायेगा।

12.6 सारांश

निर्माता एवं फुटकर व्यापारी के मध्य की कड़ी को थोक व्यापारी कहते हैं। ये वस्तुओं को उत्पादक से खरीदकर फुटकर व्यापारी को थोड़ी मात्रा में बेचते हैं। थोक व्यापारी वितरण व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण कड़ी होते हैं। वर्तमान परिदृष्य में थोक व्यापारी के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं, वस्तुओं का केन्द्रीयकरण, प्रमापीकरण एवं श्रेणीकरण एवं भौतिक वितरण, वित्तीय सुविधाएँ, भण्डारण एवं साख सुविधाएँ, परिवहन, कीमत में स्थिरता, सूचनाएँ प्रदान करना ।

समाज का एक बड़ा वर्ग इस बात पर विष्वास करता है कि उत्पादक तथा उपभोक्ताओं के बीच थोक व्यापारियों की लम्बी श्रृंखला वस्तु की वितरण लागत बढ़ा देती है, जिसको सीधे उपभोक्ताओं को ही देना पड़ता है। ऐसी स्थिति में एक गम्भीर प्रष्न खड़ा होता है कि क्या वितरण श्रृंखला में थोक व्यापारियों को रखना नितान्त आवष्यक है? अतः इस महत्त्वपूर्ण प्रष्न का उत्तर देने के लिए हमें वितरण श्रृंखला में थोक व्यापारियों के उन्मूलन के पक्ष ओर विपक्ष में दिये गये तर्कों का सावधानीपूर्वक निष्पक्ष रुप से विष्लेषण करना उचित होगा।

12.7 उपयोगी शब्दावली

- **स्वतः विक्रय**– सिक्के से क्रियाषील होने वाली स्वचालित मषीनों द्वारा सामान्य उपभोक्ता वस्तुओं का भिन्न–भिन्न स्थानों पर विक्रय।
- **उपभोक्ता सहकारी भंडार**– उपभोक्ताओं के हिंतो की रक्षा करने हेतु संगठित सहकारी समितियों के सदस्यों द्वारा संचालित फुटकर भंडार।
- **विभागीय भंडार**– बड़े पैमाने की फुटकर व्यापारियों संस्था जिसमें एक ही भवन के अंतर्गत बहुत से विभाग होते हैं और प्रत्येक विभाग एक विषेष प्रकार की वस्तु भेजता है तथा वह स्वयं में एक पूर्ण इकाई होता है।
- **रियायती भंडार**– टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं को रियासती दर पर नियमित रुप से बेचने वाले दीर्घ स्तरीय फुटकर भंडार।
- **चलते–चलते फुटकर व्यापारी**– घर–घर जाकर अथवा कार्य–स्थ्ल बदल–बदल कर अपनी वस्तुएँ बेचने वाले फुटकर व्यापारी।

- **डाक आदेश–गुह**– बड़े पैमाने पर फुटकर व्यापार की एक संस्था जो डाकघर को अपनी वस्तुओं के वितरण का माध्यम बना लेती है और वी.पी.पी. के द्वारा माल बेचती है।
- **फुटकर व्यापारी**– फुटकर व्यापार में व्यस्त वह व्यक्ति अथवा संस्था जो अपना अधिकतर माल सीधे उपभोग के लिए वस्तुओं का विक्रय करती है।
- **फुटकर व्यापार**– वे लेन–देन जिनके माध्यम से सीधे अंतिम उपभोक्ताओं को उनके निजी प्रयोग अथवा उपभाग के लिए वस्तुओं का विक्रय किया जाता है।
- **विशिष्ट वस्तु की दुकानें**– छोटी–छोटी फुटकर दुकानें जो एक अथवा दों विषेष प्रकार की वस्तुओं का विक्रय करती है।
- **सुपर बाजार**– स्वयं सेवा के सिद्धान्त पर अनेक प्रकार की सामान्य उपभोक्ता वस्तुओं का कम मूल्य पर नकद–विक्रय एक ही स्थान से करने वाली फुटकर व्यापारिक–संस्था।
- **थोक व्यापारी**– पुनविर्क्रय एवं लाभ कमाने के उद्देष्य से थोक व्यापार में लगें व्यक्ति अथवा संस्था।
- **थोक व्यापार**– विनिर्माताओं से माल खरीदने तथा फुटकर व्यापारियों को बेचने में निहित लेन–देन।

12.8 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. थोक व्यापारी से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न 2. थोक व्यापारी क कार्यों को बताइए।

प्रश्न 3. थोक व्यापारी समाज को क्या सेवाएं प्रदान करते हैं?

प्रश्न 4. थोक व्यापारी के विभिन्न प्रकारों को बताइ।

प्रश्न 5. थोक व्यापारी और फुटकर व्यापारी में क्या अन्तर है?

प्रश्न 6. ''क्या थोक व्यापारी का उन्मूलन कर देना चाहिए''? इसके पक्ष व विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- डॉ0 पदमाकर अस्थाना (साहित्य भवन) आगर/1994 व्यावसायिक संगठन पूर्णतः संशोधित, परिवर्तित एवं परिमार्जित संस्करण।
- डॉ0 जगदीश प्रकाश (एम0काम, डी0 फिल0) प्रोफेसर, वाणिज्य एवं व्यवसाय प्रशासन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद आधुनिक व्यवसायिक संगठन, 1991
- जी0एल जोशी, जी0 एल शर्मा, एल0एस0सी0 जोशी : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध (दिल्ली : श्री महावीर बुक डिपो, 1988 अध्याय 1, 3)
- डाॅ0 एस0सी0 सक्सेना – व्यापारिक संगठन (बंसल पब्लिशिंग हाउस) ब0पा0ह
- वी0पी0सिंह – व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध का परिचय, इलाहाबाद किताब महल, 1988

B.Com-101

व्यावसायिक संगठन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड – 4

व्यावसायिक संयोजन

इकाई – 13 **173**

व्यावसायिक संयोजन

इकाई – 14 **187**

व्यावसायिक संयोजनों के प्रकार

इकाई – 15 **197**

व्यावसायिक संयोजनों के प्रारूप

इकाई – 16 **209**

व्यवसाय की व्यवहार्यता

PLONE-029

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 अरविन्द कुमार — वाणिज्य संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो0 गीतिका — विभागाध्यक्ष, प्रबन्ध अध्ययन विद्याशाखा एम0एन0आई0टी0 प्रयागराज

प्रो0 एच0के0 सिंह — वाणिज्य संकाय बी0एच0यू0 वाराणसी

डॉ0 ओमजी गुप्ता — निदेशक प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा प्रयागराज

लेखक

डॉ0 दिनेश कुमार — एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग ए0डी0सी0 प्रयागराज विश्वविद्यालय, प्रयागराज उ0प्र0

सम्पादक

प्रो0 एच0 के0 सिंह — वाणिज्य संकाय बी0एच0यू0 वाराणसी

परिमापक

अनुवाद की स्थिति में

मूल लेखक	अनुवाद
मूल सम्पादक	भाषा सम्पादक
मूल परिमापक	परिमापक

सहयोगी टीम

संयोजक

डॉ0 देवेश रंजन त्रिपाठी — सहायक आचार्य, व्यापार प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज.

प्रकाशक

सितम्बर, 2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN-978-93-83328-76-5

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन : उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक : कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2020

मुद्रक- के0सी0 प्रिंटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी , मथुरा- 281003.

खण्ड परिचय

व्यवसायिक संयोजन

व्यावसायिक फर्मों की संख्या में बढ़ोत्तरी होने के कारण उत्पादकों में कड़ी प्रतियोगिता पैदा हुई, जिससे उनके लाभों में कमी आई। इस बात ने उन्हें यह सोचने को विवश कर दिया कि वे अवांछित प्रतियोगिता से बचें और आपसी हितों की रक्षा करें। उनमें से कई उत्पादकों ने दूसरों के साथ अनेक प्रकार से सहयोग करना आरम्भ कर दिया और कई प्रकार के व्यावसायिक संयोजनों का निर्माण किया, जिससे उन्हें एकाधिकार स्थापित करने तथा बाज़ार पर नियंत्रण रखने में सहायता मिली। इस खंड में चार इकाईयाँ हैं, जिसमें ऐसे अनेक कारणों की चर्चा की गई है, जिनके फलस्वरूप व्यावसायिक संयोजनों की स्थापना हुई। इसके साथ ही इसमें व्यावसायिक संयोजनों की लाभ–हानियों तथा ऐसे अनेक रूपों की चर्चा भी की गई है, जिनमें व्यावसायिक इकाइयाँ आमतौर पर अपने कार्यों को सम्मिलित रूप से करती हैं। इसमें व्यावसायिक संयोजनों के प्रारूपों की भी चर्चा की गई है। व्यावसायिक प्रस्तावों की व्यवहार्यता तथा इसके अध्ययन के मूल ढाँचे पर भी विचार किया गया है।

इकाई 13 में व्यावसायिक संयोजनों के अर्थ, उन्हें स्थापित करने के कारणों तथा उनके लाभ और हानियों पर विचार किया गया है। इसमें व्यावसायिक संयोजनों द्वारा एकाधिकार पर नियंत्रण रखने के तरीकों की भी चर्चा की गयी है।

इकाई 14 में व्यावसायिक संयोजनों के विभिन्न प्रकारों तथा उनके आपेक्षित गुणों व सीमाओं का वर्णन किया गया है।

इकाई 15 में व्यावसायिक संयोजनों के विभिन्न प्रारूपों का वर्णन किया गया है।

इकाई 16 में व्यवसाय की व्यवहार्यता के अध्ययन के महत्व तथा व्यवहार्यता के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की गई है।

PLONE-029

PLONE-029

इकाई–13 व्यवसायिक संयोजन

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 व्यावसायिक संयोजन का अर्थ

13.3 व्यावसायिक संयोजनों के कारण

13.4 व्यावसायिक संयोजनों के परिणाम

13.4.1 व्यावसायिक संयोजनों के गुण

13.4.2 व्यावसायिक संयोजनों के दोष

13.5 एकाधिकार का नियंत्रण

13.6 सारांश

13.7 उपयोगी शब्दावली

13.9 महत्वपूण प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप सक्षम होगें:

- व्यावसायिक संयोजन का आशय बताने में,
- व्यावसायिक संयोजनों के निर्माण के कारण बताने में,
- व्यावसायिक संयोजनों के गुण तथा दोष बताने में, एवं
- एकाधिकार के नियंत्रण के उपाय बताने में।

13.1 प्रस्तावना

ब्रिटेन में हुई औद्योगिक क्रान्ति एवं तत्पश्चात प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध के फलस्वरूप कारखानों में बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं विपणन का सिलसिला शुरू हुआ। व्यापार के स्वतंत्र प्रतियोगिता के सिद्धान्त तथा विश्व बाजारों के विकास ने अनगिनत व्यावसायिक फर्मों को बड़े पैमाने के उत्पादन तथा विपणन की ओर आकर्षित किया। इस प्रकार प्रतियोगिता दिन–प्रतिदिन बढ़ती गई। कड़ी प्रतियोगिता के कारण व्यावसायियों का लाभ घटने लगा। अब वे उन उपायों के बारे में सोचने लगे कि कैसे इस अनुचित प्रतियोगिता के बुरे परिणामों से बचा जाय। यह तभी संभव है जब अधिकांश उत्पादन एवं विपणन करने वाली इकाइयां आपस में सहयोग करें। यह

सहयोग ही कालान्तर में व्यावसायिक संयोजन के नाम से जाना गया। समूचे विश्व में व्यावसायिक संयोजन का एक आन्दोलन सा चल पड़ा। इस इकाई में हम व्यवसायिक संयोजन के अर्थ, इसके कारण एवं गुण–दोषों की विवेचना करेंगे। साथ ही हम एकाधिकार के नियंत्रण की भी चर्चा करेंगे।

13.2 व्यवसायिक संयोजन का अर्थ

जब दो या दो से अधिक व्यावसायिक इकाइयां आपस में संयोग करती हैं या मिल जाती हैं तो उसी को हम संयोजन कहते हैं। इस प्रकार, संयोजन का तात्पर्य दो या दो से अधिक व्यावसायिक इकाइयों में प्रतियोगिता समाप्त करके एक साथ संगठित होने से हैं। इसके लिये वे आपस में सम्पूर्ण या आंशिक रूप से स्थायी या अस्थायी तौर पर, पारस्परिक समझौता करके संयोग कर लेते हैं। यह आपसी संयोग प्रतिस्पर्धा समाप्त कर अपनी आर्थिक शक्ति को बढ़ाने के लिये ही विशेष रूप से किया जाता है। जिससे कि वे अपनी सामूहिक शक्ति का उपयोग करके अपने लाभ को अधिकतम कर सकें जो कि अकेले–अकेले, आपसी प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत संभव नहीं है। इससे उनके आकार में भी वृद्धि होती है और इसके फलस्वरूप वे बड़े पैमाने पर उत्पादन व वितरण की मितव्ययितायें भी प्राप्त कर सकते हैं। इससे भी उनकी लागत कम होती है और लाभ में वृद्धि होती है।

कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा संयोजन की निम्नलिखित परिभाषायें दी गई हैं–

एल0एच0 हैने– के शब्दों में, ''संयोजित होने का अर्थ केवल किसी पूर्ण आकार का एक भाग बनाना है और संयोजन का अर्थ कुछ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये व्यक्तियों का एक समूह या वर्ग के रूप में संगठित होना हैं।'' इस परिभाषा में व्यक्तियों के आपस में संयोग पर जोर दिया गया है जो कि किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये आपस में मिलते हैं। वास्तव में व्यावसायिक इकाइयों के संयोग के लिये कुछ व्यक्ति ही प्रयास करते हैं। परन्तु संयोजन तो दो या दो से अधिक व्यावसायिक इकाइयों का ही होता है।

13.3 व्यवसायिक संयोजन के कारण

अभी तक आपने व्यावसायिक संयोजन के आशय तथा अर्थ के बारे में पढ़ा। अब हम आपको उन कारणों से अवगत करायेंगे जिनके फलस्वरूप इस प्रकार के संयोजन होते हैं। व्यावसायिक संयोजन के लिये एक कारण जिम्मेदार नहीं होता। इसके अनेक कारण होते हैं। संक्षेप में निम्नलिखित कारणों को प्रमुख कारण माना जाता है जिनके कारण व्यावसायिक संयोजन होता है :

1. **कटु एवं तीव्र प्रतिस्पर्धा**–संयोजन आन्दोलन का प्रारम्भ वास्तव में तीव्र प्रतिस्पर्धा के भयंकर परिणामों को दूर करने करने के लिये ही हुआ। इसीलिये हैने ने गला–काट प्रतिस्पर्धा को ही संयाजन का स्वाभाविक कारण माना है। जब आपसी प्रतिस्पर्धा इतनी अत्यधिक हो जाती है कि अनेक इकाइयां अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये मूल्य गिराकर युद्ध छेड़ देती हैं तो उसे ही गला–काट प्रतिस्पर्धा कहते हैं। इसके फलस्वरूप केवल आर्थिक रूप से अत्यधिक सुदृढ़ इकाइयाँ ही इसका सामना कर सकती है और अनेक कमजोर इकाइयाँ या सीमान्त इकाइयाँ हानि को सहन न कर पाने से व्यापार को बन्द करने की स्थिति में आ जाती है। जो इकाइयाँ आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होती हैं उनकी लाभ की मात्रा भी अत्यन्त न्यून रह जाती है।

2. **व्यापार चक्र का प्रभाव**– व्यवसाय जगत में समय–समय पर उतार–चढ़ाव आते रहते हैं। कभी तेजी या समृद्धि की अवधि होती है और कभी मन्दी की स्थिति आ जाती है। इस तेजी–मन्दी के चक्र को ही हम व्यापार चक्र कहते हैं। इसके दो प्रमुख अंग है– तेजी या समृद्धि तथा मन्दी या अवसाद। जब तेजी या समृद्धि की स्थिति होती है तब इसका लाभ उठाने के लिये अनेक व्यावसायिक इकाइयाँ, छोटी व बड़ी स्थापित हो जाती है। व्यवसाय में तेजी की स्थिति होने पर या माँग अधिक होने के कारण सभी इकाइयों को कुछ न कुछ लाभ मिलता रहता है। परन्तु जैसे ही यह समृद्धि की स्थिति समाप्त होती है और मन्दी आ जाती है, व्यावसायिक क्रियायें मन्द होती जाती है, माँग घट जाती है और उन्हें हानि होने लगती है। इसी काल में बेरोजगारी भी बढ़ने लगती है।

3. **संरक्षण नीति**– अनेक देश की सरकारें अपने ही देश के उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण प्रदान करने के लिये संरक्षण या प्रशुल्क नीति को अपनाती है। इस नीति के अन्तर्गत विदेशों से आने वाले समान पर या तो रोक लगा दी जाती है या उन पर इतना अधिक कर लगा दिया जाता है कि उनकी बिक्री देश में न हो सके। इस प्रकार इस नीति के अपनाने पर विदेशी प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है। परन्तु इसका परिणाम यह होता है कि विदेशी प्रतिस्पर्धा तो समाप्त हो जाती है परन्तु देश के ही उद्योगों में प्रतिस्पर्धा अत्यधिक हो जाती है। अत्यधिक प्रतिस्पर्धा होने पर विवश होकर उन्हें आपस में संयोग करना पड़ता है।

4. **कम्पनी का अभ्युदय व लोकप्रियता**–ब्रिटेन में हुई औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप कारखाने में उत्पादन का सिलसिला आरंभ हुआ और साथ ही संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी की लोकप्रियता बढ़ी। कम्पनी के लोकप्रिय होने पर संयोजन को भी प्रोत्साहन मिला क्योंकि दो या अधिक कम्पनियों का संयोजन करना आसान है। इसके लिये केवल कम्पनी के अंशों को ही क्रय करना पड़ता है। क्योंकि कम्पनी के अंश हस्तांतरण योग्य होते हैं। संयोजन के फलस्वरूप आकार में वृद्धि होने पर कम्पनी के प्रारूप में कुशलता के साथ प्रबन्धन भी किया जा सकता है। बड़ी सी बड़ी कम्पनी के प्रबन्धन में भी कोई व्यावाहरिक कठिनाई नहीं आती है। साझेदारी संस्थाओं को आपस में मिलाने में कठिनाई होती है। इनकी पूँजी अंशों में विभक्त नहीं होती और न ही हस्तान्तरण योग्य होती है। जब तक सभी साझेदारों की सहमति न हो आपस में संयोजन संभव ही नहीं होता। इस प्रकार, साझेदारी की अपेक्षाकृत कम्पनी की दशा में आपस में सहयोग व संयोजन संभव ही नहीं होता। इस प्रकार, साझेदारी की अपेक्षाकृत कम्पनी की दशा में आपस में सहयोग व संयोजन अधिक सुविधाजनक है। यह ठीक ही कहा गया है कि, ''संयोजन का विकास संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के विकास के साथ निकटता से जुड़ा हुआ है।'' हैने ने भी इसे सुसाध्य कारण बताया है। कम्पनियां प्रबन्धकीय एकीकरण की भी सुविधा प्रदान करके संयोजन को सहज बनाती है। कुछ व्यक्ति कई कम्पनियों का संचालन एक साथ करते हैं जिससे कि प्रबंधकीय एकीकरण होता है। इस प्रकार छोटी कम्पनियों के पचास प्रतिशत से अधिक अंशों को क्रय करके उस पर नियंत्रण आसानी से किया जा सकता है। व्यवहार में इससे भी कम अंशों को लेकर नियंत्रण को प्रभावकारी बनाया जा सकता है। इस प्रकार से कम्पनी के प्रारूप के विकास के साथ–साथ संयोजन को निश्चित ही प्रोत्साहन मिला है।

5. **स्टॉक एक्सचेंज का विकास**—कम्पनी की लोकप्रियता बढ़ने के साथ—साथ इनके अशों के क्रय—विक्रय के लिये स्टाक एक्सचेंज भी विकसित हुए। स्टाक एक्सचेंज के माध्यम से किसी भी कम्पनी के अंशों को आसानी से खरीदा या बेचा जा सकता है। इस प्रकार अंशों के क्रय—विक्रय की सुविधा प्रदान करके, स्टाक एक्सचेंज ने भी संयोजन को प्रोत्साहित किया है। स्टाक एक्सचेंज के माध्यम से ही कम्पनियों के अंशों का मूल्य निर्धारित होते हैं और पता लगता रहता है। अंशों का मूल्य ही कम्पनी की आर्थिक स्थिति को इंगित करता है। यदि अंशों का मूल्य बढ़ता है तो वह कम्पनी की आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता को बताता है और जब उसके मूल्य गिरते हैं तो यह पता लगता है कि कम्पनी की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है। प्रायः सरकार भी अनार्थिक कम्पनियों के संयोजन का प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार स्टॉक एक्सचेंज के विकास से भी कम्पनियों में संयोजन को प्रोत्साहन मिला है।

6. **बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययिता**— प्रायः व्यवहार में यह देखा गया है कि कई इकाइयाँ आपस में सयोजन बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययिता प्राप्त करने के लिए करती है। आधुनिक उत्पादन तकनीक भी आकार को प्रोत्साहित करती है क्योंकि बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के प्रति—इकाई लागत में कमी आती है और लाभ में वृद्धि होती है। अतः छोटी—छोटी इकाइयों का संयोजन कर इकाई के आकार को उस सीमा तक बढ़ाया जा सकता है। जिस सीमा तक इन मितव्ययिताओं का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। ये मितव्ययितायें आन्तरिक व ब्राह्य दोनों ही प्रकार की होती है। सामूहिक रूप से कच्चे माल को सस्ते में क्रय करके उचित मशीनों को लगाकर, वैज्ञानिक प्रबन्धन को अपनाकर, कुशल प्रबन्धकों की सेवाएं प्राप्तकर, विज्ञापन कर, कुशल प्रबन्धकों के नियंत्रण में प्रभावकारी विपणन करके कुशल व दक्ष श्रमिकों की नियुक्ति आदि करके कम से कम लागत पर उत्पादन व वितरण किया जा सकता है और अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। शोध का कार्य तो समुचित विनियोग करके बड़े आकार की इकाइयाँ ही करा सकती है। अतः अनेक छोटी—छोटी व्यावसायिक इकाइयाँ बड़े आकार के संगठन की मितव्ययिताओं का लाभ प्राप्त करने के लिये आपस में संयोग कर लेती है।

7. **नई उत्पादन विधि का लाभ**— आधुनिक उत्पादन टैक्नालाजी का लाभ प्राप्त करने के लिये भी कई छोटी—छोटी इकाइयाँ संयोजन का सहारा लेती है। आजकल उत्पादन की नई प्रविधियाँ तभी अपनाई जा सकती है जबकि व्यावसायिक इकाइयों का आकार बड़ा हो जिससे कि वे आधुनिक मशीनों व उपकरणों पर समुचित विनियोग कर सकें। छोटी इकाइयों का आर्थिक सामर्थ्य इतना नहीं होता कि वे इन आधुनिकतम मशीनों पर धन लगा सकें। भारी उद्योग में भी बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है और इनकी स्थापना व संचालन भी छोटे आकार की इकाइयाँ नहीं कर सकती। अतः उन्हें विवश होकर संयोजन के माध्यम से अपने आकार को बढ़ाना पड़ता है। आजकल, इसी उद्देश्य से सूत्रधारी कम्पनियाँ स्थापित की जा रही है और सूत्रधारी कम्पनी संयोजन का ही एक प्रारूप है। अपने देश में इस्पात, कोयला, सूती वस्त्र आदि उद्योग में सार्वजनिक क्षेत्र में भी इसी उद्देश्य से संयोजन सूत्रधारी कम्पनी की स्थापना करके किया गया है। इंगलैण्ड में भी ब्रिटिश स्टील कार्पोरेशन की स्थापना इसीलिये की गई है। इस प्रकार आधुनिकतम उत्पादन टैक्नालाजी भी बड़े आकार को तथा संयोजन को प्रोत्साहित कर रही है।

8. **विदेशी सहयोगी**—अविकसित देशों में विदेशी सहयोग की संख्या वर्ष—प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है। यह विदेशी सहयोग भी देशी व विदेशी कम्पनियों के बीच संयोजन का ही एक रूप है। विदेशी तकनीक, पूँजी व प्रबन्ध कुशलता का लाभ उठाने के लिये भी एक देश की व्यावसायिक इकाई दूसरे देश की इकाई से संयोग करती है। देश के विकास के लिये इस प्रकार का संयोजन अत्यन्त आवश्यक है, अतः सरकार भी इस प्रकार के संयोजन को प्रोत्साहन देती है। अतः विदेशी तकनीकी जानकारी व पूँजी प्राप्त करने के लिये विदेशी सहयोग करना पड़ता है और कम्पनियों को संयोजित होना पड़ता है।

9. **शक्ति की लालसा**— अनेक कम्पनियाँ किसी विशेष क्षेत्र में अधिकतर व प्रभुत्व स्थापित करने के लिये भी अन्य कम्पनियों से संयोग करती रहती है। शक्ति ग्रहण करने की यह लालसा भी संयोजन का एक प्रमुख कारण रहा है। ऐसी कम्पनियाँ सदैव यह प्रयास करती रहती है कि किस प्रकार से अन्य कम्पनियो से संयोग करके क्षेत्र विशेष में अपना प्रभुत्व, नियन्त्रण व एकाधिकार स्थापित कर लें और अधिकाधिक आर्थिक शक्ति अपने पास रख लें। कुछ कम्पनियां अपना औद्योगिक साम्राज्य स्थापित करने के लिये दूसरी अन्य कम्पनियों से संयोग करती हैं। ऐसी कम्पनियां धीरे—धीरे शक्ति का संग्रहण करके अपना राजनीतिक प्रभुत्व भी स्थापित कर लेती है। ईस्ट इंण्डिया कम्पनी का ज्वलंत उदाहरण तो हमारे देश के सभी निवासियों के सम्मुख रहा है। इस प्रकार अधिक से अधिक धन व शक्ति प्राप्त करने की लालसा से भी सयोजन होता रहा है।

10. **विशालता की पूजा**—व्यवसाय जगत में उन्हीं की प्रतिष्ठा व मान अधिक है जिनका आकार विशाल है। विशालता की पूजा तो सदैव से होती रही है। देश में टाटा, बिड़ला, सिंघानिया या अम्बानी का व्यवसाय—जगत में आदर उनके विशाल आकार के फलस्वरूप ही है। इस प्रकार विशाल आकार के प्रति सम्मान या आदर ने भी व्यावसायियों को संयोजन के प्रति प्रेरणा प्रदान की है। जिससे प्रभावित होकर वे अनेक व्यावसायिक इकाइयों से संयोजन करते हुए अपने आकार को विशाल बनाने में समर्थ हुए हैं। अतः व्यवसाय—जगत में सम्मान प्राप्त करना भी संयोजन का एक कारण रहा है।

11. **विकेन्द्रीकरण**—अनेक देशों में विवेकीकरण को एक आन्दोलन के रूप में अपनाया गया है और इसके माध्यम से देश का तीव्रतर विकास करने का प्रयास किया गया है। विवेकीकरण भी संयोजन का एक प्रमुख कारण रहा है विवेकीकरण की योजना की सफलता ही उद्योग विशेष में कार्यरत इकाइयों में आपसी सहयोग पर निर्भर है इसकी योजना को अन्तर्गत उद्योग विशेष में जो अनार्थिक इकाइयां होती हैं उन्हें आर्थिक इकाइयों से संयोजित कर दिया जाता है। मितव्ययिताओं का लाभ प्राप्त करने के लिये कई छोटी—छोटी इकाइयों का संयोजन करके उन्हें बड़े आकार का बनाने का भी प्रयास किया जाता है। विवेकीकरण का उद्देश्य ही अपव्ययों को न्यूनतम करना है तथा विवेकपूर्ण व वैज्ञानिक ढंग से उत्पादन वितरण व प्रबन्धन करके कार्य—कुशलता में अधिकतम वृद्धि करना है और इसके लिये विवेकीकरण संयोजन का एक प्रबल माध्यम है। इस प्रकार, विवेकीकरण भी संयोजन को प्रोत्साहित करता है।

12. **सरकारी नीति व दबाव**—सरकार की नीति भी संयोजन को प्रायः प्रोत्साहन प्रदान करती है। सरकार की मौद्रिक, औद्योगिक विकास, नियोजन, संरक्षण आदि अनेक नीतियां संयोजन को प्रोत्साहन प्रदान करती है। प्रायः सरकार जनहित में अनार्थिक इकाइयों को आर्थिक इकाइयों में बदलने के लिये उनको

संयोजित होने के लिये विवश करती है। कभी–कभी सरकार स्वयं उन्हें अपने हाथों में लेकर उनका एकीकरण करती है। बीमार सूती मिलों का राष्ट्रीकरण करके सरकार ने उन्हें नेशनल टेक्सटाइल कार्पोरेशन के अधीन रखा है। यह कार्पोरेशन एक सूत्रधारी कम्पनी के रूप में कार्यरत है। इस प्रकार यह संयोजन का एक उदाहरण है जिसके अनुसार सरकार ने राष्ट्रीकरण करके संयोजन को प्रोत्साहित किया है। जर्मनी की सरकार ने वहाँ उत्पादन संघों को प्रोत्साहित किया था जिसके फलस्वरूप संयोजन को प्रोत्साहन मिला था। उसी प्रकार चीनी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये, आरम्भ में सरकार ने मिलों के लिये यह अनिवार्य बना दिया था कि वे शुगर सिडीकेट के सदस्य बने। यह भी सरकार द्वारा संयोजन को प्रोत्साहित करने का उदाहरण है। साथ ही सरकार जनहित में संयोजन को हतोत्साहित भी करती है। जब संयोजित इकाइयां जनता का शोषण करने लगती हैं तब सरकार संयोजन के विरूद्ध नीति अपनाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में वहां की सरकार ने ट्रस्ट के विरूद्ध कानून बना कर संयोजन को हतोत्साहित किया था। हमारे देश में भी एकाधिकारिक प्रवृत्ति को रोकने के लिये सरकार ने अनेक कानून बनाये हैं जो संयोजन के विरूद्ध है।

13. **अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रभुत्व**–प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपना प्रभुत्व व नियन्त्रण स्थापित करने के लिये कई व्यावसायिक इकाइयां आपस में संयोग कर लेती है। अकेले–अकेले ये इकाइयाँ अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं कर पाती है परन्तु संयोजित होकर वे प्रायः अपनी योजना में सफल हो जाती है। अतः वे कई प्रकार से संयोजित व एक–जुट होकर प्रतिस्पर्धा का सामना करने व बाजार में नियंत्रण करने में सफल हो पाती है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रभुत्व व नियंत्रण प्राप्त करने के लिये भी व्यावसायिक इकाइयां संयोजन का सहारा लेती हैं।

14. **युद्ध तथा युद्धकालीन प्रभाव**–जब युद्ध आरंभ हो जाता है तब मांग बढ़ जाती है। और उसकी अपेक्षाकृत पूर्ति कम होती है। इसके फलस्वरूप पूर्ति तथा मूल्य पर नियन्त्रण रखने के लिये संयोजन की आवश्यकता होती है। जब युद्ध समाप्त हो जाता है तो मांग में कमी होती है और मूल्यों में भी गिरावट आती है। फलस्वरूप, अकुशल व सीमान्त इकाइयों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। इस मन्दी के काल में अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये ऐसी इकाइयां संयोजन का सहारा लेती हैं। इस प्रकार युद्ध के दौरान और युद्ध के उपरान्त संयोजन को प्रोत्साहन मिलता है।

15. **पेटेण्ट सम्बन्धी कानून**–पेटेन्ट या एकस्व सम्बन्धी कानून भी प्रत्येक देश में बनाये गये हैं। इस कानून के अन्तर्गत नई मशीन या उपकरण या नई उत्पादन विधि आदि के आविष्कारक को उसका एक मात्र उपयोग करने का अधिकार प्रदान करता है। इससे एकाधिकारी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है जो अन्ततोगत्वा संयोजन को प्रोत्साहित करता है।

16. **यातायात तथा सन्देश**– वाहन के साधनों का विकास–आज प्रत्येक देश में यातायात के साधनों का तीव्रतर विकास हो रहा है। साथ ही सन्देशवाहक के साधनों की भी प्रगति हो रही है। आपस में परस्पर सहयोग की संभावना बढ़ती ही रही है। इन दोनों साधनों के विकास से प्रतिस्पर्द्धा में भी तीव्रता आती है, पर परस्पर सहयोग को सुलभ करके यह साथ ही प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करने के लिये संयोजन को भी प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार इन साधनों के तीव्रतर विकास से भी संयोजन को प्रोत्साहन मिला है।

17. **संगठित क्रेताओं का सामना करने के लिये**—प्रायः क्रेता आपस में संगठित हो जाते हैं और विक्रेताओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास करते हैं। ऐसी स्थिति में विक्रेताओं को भी आपस में संयोजन करके उनका सामना करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार संगठित क्रेताओं का सामना करने के लिये भी व्यावसायिक इकाइयाँ संयोजित होती हैं।

बोध प्रश्न

1. व्यावसायिक संयोजन से क्या तात्पर्य है?

....

....

....

....

2. व्यावसायिक संयोजनों के कारण बताइये?

....

....

....

....

13.4 व्यावसायिक संयोजनों के परिणाम

अब तक हमने व्यावसायिक संयोजनों के बनने के कारणों के संबंध में विचार किया है। अब हम इन संयोजनों के परिणामों पर विचार करेंगे। यह स्पष्ट है कि इनसे अनेक प्रकार के लाभ होते हैं परंतु साथ ही साथ कुछ अवांछनीय प्रभाव भी पड़ते हैं। अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही प्रकार के प्रभावों के संबंध में हम चर्चा करेंगे।

13.4.1 व्यावसायिक संयोजन के लाभ

सयोजन का निर्माण करने वाली इकाइयों को निश्चित रूप से लाभ होते हैं। जैसा कि आप जानते हैं कि व्यावसायिक इकाइयाँ जब आपस में मिल जाती हैं तब संयुक्त संगठन का आकार बड़ा हो जाता है। अतः इनमें से प्रत्येक इकाई को बड़े पैमाने के संगठन को होने वाले लाभों में से कुछ ही प्राप्ति होने लगती है। जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा हैः

1. **प्रतिस्पर्धा का अन्त**—संयोजन का सबसे बड़ा यह लाभ है कि यह कटु, अनुचित व अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा का अन्त कर देता है। प्रतिस्पर्द्धा एक सीमा तक तो लाभप्रद हो सकता है परन्तु उस सीमा के पश्चात यह घातक होने लगता है। वास्तव में संयोजन का आरम्भ ही प्रतिस्पर्द्धा के घातक परिणामों से बचने के लिये किया गया। संयोजन के फलस्वरूप मूल्य कम करने की प्रतिस्पर्द्धा की समस्या का अन्त हो जाता है।

2. **बड़े पैमाने की मितव्ययिता**—संयोजन के फलस्वरूप उत्पादन, वितरण व अन्य कार्य—संचालन का आकार बड़ा हो जाता है। जिससे वस्तुओं के क्रय, उत्पादन,

वित्त व्यवस्था, विज्ञापन, वितरण के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की आन्तरिक व बाह्य मितव्ययितायें प्राप्त हो जाती हैं। इससे उत्पादन व वितरण की लागत में निश्चित ही कमी आती है।

3. **सुदृढ़ प्रबन्ध**–संयोजित इकाइयों की प्रबन्ध व्यवस्था भी सुदृढ़ हो जाती है। संयोजन के साथ–साथ प्रबन्धकीय योग्यता का भी एकीकरण हो जाता है। साधनों में वृद्धि के फलस्वरूप विशेषज्ञों की सेवायें भी आसानी से प्राप्त हो जाती है। योग्य अनुभवी व कुशल प्रबन्धकों की सेवायें आसानी से प्राप्त कर प्रबन्धन में कुशलता लाई जा सकती है।

4. **मांग एवं पूर्ति का उचित सन्तुलन**–संयोजन करने वाली इकाइयों का प्रायः पूर्ति पर नियन्त्रण स्थापित हो जाता है जिससे कि वे मांग के अनुरूप उत्पादन को समायोजित कर अति उत्पादन के संकट से बच सकती है। इससे मूल्यों के उच्चावचन में भी पर्याप्त कमी आती है। ऐसी स्थिति में उत्पादन को मांग के अनुरूप नियन्त्रित करके अनावश्यक संग्रहण की समस्या व लागत का भी अन्त हो जाता है।

5. **साधनों का समुचित उपयोग**–इकाइयों के संयोजन से संसाधनों का भी एकीकरण होता है, साथ ही प्रबन्धकीय एकीकरण भी होता है, जिससे इन संसाधनों का उचित व मितव्ययितापूर्ण विदोहन संभव हो पाता है। यदि बीमार या अकुशल इकाई का कुशल इकाई से संयोजन होता है तो उससे निश्चित ही बीमार इकाई के संसाधनों को बचाया जा सकता है।

6. **उचित किस्म तथा सस्ता माल**–संयोजित इकाइयों में कुशल प्रबन्ध व मितव्ययितापूर्ण कार्य–संचालन होने से लागत में कमी आती है, साथ ही विशिष्टीकरण व श्रम–विभाजन का भी लाभ प्राप्त हो जाता है। इन सबके परिणामस्वरूप, निर्मित माल के किस्म में सुधार होता है। और लागत में कमी होने पर उन्हें उपभोक्ताओं को सस्ते दर पर बेचा जा सकता है।

7. **व्यापार चक्र से सुरक्षा**–व्यावसायिक इकाइयों का संयोजन होने पर व्यापार चक्र के दुष्प्रभावों से भी बचा जा सकता है। एक ओर, संयोजित इकाइयाँ व्यापार चक्र का सामना मिल–जुल कर अधिक आसानी से कर सकती है। दूसरी ओर इनकी वित्तीय स्थिति इतनी सुदृढ़ हो जाती है कि व्यापार चक्र के दुष्प्रभावी का इन पर कम असर पड़ता हैं

8. **सरकारी नीति–कार्यान्वयन में सुविधा**–प्रायः अनेक देशों की सरकारें परिस्थितिवश संयोजन, विवेकीकरण अथवा आधुनिकीकरण आदि सम्बन्धी नीतियां अपनाती हैं। विकासशील देशों में सामाजिक उद्देश्य से अकुशल इकाइयों के संयोजन की नीति भी सरकार अपना सकती है। ऐसी परिस्थिति में इन नीतियों के कार्यान्वयन में ये संयोजित इकाइयां सरकार को समुचित सहायता प्रदान कर सकती हैं। ये सरकारी नियन्त्रण को प्रभावकारी बनाने में भी सरकार का साथ दे सकती है।

9. **शोध की अधिक सम्भावना**–आज प्रत्येक व्यवसाय व उद्योग के लिये शोध व अनुसंधान की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। दिनों दिन कुछ न कुछ आविष्कार व प्रगति हो रही है अतः यह आवश्यक है कि शोध व अनुसंधान की समुचित व्यवस्था की जाय। व्यावसायिक इकाइयां अलग–अलग शोध के व्यय को नहीं उठा पाती परन्तु संयोजित इकाइयाँ शोध के लिये सुदृढ़ संगठन तैयार

कर सकती है और मिलकर इसके लिये पर्याप्त धन व साधन जुटा सकती है। इस प्रकार शोध व अनुसंधान का लाभ ये आसानी से उठा सकती है।

10. **आधुनिक तकनीक का प्रयोग संभव**—आजकल नई—नई उत्पादन तकनीक विकसित हो रही है। परन्तु उनका उपयोग छोटी व कम सामर्थ्य वाली इकाइयाँ नहीं कर सकती हैं। इकाइयाँ संयोजित होकर अपने आकार को बढ़ा सकती है, आवश्यक धन व अन्य साधन जुटा सकती हैं।

13.4.2 व्यवसायिक संयोजनों के दोष

समस्त विश्व में जनता के बीच व्यावसायिक संयोजनों की आलोचना उनकी बुराइयों के कारण की जाती है। आमतौर पर जनता इन्हें एकाधिकार मानती है। सभी संयोजनों के लिए एकाधिकारी होना आवश्यक नही फिर भी अनेक तो इस प्रकार है ही। व्यावसायिक मशीनों की कुछ बुराइयाँ उनके बड़े आकार के कारण होती हैं और कुछ का संबंध वस्तुओं की पूर्ति और कीमतों पर नियंत्रण रखने की उनकी शक्ति के साथ होती है। नीचे व्यावसायिक संयोजनों की बुराइयों के संबंध में विचार किया जाएगा।

1. **प्रवेश पर प्रतिबन्ध**—जब कुछ व्यावसायिक फर्में संयोजन बना कर बाजार पर नियंत्रण करती है। तब नई फर्मों के लिए बाजार में आकर व्यवसाय करना कठिन हो जाता है। नये उद्यमी इन शक्तिशाली संयोजनों के साथ प्रतिस्पर्धा करने से डरते हैं जिसके फलस्वरूप व्यावसायिक संयोजन और भी शक्तिशाली होते जाते हैं।

2. **छोटी फर्मों को नुकसान**—कई शक्तिशाली व्यावसायिक फर्म ऐसे अनेक उपाय कर सकती हैं जिससे बाजार से छोटी फर्मों का लोप हो जाए और उसके हाथ में एकाधिकार शक्ति आ जाए। छोटी फर्मो के पास बड़े संयोजनों के साथ प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति नहीं होती। उदाहरणार्थ, वित्तीय रूप से सशक्त व्यावसायिक संयोजन ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए अपनी वस्तुओं को कम कीमत पर बेच सकती हैं। इससे छोटी फर्मों को क्षति होगी और उन्हें अपना व्यवसाय बंद करना पड़ेगा।

3. **अकुशलता**—कीमतों को ऊँचाा रखने तथा अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से व्यावसायिक संयोजन कभी—कभी जानबूझकर वस्तुओं का उत्पादन कम मात्रा में करते हैं। इससे इनका संयुक्त उत्पादन पूरी क्षमता के साथ नहीं हो पाता और बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ प्राप्त नहीं हो पाते। संयोजन की अन्य लाभकर फर्मों का संरक्षण पाकर कुछ अक्षम और अलाभकर फर्में चलती रहती हैं। प्रतिस्पर्धी बाजार में ऐसा संभव नहीं होता तथा इन फर्मों को बंद करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में इन अक्षम फर्मों को बनाए रखने के लिए उपभोक्ताओं को अधिक कीमत चुकानी पड़ती है।

4. **क्रेताओं का शोषण**—एकाधिकारी संयोजनों के पास बाजार में वस्तुओं की पूर्ति पर नियंत्रण की शक्ति होती है अतः वे इस स्थिति में होते हैं कि वस्तुओं का संग्रह करके तथा उत्पादन पर प्रतिबंध लगाकर इनकी कृत्रिम दुर्लभता की स्थिति ला सकें। जहाँ स्थानापन्न वस्तुएं उपलब्ध होती हैं वहाँ पर तो अनिश्चित समय के लिए ऐसा नहीं चल सकता लेकिन बाजार में यदि ऐसी वस्तुएं आसानी से उपलब्ध नहीं होती तब उपभोक्ताओं को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है।

5. **अति पूँजीकरण**—जिस एकाधिकार में व्यावसायिक इकाइयों का पूर्णतः विलयन हो जाता है उसमें अति पूँजीकरण की स्थिति हो सकती है। इसका अर्थ होता है कि संयोजन के पास अपनी अर्जन क्षमता की तुलना में पूँजी अधिक है और वह अपनी अतिरिक्त पूँजी का उपयोग लाभप्रद रूप से करने में समर्थ नहीं है। अति पूँजीकरण के कारण आय कम हो जाती है। इससे इस संयोजन को तो क्षति होती ही है परन्तु शेयरहोल्डरों तथा समाज को और भी अधिक नुकसान उठाना पड़ता है।

6. **अत्यधिक व्यावसायिक जोखिम**—संयोजन का आकार जितना ही बड़ा होता है उसमें पूँजी लगाने वाले व्यक्तियों को इस संयोजन के अधिकारियों की अक्षमता या बेइमानी, रिज़र्व की कमी या अन्य किसी अनपेक्षित स्थिति के कारण उठ खड़ी होने वाली समस्याओं के कारण उतनी ही अधिक क्षति सहनी पड़ती है। जोखिम का एक अन्य स्रोत होता है अल्पकालिक संयोजनों की अस्थिरता क्योंकि कुछ इकाइयों द्वारा संयोजन को छोड़ देने की स्थिति में इन्हें जबर्दस्त नुकसान उठाना पड़ता है। फिर भी संयोजनों की गतिविधियों को विनियमित करने के लिए कानून बने होते हैं जिससे उनके विस्तार तथा जनहित के खिलाफ उनकी एकाधिकारी शक्ति से संबंधित कार्यों पर नियंत्रण रखा जा सके। भारत में व्यावसायिक संयोजनों के विस्तार तथा प्रतिस्पर्धा पर रोक लगाने वाले उनके कार्यों का विनियमन एकाधिकार और प्रतिबंधित व्यापार अधिनियम के द्वारा होता है।

7. **व्यावसायिक संयोजनों के अनैतिक कार्य**—एकाधिकारी शक्ति वाले बड़े व्यावसायिक संयोजन उत्पादित वस्तुओं के विक्रय और वितरण पर नियंत्रण करने के उद्देश्य से प्रायः अनुचित कार्य करते हैं। व्यापारियों को बाध्य किया जा सकता है कि वे प्रतिस्पर्धी फर्मों की उत्पादित वस्तुओं का क्रय—विक्रय न करें। इस प्रकार प्रतिस्पर्धियों के लिए बाजार सीमित हो जाता है। व्यापारियों को इस बात के लिए भी मजबूर किया जा सकता है कि आसानी से बिकने वाली वस्तुओं के साथ—साथ वे उन वस्तुओं को बेचें जिसे टाइ—अप सेल कहते हैं जो लोकप्रिय नहीं हो पाई है। बड़े व्यावसाय गृह सरकारी कर्मचारियों पर लाइसेंस, परमिट आदि के संबंध में ऐसे निर्णय लेने के बारे में प्रभाव डालते हैं जिससे उनके प्रतिस्पर्धियों को क्षति हो। व्यावसायिक संयोजनों के इस प्रकार के कार्यों से उन्हें तो अनुचित लाभ होता है परन्तु समाज को बहुत क्षति पहुँचती है।

8. **देश की अर्थव्यवस्था में अस्थिरता**—व्यवसाय द्वारा अपनाई गई नीतियों के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में अस्थिरता आ सकती है। उदाहरणार्थ, जिस समय कारोबार की हालत अच्छी होती है उस समय व्यावसायिक संयोजन उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर प्रति इकाई लागत तो घटा लेते हैं परन्तु कीमतों को गिरने नहीं देते। और कारोबार में जितनी वृद्धि होती है उसके अनुसार मजदूरों की मजदूरी नहीं बढ़ने देते। इस प्रकार की नीति के फलस्वरूप कुछ समय में मंदी आ जाती है क्योंकि उत्पादन की मात्रा के अनुसार श्रमिकों की क्रय शक्ति नहीं बढ़ पाती। इसके विपरीत मंदी के समय कीमत तो नहीं घटाई जाती परन्तु कम से कम वस्तुओं को बेचकर क्षति को घटाने का प्रयास किया जाता है। इस नीति के कारण श्रमिकों की छँटनी होती है जिससे कम वस्तुओं की बिक्री हो पाती है। उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति के घटने से वस्तुओं की माँग भी कम हो जाती है। अंत में इसका अनेक प्रकार के उद्योगों पर प्रभाव पड़ता है और चारों ओर मंदी फैल जाती है।

9. **आर्थिक विकास में रूकावट**—व्यावसायिक संयोजन अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिए कभी—कभी आर्थिक प्रगति में बाधा डाल देते हैं। चूंकि उनके पास एकाधिकारी शक्ति होती है अतः उनें नई विधियों और प्रक्रियाओं को विकसित करने या नए प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करने की प्रवृत्ति नहीं होती। अधिक मुनाफा कमाने के लिये वे प्रायः सीमित पूर्ति और अधिक कीमतों का सहारा लेते हैं। कभी—कभी तो वे दूसरी फर्मों की नई प्रक्रियाओं पर केवल इस उद्देश्य से नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं कि ये फर्में बहुत समय तक कार्य न कर सकें और उद्योग की वर्तमान स्थिति में कोई परिवर्तन न आ पाए। इस प्रकार उत्पादन की नई विधियों या नई प्रकार की उत्पादित वस्तुओं के फलस्वरूप होने वाली आर्थिक प्रगति की गति धीमी हो जाती है।

10. **आर्थिक शक्ति का केंद्रीकरण**—व्यावसायिक इकाइयों के संयोजन के फलस्वरूप संपत्ति और आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण कुछ लोगों के हाथ में हो जाता है। संपत्ति और आय के वितरण में इस प्रकार की असमानता के कारण अधिकांश जनता, जो गरीब बनी रहती है, को अपना जीवन स्तर सुधारने का अवसर नहीं मिल पाता। आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण के फलस्वरूप बड़े—बड़े व्यवसायों के मालिक राजनीतिक शक्ति पर भी नियंत्रण कर लेते हैं। सरकारी नीतियों को बनाते समय आम जनता की अपेक्षा धनवान लोगों के हित को अधिक ध्यान में रखा जाता है।

11. **एकाधिकरण के दोष**—बड़े पैमाने पर संचालन के आर्थिक लाभ तथा पूर्ति और कीमतों पर नियंत्रण के लाभ के फलस्वरूप एकाधिकारी संगठन का आकार तो बढ़ सकता है परन्तु इस बढ़े हुए आकार का कुशलतापूर्वक संचालन का काम कभी—कभी प्रबंधकों की क्षमता के बाहर हो जाता है। बहुत बड़ा आकार हो जाने के कारण संगठन के अपरिवर्तनशील हो जाने का भी खतरा बना रहता है। अतः एकाधिकार के लिए संभव नहीं हो पाता कि वह बदलती हुई स्थितियों के अनुसार अपने संचालन कार्यों में भी परिवर्तन लाए। विभिन्न फर्मों के संयोग से बने एकाधिकार के साथ लाल फीताशाही की भी समस्या बनी रहती है, अर्थात कागजी कार्यवाही की अधिकता होने के कारण नीति निर्धारण का कार्य धीमा पड़ जाता हैं।

13.5 एकाधिकार का नियंत्रण

ऊपर हमने देखा है कि एकाधिकारी संयोजनों के कारण संपत्ति और आय के वितरण में असमानता आती है तथा आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों का संकेन्द्रण होता है। ऐसा होना सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अवांछनीय होता है, विशेषतः विकासोन्मुख देशों में इस प्रकार राष्ट्रीय संसाधनों का उपयोग जनसंख्या के एक छोटे से भाग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है जबकि देश की अधिकांश जनता आय की कमी और गरीबी का शिकार बनी रहती है। अतः आवश्यक हो जाता हे कि एकाधिकार और व्यावसायिक संयोजनों की वृद्धि को रोकने से संबंधित कदम उठाए जाएँ। यहाँ व्यावसायिक संयोजनों की वृद्धि पर नियंत्रण संबंधी किए गए कुछ उपायों के बारे में चर्चा की गई है।

1. **एकाधिकार—विरोधी कानूनी प्रावधान**—व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में एकाधिकार पर निषेध और प्रतिबंध के लिए अनेक देशों मे कानून बनाए गए हैं। इसी उद्देश्य से भारत में सन् 1969 में एकाधिकार और प्रतिबंधित व्यापार अधिनियम बनाया गया। इसकी व्यवस्थाओं के अंतर्गत बड़े औद्योगिक उद्यमों के

लिए आवश्यक है कि अपने कारोबार के विस्तार के लिए वर्तमान प्लांटों में या नए प्लांटों की स्थापना में अतिरिक्त पूँजी लगाने से पहले वे सरकार से अनुमति थे। प्रतिस्पर्धा को रोकने वाली व्यापार प्रथाएं तथा गुमराह करने वाले विज्ञापनों जैसी अनुचित व्यापार प्रथाएं इस अधिनियम के अधीन सरकार द्वारा विनियमित होती है।

2. **समुचित प्रतियोगिता को बनाये रखना**—व्यावसाय संयोजनों या एकाधिकारों पर नियंत्रण के लिए एकाधिकार विरोधी कानून ही काफी नहीं होते। अतः ऐसे भी उपाय करने होते हैं जिससे उचित प्रतिस्पर्धा बनी रहे तथा व्यापार की अनुचित विधियों पर रोक लगे। लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकारी सहायता तथा सरकार द्वारा उचित दर की दुकानों की स्थापना ऐसे उपायों के कुछ उदाहरण हैं।

3. **क्रेता संघ**—प्रायः सुझाव दिया जाता है कि क्रेताओं के संघ बनाए जाएँ जिससे एकाधिकारी शक्तियों की बुराइयों और उनके शोषण से क्रेताओं के हितों की रक्षा की जा सके। परन्तु इस सुझाव को व्यावहारिक रूप देना कठिन कार्य है क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए उपभोक्ताओं के बीच एकता स्थापित करना और शक्तिशाली व्यवसाय गृहों के विरोध में उनका संघ बनाना दुष्कर कार्य है।

4. **एकाधिकारियों के अनुचित कार्यों का प्रचार प्रसार**—बहुत से लोग यह भी सुझाव देते हैं कि एकाधिकारियों के अनुचित कार्यों का प्रचार किया जाए, जिससे जनता जागरूक बनी रहे। यह उपाय अपने आप में तो पर्याप्त नहीं है फिर भी हानिकर प्रथाओं पर नियंत्रण रखने में इससे बहुत कुछ मदद मिल सकती है।

5. **आर्थिक सहायता**—एकाधिकारी संगठनों द्वारा ली जाने वाली कीमतों पर नियंत्रण के लिए कर और आर्थिक सहायता प्रणाली का उपयोग किया जा सकता है। सरकार को चाहिए कि वह प्रतिस्पर्धी कीमत के बराबर ही बाजार की अधिकतम कीमत निश्चित कर दे तथा एकाधिकारी संगठनों को आर्थिक सहायता दें, जिससे वे एकाधिकारी और अधिकतम कीमतों के बीच के अंतर से होने वाली अपनी क्षति की पूर्ति कर सकें। फिर इन सभी संगठनों पर सामान्य कर लगाकर आर्थिक सहायता की राशि को वापस लिया जा सकता है। इन संगठनों के साथ यह शर्त जोड़ दी जाए कि यदि उन्हें उत्पादन करते रहना है तो इस प्रकार का कर देना होगा।

6. **एकाधिकार की मूल आधार पर प्रहार**—ऊपर सुझाए गए उपायों का उपयोग सभी समयों में और सभी स्थानों पर एक समान नहीं किया जा सकता। यदि उपयोग किया भी जाता है तो वे व्यावसायिक संयोजनों की बुराइयों पर नियंत्रण रखने में सफल हो भी सकते हैं या नहीं थी। अतः ऐसी स्थितियों को लाना आवश्यक है जो प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन दें। जहां भी आवश्यक हो वहां वस्तुओं के गुणवत्ता मानक निर्धारित होने चाहिए। उपभोक्ताओं को शिक्षित किया जाना चाहिए ताकि वे अपने अधिकारों के प्रति सजग रहें और भष्टाचार के खिलाफ कानूनी कार्यवाही कर सकें।

बोध प्रश्न

1. व्यावसायिक संयोजनों के लाभ बताइये।

....

....

....

....

2. व्यावसायिक संयोजनों की बुराइयाँ बताइये।

....

....

....

13.6 सारांश

सम्पूर्ण विश्व में बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के फलस्वरूप तीव्र प्रतियोगिता तथा संयुक्त पूंजी कम्पनी के रूप मे संगठन आदि का विकास हुआ। इनके कारण एक ओर तो भाँति–भाँति के अवसर मिले और दूसरी ओर इनसे व्यावसायिक संगठनों के अस्तित्व और उनकी संवृद्धि को खतरा उत्पन्न हो गया। इन समस्याओं के समाधान के उपाय के रूप में व्यावसायिक संयोजनों का जन्म हुआ।

जब एक ही प्रकार के या विभिन्न प्रकार के व्यवसाय कार्य में लगी दो या उससे अधिक फर्में पारस्परिक लाभ के लिए एक साथ मिल जाती हैं तब कहा जाता हे कि उन्होंने व्यावसायिक संयोजन बना लिया है। जिन विशेष कारणों से व्यावसायिक संयोजन बनते हैं वे हैं तीव्र प्रतियोगिता, बड़े पैमाने पर संचालन के लाभ, संयुक्त स्टाक कंपनी के रूप में संगठन की लोकप्रियता बाजार पर नियंत्रण, व्यक्तिगत योग्यता, शक्ति की लालसा, व्यवसाय चक्र, संरक्षण टैरिफ, प्रबंधकीय प्रतिभा की कमी, पेटेन्ट नियम, स्वावलंबन की इच्छा, युक्तीकरण, परिवहन तथा संचार में विकास, आदि।

प्रायः व्यावसायिक संयोजनों के परिणाम अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही प्रकार के होते हैं। अनुकूल परिणाम एक ओर तो इनके बड़े आकार से होने वाले लाभ के कारण और दूसरी ओर इनकी एकाधिकारी शक्ति के फलस्वरूप होते हैं। बड़े आकार के विशिष्ट लाभ हैं– उत्पादन में किफ़ायतें, अधिक पूँजी की प्राप्ति, थोक खरीद, विपणन और प्रबंध में किफ़ायते। एकाधिकारी शक्ति से होने वाले लाभ हैं– घातक प्रतियोगिता से बचाव, स्थायित्व, व्यवसाय चक्र की तीव्रता में कमी, युक्तीकरण, निपुणता का सामूहिक लाभ तथा आशावादिता व्यावसायिक संयोजन की बुराइयाँ हैं– अदक्षता, छोटी व्यावसायिक इकाइयों पर रोक, प्रतिबंधित प्रवेश, उपभोक्ताओं के खिलाफ़ षडयन्त्र, अति पूँजीकरण, अनुचित कार्य, आर्थिक प्रगति पर रोक तथा आर्थिक शक्ति का संकेंद्रण।

अतः व्यावसायिक संयोजनों की उपर्युक्त बुराइयों के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि इन संयोजनों के एकाधिकारी स्वरूप का निम्नलिखित उपायों द्वारा नियंत्रण और विनियमन किया जाए। ये उपाय हैं एकाधिकार विरोधी कानून बनाना, उचित प्रतिस्पर्धा को बनाए रखना क्रेताओं और उपभोक्ताओं के संघ बनाना, अवांछनीय कार्यों का प्रचार करना, एकाधिकारों के खिलाफ राजकोषीय उपाय करना तथा उपभोक्ताओं और जनता को शिक्षित करना।

13.7 उपयोगी शब्दावली

- **व्यावसायिक संयोजन (Business Combination):** व्यावसायिक इकाइयों का पारस्परिक लाभ के लिए इस उद्देश्य से आपस में मिल जाना कि उन्हें बड़े पैमाने के सुलभ या एकाधिकारी शक्ति प्राप्त हो सके।
- **व्यापार चक्र (Business Cycle):** उत्पादन, रोजगार, आय, कीमतों आदि में उतार–चढ़ाव। इसकी विशेषता नियमित रूप से उपर्युक्त का नीचे–ऊपर होते रहना है, जिसे आमतौर पर तेजी और मंदी की संज्ञा दी जाती है।
- **एकाधिकार (Monopoly):** पूर्ति पर पूर्ण नियंत्रण की स्थिति, जिसके फलस्वरूप कीमत पर भी नियंत्रण रहता है।
- **अनुकूलतम फर्म (Optimum firm):** किसी फर्म के संतुलन में होने की स्थिति, जब उसे न्यूनतम लागत और अधिकतम आय होती है।
- **अति पूँजीकरण (Over capitalisation):** किसी उद्यम द्वारा पूंजी निवेश की वह स्थिति जब निवेश की मात्रा के अनुपात में आय कम होती है।
- **सहायकी (Subsidies):** उत्पादकों को सरकार द्वारा दी गई वित्तीय सहायता जिससे वे अपनी क्षति की आंशिक या पूर्णतः पूर्ति कर सकें।

13.8 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. व्यावसायिक संयोजन क्या है? समझाइये।

प्रश्न 2. व्यावसायिक संयोजनों के कारणों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3. व्यावसायिक संयोजनों के गुण–दोषों की चर्चा कीजिए।

प्रश्न 4. ''एकाधिकार को लाकर व्यावसायिक संयोजन, उपभोक्ताओं के हितों को क्षति पहुँचाते हैं।'' ''वस्तुओं और सेवाओं की उत्पादन लागतों को कम करके व्यावसायिक संयोजन उपभोक्ताओं को उनका विक्रय कम कीमत पर करते हैं।'' इन दो वक्तव्यों के बीच सामंजस्य स्थापित कीजिए।

प्रश्न 5. बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ और एकाधिकारी नियंत्रण के लाभ को बताइये।

प्रश्न 6. एकाधिकार पर नियंत्रण के उपाय बताइये।

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- जगदीश प्रकाश : आधुनिक व्यावसायिक संगठन, प्रयाग पुस्तक भवन, 1986
- पदमाकर अष्थाना : व्यावसायिक संगठन, प्रबन्ध एवं प्रशासन, साहित्य भवन, 1985
- यदुकुल भूषण एवं ओ0पी0 अग्रवाल : व्यावसायिक संगठन के सिद्धान्त, सुल्तान चंद एंड संस, 1988।
- जी0एल0 जोशी, जी0एल0 शर्मा, एवं एस0सी0 जोशी, व्यावसायिक संगठन, : श्री महावीर बुक डिपो, 1985
- आर0सी0 अग्रवाल : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध, किताब महल, 1986

इकाई–14 व्यवसायिक संयोजन के प्रकार

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 व्यावसायिक संयोजन के प्रकार

14.2.1 क्षैतिज संयोजन

14.2.2 शीर्ष संयोजन

14.2.3 पाश्व संयोजन

14.2.4 चक्रीय संयोजन

14.2.5 विकर्णीय संयोजन

14.3 सारांश

14.4 उपयोगी शब्दावली

14.5 महत्वपूर्ण प्रश्न

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के पढ़ने के बाद आप सक्षम होंगेः

- विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक संयोजनों का आशय बताने में,
- विभिन्न प्रकार के संयोजनों के प्रमुख उद्देश्यों को बताने में,
- विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक संयोजनों के बीच अंतर बताने में, एवं
- प्रत्येक प्रकार के संयोजन के गुण और दोषों को बताने में।

14.1 प्रस्तावना

इकाई 13 में आपने व्यावसायिक संयोजन के अर्थ, संयोजनों के बनने के कारणों, इनके गुण–दोषों और संयोजनों की एकाधिकारी शक्तियों पर नियंत्रण के उपायों के बारे में पढ़ा। इस इकाई में व्यावसायिक संयोजनों के विभिन्न प्रकारों, और उनके गुणों और दोषों के संबंध में चर्चा करेंगे।

14.2 व्यावसायिक संयोजनों के प्रकार

व्यवहार में व्यावसायिक इकाईयों में संयोजन कई प्रकार से हो सकता है। उनकी प्रकृति के अनुसार संयोजन निम्नलिखित पॉच प्रकार के हो सकते हैं–

1. क्षैतिज संयोजन (Horizontal Combination)
2. शीर्ष संयोजन (Vertical Combination)
3. पार्श्व संयोजन (Lateral Combination)
4. चक्रीय संयोजन (Circular Combination)
5. विकर्णीय संयोजन (Diagnal Combination)

14.2.1 क्षैतिज संयोजन

इसे समतल संयोजन के नाम से भी जाना जाता है।एक ही उद्योग या व्यवसाय में लगी तथा एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन करने वाली या समान व्यापार करने वाली दो या दो से अधिक इकाइयाँ जब आपस में संयोग करती हैं तो उसे क्षैतिज, समतल, समानान्तर या व्यापारिक संयोजन कहते हैं। संयोग करने वाली इकाइयों की प्रकृति एक समान होती है और एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करने वाली होती है। इस प्रकार के संयोजन का प्रमुख उद्देश्य आपसी प्रतिस्पर्द्धा का अन्त करना होता है। उदाहरण के लिये यदि दो या दो से अधिक चीनी या कागज या इस्पात के कारखाने आपस में संयोग करते हं तो उसे ही क्षैतिज संयोजन कहते हैं। भारत में स प्रकार के क्षैतिज संयोजन के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। एसोसियेटेड सीमेण्ट कम्पनी भारतीय जूट मिल संघ, भारतीय चीनी मिल संघ आदि इस प्रकार के संयोजन के प्रमुख उदाहरण हैं।

क्षैतिज या समतल संयोजन को चित्र संख्या 14.1 द्वारा भी समझा जा सकता है। इस प्रकार यदि चार जूट मिलें आपस में संयोग करती हैं तो उसे क्षैतिज या समतल संयाजन कहेंगे।

क्षैतिज संयोजन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है :

1. आपसी प्रतिस्पर्द्धा का अन्त करना।
2. बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययिता का लाभ प्राप्त करना।
3. न्यूनतम लागत पर उत्पादन करना।
4. पूर्ति का नियन्त्रण करके मांग व पूर्ति में सामंजस्य स्थापित करना।
5. उद्योग में एकाधिकार प्राप्त करना।
6. शोध के लिये सामूहिक व्यवस्था करना

चित्र संख्या 14.1

क्षैतिज / समतल

जूट फैक्टरी क	जूट फैक्टरी ख	जूट फैक्टरी ग	जूट फैक्टरी घ	⟶ बाजार

लाभ

क्षैतिज / समतल संयोजन के मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं:–

1. **अनुचित प्रतिस्पर्धा को दूर करता है**: यह उद्योग में फर्मों के बीच की व्यर्थ प्रतिस्पर्धा को दूर करता है

2. **बड़े पैमाने की किफायतें**: बड़े पैमाने के उत्पादन और वितरण से होने वाली किफायतों में यह सहायक होता है।

3. **पूर्ति पर नियंत्रण**: उत्पादित वस्तुओं की पूर्ति और उनकी कीमत को नियंत्रित करने में यह संयोजित व्यवसाय की सहायता करता है।

दोष

क्षैतिज/समतल संयोजन में निम्नलिखित दोष हो सकते हैं:

1. **एकाधिकार लाना है**: इसके फलस्वरूप एकाधिकार की स्थिति आती है जो ग्राहकों के लिए हानिकारक है।

2. **ग्राहकों का शोषण**: उत्पादन पर प्रतिबंध लग सकता है तथा अधिक कीमतों के द्वारा ग्राहक का शोषण हो सकता है।

3. **आर्थिक शक्ति का संकेंद्रण**: इससे आर्थिक शक्ति का संकेद्रण होता है जो समाज के लिए हानिकारक है।

14.2.2 शीर्ष या लम्बवत संयोजन

(Vertical Combination)

इस प्रकार के संयोजन को उद्योग संयोजन, प्रक्रिया संयोजन या अनवर्ती या क्रमिक संयोजन शीर्ष संयोजन के नाम से भी जाना जाता है। शीर्ष संयोजन के अन्तर्गत एक ही उद्योग की ऐसी कई इकाइयों में संयोजन होता है जो उत्पादकों की विभिन्न प्रक्रियाओं या अवस्थाओं में क्रमानुसार लगी होती है। राबिन्सन के अनुसार, एक ही उद्योग की क्रमागत क्रियाओं का सम्पन्न करने वाली इकाइयों का संयोजन शीर्ष या लम्बवत संयोजन कहलाता है। ऐसा संयोजन उन उद्योगों में होता है जिनमें कच्चा माल कई प्रक्रियाओं से गुजरता है और अन्त में निर्मित माल के रूप में तैयार होता है इसीलिये ऐसे संयोजन को उद्योग संयोजन भी कहते हैं। चीनी उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, कागज उद्योग, तेल उद्योग आदि में इस प्रकार का संयोजन अधिक पाया जाता है।

शीर्ष या लम्बवत संयोजन भी दो प्रकार का हो सकता है। 1. अग्रगामी संयोजन तथा प्रतिगामी संयोजन अग्रगामी संयोजन तब कहलाता है जब उत्पादन करने वाली संस्था उस वस्तु की बिक्री करने वाली संस्था से संयोजन करती है। उदाहरण के लिये तेल शोधन कारखाना तेल की विक्रय भण्डार से संयोजन करे तो वह अग्रगामी संयोजन कहलायेगा। इस प्रकार के संयोजन का उद्देश्य मध्यस्थों को समाप्त कर उनके लाभ को स्वयं प्राप्त करना या उपभोक्ताओं को सस्ते दर पर माल प्रदान करना हो सकता है।

प्रतिगामी संयोजन तब होता है जब कच्चा माल बनाने वाली इकाई या इसके कच्चे माल से निर्मित माल बनाने वाली इकाई के साथ संयोजन किया जाता है। उदाहरण के लिये, जब कागज का उत्पादन करने वाली इकाई का लुग्दी बनाने वाली इकाई से संयोजन होगा तो उसे प्रतिगामी संयोजन कहते हैं।

चित्र 14.2

शीर्ष संयोजन

क कपास की खेती का फार्म
ख सूत बनाने वाली मिलें
ग वस्त्र बनाने वाली मिलें
घ रेडीमेड कपड़े बनाने वाली मिलें

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि संयोजन करने वाली सभी इकाइयाँ सूती वस्त्र उद्योग से ही सम्बद्ध हैं और वे सूती वस्त्र तथा सिले–सिलाये कपड़े के उत्पादन के लिये विभिन्न अवस्थाओं में क्रमानुसार लगी हुई है। ये चारों इकाइयां अलग–अलग उत्पादन करती हैं, परन्तु संयोजन के पश्चात वे सब एक–साथ हो जाती हैं।

शीर्ष संयोजन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. समस्त उतपादन प्रक्रियाओं का एकीकरण करना।
2. कच्चे माल की प्राप्ति के सम्बन्ध में समस्याओं को समाप्त करना।
3. माल की बिक्री की अनिश्चितता दूर करना।
4. मध्यस्थों के लाभ को समाप्त करना।
5. उत्पादित वस्तु की किस्म व पूर्ति पर नियंत्रण करना।
6. उत्पादन व वितरण कम से कम लागत पर करना।

निम्नलिखित विशेषताओं वाले उद्योगों के लिए शीर्ष संयोजन उपयुक्त होता है:

1. जहाँ एक फर्म का तैयार माल दूसरी फर्म के लिए कच्चा माल होता है।
2. जहाँ एक फर्म की प्रक्रिया दूसरी फर्म के लिए पूरक होती है।
3. जहाँ संतुलित उत्पादन महत्वपूर्ण होता है, जैसे कपड़े की कताई और बुनाई।
4. जहाँ पर तैयार माल के गुणवत्ता मानक ुनंसपजल `जंदकंतकद्ध को बनाए रखने के लिए कच्चे माल पर नियंत्रण रखना आवश्यक होता है जैसा कि चीनी उद्योग में होता है।

लाभ

शीर्ष संयोजन के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :

1. **दूसरों पर निर्भरता को घटाना:** इससे दूसरों पर निर्भरता कम होती है और स्वावलंबी होने में सहायता मिलती है।
2. **बिचौलियों के लाभ को घटाना:** यह बिचौलियों के लाभ को खत्म करता है जिससे उत्पादन लागत घटती है।

3. **सुस्थिर उत्पादनः** कच्चे माल की नियमित रूप से पूर्ति और व्यवस्थित रूप से विक्रय के फलस्वरूप उत्पादन कार्य सुस्थिर ढंग से चलता रहता है।

4. **लागतों की किफायतें:** वस्तुओं के भंडारण, परिवहन तथा उतारने–चढ़ाने के संबंध में किफ़ायतें होती हैं।

दोष

शीर्ष संयोजन के निम्नलिखित दोष हैः

1. **प्रतिस्पर्धा को दूर न कर पानाः** यह प्रतिस्पर्धा को दूर नहीं कर पाता, जिसे समस्तर एकीकरण कर पाता है।

2. **अनियंत्रणीय आकारः** व्यवसाय का आकार इतना अधिक बढ़ सकता है कि उसे कुशलता पूर्वक चलाया न जा सके।

3. **परस्पर निर्भरता की जटिलताएं:** चूंकि विभिन्न उत्पादन या इकाइयाँ एक दूसरे पर निर्भर होती हैं अतः किसी एक इकाई में थोड़ी सी भी गड़बड़ी होने से समस्त उत्पादन प्रणाली अस्त–व्यस्त हो जाती है।

4. **आर्थिक शक्ति का संकेंद्रणः** इससे आर्थिक शक्ति का संकेंद्रण होता है।

14.2.3 पार्श्व संयोजन

इसे सहायक उद्योग या सहबद्ध संयोजन भी कहते हैं। जब दो या दो से अधिक इकाइयों जो अलग–अलग उद्योगों से सम्बन्धित हों और भिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन कर रही हो परन्तु एक दूसरे से सम्बन्धित हों, आपस में संयोजन करती हैं, तो उसे पर्श्व या सम्बद्ध संयोजन कहते हैं। उदाहरण के लिये, लोहा व इस्पात उद्योग का कारखाना इंजीनियरिंग उद्योग के मशीन बनाने के कारखाने से संयोग करें तो पार्श्व संयोजन कहेंगे।

पार्श्व संयोजन दो प्रकार का हो सकता है– 1. अन्तर्मुखी पार्श्व संयोजन या 2. बहिर्मुखी पार्श्व संयोजन।

1. **अर्न्तमुखी पार्श्व संयोजन**–इसे केन्द्रीय पार्श्व संयोजन भी कहते हैं। अन्तर्मुखी संयोजन के अन्तर्गत मुख्य औद्योगिक इकाई के साथ उन सहयोगी इकाइयों का संयोग होता है जो उस इकाई को विभिन्न प्रकार का कच्चा माल प्रदान करती हो। अलग–अलग औद्योगिक इकाइयों के द्वारा अलग–अलग वस्तुयें निर्मित की जा रही है और वे सभी एक औद्योगिक इकाई के द्वारा कच्चे माल के रूप में प्रयोग में लाई जाती है। ऐसे इकाइयों के संयोजन को ही अन्तर्मुखी या केन्द्रीय पार्श्व संयोजन कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि कागज बनाने का कारखाना, छपाई मशीन बनाने का कारखाना, स्याही बनाने का कारखाना, टाइप बनाने का कारखाना छपाई के प्रेस से संयोग करता है तो उसे अन्तर्मुखी पार्श्व संयोजन कहेंगे। ये सभी इकाइयां अलग–अलग उद्योग में होते हुए भी एक दूसरे से सम्बन्धित है।

2. **बहिर्मुखी पार्श्व संयोजन**–बहिर्मुखी पार्श्व संयोजन अन्तर्मुखी पार्श्व संयोजन के विपरीत होता है। इसका तात्पर्य उस संयोजन से है जिसमें प्रमुख औद्योगिक इकाई अपनी उन सम्बन्धित व सहयोगी इकाइयों से संयोग करता है। जो उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का प्रयोग कच्चे माल के रूप में करती है। उदाहरण के लिये चमड़ा का उत्पादन करने वाली इकाइयों के साथ जूते,

सूटकेस व बेल्ट बनाने वाली इकाइयों का संयोजन हो या इस्पात के कारखाने का संयोग, इस्पात प्रयोग करने वाली मशीनरी, इंजन तथा मोटर बनाने वाले कारखानों के साथ हो तो उसे बर्हिमुखी पार्श्व संयोजन कहेंगे।

इसका दूसरा उदाहरण है स्याही, कागज, टाइप, कार्ड बोर्ड, मुद्रण मशीनें आदि को बनाने वाली इकाइयों के साथ किसी मुद्रणालय का एकीकरण। अर्न्तमुखी पार्श्व संयोजन को समझने के लिए चित्र 14.3 देखिए।

चित्र 14.3

अर्न्तमुखी पार्श्व संयोजन

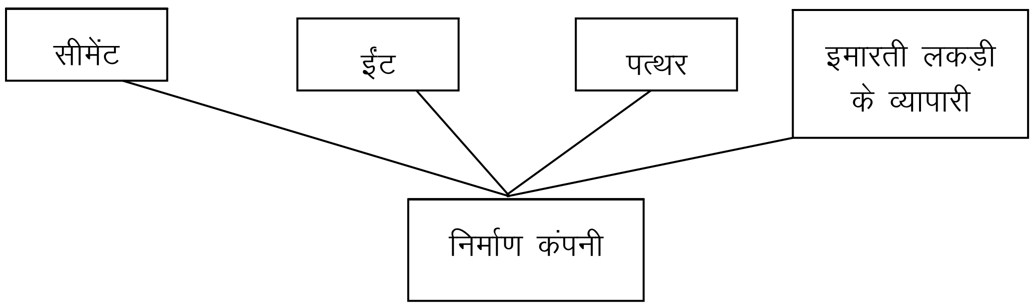

उदाहरणार्थ, यदि किसी आटा मिल का संयोजन बेकरी, मिठाई की दुकान तथा होटल के साथ हो जाता है तब इसे अपसारी पार्श्विक संयोजन कहा जाता है। जूते, सूटकेस, हैंड बैग, फैन्सी वस्तुएं आदि बनाने वाली इकाइयों के साथ चर्म प्रक्रमण ;स्मंजीमत चतवबमेपदहद्ध इकाई का संयोजन इसका दूसरा उदाहरण है। बर्हिमुखी पार्श्व संयोजन के उदाहरण के लिए चित्र 14.4 देखें।

चित्र 14.4

बर्हिमुखी पार्श्व संयोजन

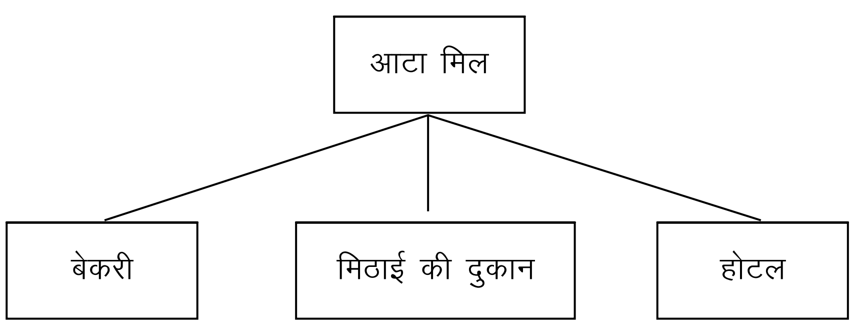

14.2.4 चक्रीय संयोजन

इस प्रकार के संयोजन को मिश्रित या पूरक संयोजन भी कहते हैं। जब किसी एक केन्द्रीय संगठन के अधीन अनेक प्रकार की व्यावसायिक इकाइयां संचालित की जाती है तो उसे चक्रीय संयोजन कहते हैं। इसे मिश्रित संयोजन भी कहते हैं क्योंकि इस संयोजन में सम्मिलित इकाइयां भिन्न–भिन्न उद्योगों से सम्बद्ध होती है। वास्तव में, इस प्रकार का संयोजन प्राकृतिक रूप से स्वमेव होता है और इसके लिये कोई विशेष

प्रयास निहीं किया जाता है। कोई व्यावसायिक घराना नई–नई मिलें स्थापित करता चला जाता है और उनको सबको केवल एक केन्द्रीय नियंत्रण में ही रखता है तो चक्रीय संयोजन स्वयं हो जाता है। टाटा, बिरला, डी0सी0एम0 आदि व्यावसायिक गृह इसके उदाहरण हैं।

14.2.5 विकर्णीय संयोजन

किसी क्रिया या प्रक्रिया के मुख्य क्षेत्र में कार्यरत किसी फर्म का उन इकाइयों के साथ एकीकरण जो आवश्यक अनुषंगी क्रियाएं या सेवाएँ करती हैं। इस प्रकार विकर्णी संयोजन की स्थिति में मुख्य इकाई का संयोजन उन इकाइयों के साथ होता है जो कुछ ऐसी अनुषंगी वस्तुओं या सेवाओं की पूर्ति करती हैं जो मुख्य इकाई को सुचारू और निर्विघ्न रूप से चलाने के लिए आवश्यक होती हैं। इस प्रकार मुख्य इकाई के लिए आवश्यक वस्तुएँ तथा सेवाएँ उस संगठन के अंतर्गत ही उपलब्ध हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, मोटर गाड़ी बनाने वाली किसी कंपनी का कार की सीटें, स्टीयरिंग, टायर, पावर जेनरेशन आदि बनाने वाली अन्य इकाइयों के साथ एकीकरण। विकर्णीय एकीकरण का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि मुख्य इकाई के अविराम प्रचालन के लिए आवश्यक अनुषंगी सेवाओं को सुचारू रूप से और समय पर उपलब्ध कराया जा सके। इस प्रकार मुख्य इकाई स्वावलंबी भी हो सकती है और उसे अनुषंगी सेवाओं के लिए बाहरी स्रोतों पर निर्भर नहीं होना पड़ता।

नीचे प्रस्तुत चित्र 14.5 में व्यावसायिक संयोजनों के विभिन्न प्रकार संक्षेप में दिए गए हैं।

चित्र 14.5

व्यावसायिक संयोजनों के प्रकार

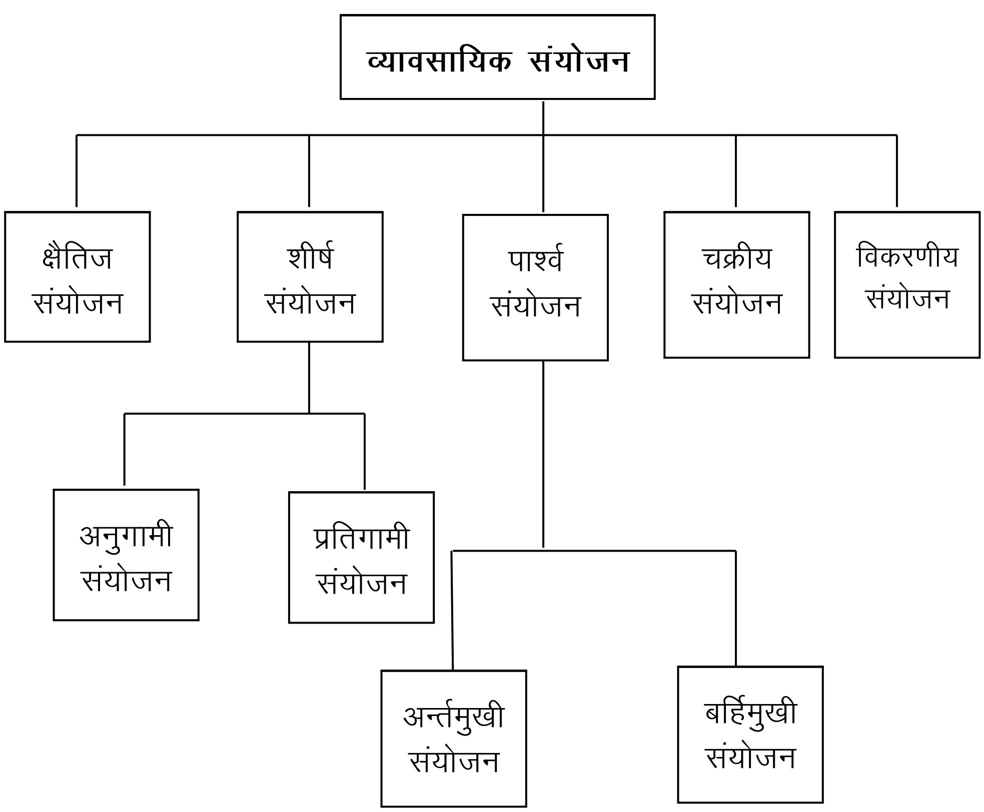

PLONE-029

14.3 सारांश

व्यावसायिक संयोजनों के अर्थ एवं गठन के कारणों के बाद इस इकाई में आपने उनके प्रकार के बारे में जाना। मुख्य रूप से व्यावसायिक संयोजनों को पांच श्रेणियों में विभाजित किया गया है। 1. क्षैतिज या समतल, 2. शीर्ष या ऊर्ध्वस्तर 3. पार्श्व, 4. चक्रीय एवं 5. विकर्णीय संयोजन। इनमें से पहले तीन प्रकारों की कुछ विशेषतायें मिलती–जुलती है। सभी पांचों प्रकार के संयोजनों के अलग–अलग गुण–दोष हैं। इसीलिये अलग–अलग उद्योगों द्वारा अलग प्रकार के संयाजन को महत्व दिया जाता है। संयोजन का एक प्रकार सभी उद्योगों के लिये समान रूप से लाभकारी नहीं हो सकता, कहीं पर समतल तो कहीं पार्श्व संयोजन लाभप्रद है, कहीं शीर्ष संयोजन तो किसी उद्योग के लिये चक्रीय संयोजन लाभप्रद है। किस उद्योग द्वारा संयोजन का कौन सा प्रकार लाभप्रद होगा यह उस उद्योग की प्रकृति और संगठन तथा बाजार पर निर्भर करता है। कभी–कभी किसी उद्योग के लिये विकर्णीय संयोजन लाभप्रद होता है उदाहरण के लिये मोटर कार बनाने वाली कम्पनी के लिये कार के विभिन्न हिस्से जैसे स्टीयरिंग टायर, लाइट आदि बनाने वाली अन्य इकाइयों से संयोजन करना लाभप्रद होगा यह विकर्णीय संयोजन का एक उदाहरण है।

14.4 उपयोगी शब्दावली

- **शीर्ष संयोजन (Vertical Combination)** उन अनेक इकाइयों का संयोजन जो किसी उद्योग की अनुक्रमिक क्रियाओं में लगी होती है।
- **पार्श्व संयोजन (Lateral Combination)** ऐसी फर्मों का संयोजन जो विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन या व्यापार करती है लेकिन किसी न किसी रूप में एक दूसरे से सम्बद्ध होती है।
- **समतल संयोजन (Horizontal Combination)** उन विभिन्न इकाईयों का संयोजन जो एक जैसी वस्तुओं का उत्पादन करती है।
- **विकर्णीय संयोजन (Digonal Combination)** किसी मुख्य इकाई का उन इकाइयों के साथ संयोजन जो ऐसी अनुषंगी वस्तुओं या सेवाओं की पूर्ति करती है जो मुख्य इकाई को सुचारू और निर्विघ्न रूप से चलाने के लिये आवश्यक होती है।
- **पार्श्व संयोजन (Lateral Combination)** उन विभिन्न फर्मों का सयोजन जो ऐसी अनेक वस्तुओं का उत्पादन करती है जो किसी अन्तिम उत्पाद का कच्चा माल होती है।

14.5 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. संयोजन के विभिन्न प्रकारों के बारे में बताइये।

प्रश्न 2. संयोजन के विभिन्न प्रकारों की विशेषतायें बताइये।

प्रश्न 3. संयोजन के विभिन्न प्रकारों के गुण–दोषों को बताइये।

प्रश्न 4. संयोजन के विभिन्न प्रकारों को चित्र में प्रस्तुत कीजिये।

प्रश्न 5. संयोजन के विभिन्न प्रकार किन–किन उद्योगों के लिये लाभप्रद है? बताइये।

प्रश्न 6. संयोजन के विभिन्न प्रकारों के बीच अन्तर बताइये।

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- जगदीश प्रकाशः आधुनिक व्यावसायिक संगठन, प्रयाग पुस्तक भवन, 1986
- पदमाकर अश्थानाः व्यावसायिक संगठन, प्रबन्ध एवं प्रशासन, साहित्य भवन, 1985
- यदुकुल भूषण एवं ओ0पी0 अग्रवालः व्यावसायिक संगठन के सिद्धान्त, सुल्तान चंद एंड संस, 1988।
- जी0एल0 जोशी, जी0एल0 शर्मा, एवं एस0सी0 जोशी, व्यावसायिक संगठन, : श्री महावीर बुक डिपो, 1985
- आर0सी0 अग्रवालः व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध, किताब महल, 1986

इकाई–15 व्यवसायिक संयोजनों के प्रारूप

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 व्यावसायिक संयोजन के प्रारूप

15.2.1 संघ (Associations)

15.2.2 परिसंघ (Federations)

15.2.3 संघनन (Consolidations)

15.3 सारांश

15.4 उपयोगी शब्दावली

15.5 महत्वपूर्ण प्रश्न

15.6 अभ्यास प्रश्न

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप सक्षम हो सकेंगे–

- संयोजन के विभिन्न प्रारूपों के बारे में बताने में,
- संयोजन के विभिन्न प्रारूपों के गुण–दोष के बारे में बताने में,
- संयोजन के विभिन्न प्रारूपों की तुलना करने में,
- संविलयन, समामेलन एवं एकीकरण के बारे में बताने में।

15.1 प्रस्तावना

विभिन्न प्रकार के संयोजनों के बारे में आपने पिछली इकाई में पढ़ा। इस इकाई में हम संयोजन के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा करेंगे। वास्तविक जगत में इनके दो स्वरूप प्रचलित हैं : (1) सरल (Simple) संयोजन, (2) संयुक्त संयोजन। इस इकाई में हम विशेष रूप से प्रो0 हैने द्वारा संयुक्त संयोजन के विभिन्न प्रारूपों की चर्चा करेंगे। संयुक्त संयोजन संघ, परिसंघ एवं संघनन के रूप में जाने जाते हैं।

PLONE-029

15.2 व्यावसायिक संयोजनों के प्रारूप

व्यवहार में व्यावसायिक संयोजन के अनेक प्रारूप पाये जाते हैं। इसका प्रारूप इस बात निर्भर करता है कि संयोजन करने वाली इकाइयाँ किस विधि से आपस में संयोग करना चाहती हैं। सामान्यतया, संयोजन का तात्पर्य दो या दो से अधिक इकाइयों के आपस में पूर्णतया मिल जाने से लगाया जाता है परन्तु व्यवहार में अनौपचारिक समझौते से लेकर सम्पूर्ण संघनन तक संयोजन के अनेक प्रारूप पाये जाते हैं।

हैने ने संयोजन के दो प्रमुख वर्गों में बांटा है–

साधारण संयोजन तथा संयुक्त संयोजन। साधारण या सरल संयोजन का तात्पर्य दो या अधिक व्यावसायिक इकाइयों के संयोग से है और इसके अन्तर्गत साझेदारी कम्पनी व सहकारी समितियाँ आती हैं और संयुक्त संयोजन का तात्पर्य व्यावसायिक इकाइयों के संयोग से है। वास्तव में साझेदारी, कम्पनी या सहकारी समितियों को संयोजन का प्रारूप नहीं माना जाता है। हम संयोजन के जिन प्रारूपों का अध्ययन करने जा रहे हैं वे हैने के अनुसार संयुक्त संयोजन के प्रारूप हैं। व्यावसायिक संयोजन के विभिन्न प्रारूपों का विस्तृत विवरण इस प्रकार हैः

15.2.1 संघ

संघ या पार्षद का तात्पर्य स्वेच्छा से निर्मित उस एसोसियेशन से है जो व्यापारीगण पारस्परिक समझौते द्वारा अपने सामूहिक हितों की रक्षा करने के लिये गठित करते हैं। यह संगठन स्वेच्छा से और अनौपचारिक होता है। यह अपने सदस्यों के आन्तरिक प्रबन्ध या संचालन में कोई भी हस्तक्षेप नहीं करता है। इनका उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होता। ये केवल सदस्यों के कल्याण के लिये या उनके हितों की रक्षा करने के लिये ही लाया जाता है। सदस्यों के लिये यह अनिवार्य नहीं होता कि वे मण्डल के नियमों को माने। सामान्यतया, ये मण्डल किसी व्यापार विशेष से सम्बद्ध होते हैं या किसी क्षेत्र विशेष से भी सम्बद्ध हो सकते हैं। सदस्यों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा पर भी ये कोई रोक नहीं लगाते। वास्तव में संयोजन का यह सबसे ढीला प्रारूप होता है। संघ प्रायः तीन प्रकार के होते हैं :

1. **व्यापार संघ**– संयोजन का यह अत्यन्त सामान्य व प्रचलित प्रारूप है। यह एक ही उद्योग या व्यापार में लगे व्यवसायियों का एक ऐच्छिक संगठन है जो सदस्यों के सामूहिक आर्थिक एवं व्यावसायिक हितों की रक्षा करने के लिये गठित किया जाता है। व्यापार मण्डल का उद्देश्य लाभ कमाना नहीं है। यह केवल अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करने के लिये अनौपचारिक रूप से बनाया जाता है। प्रायः इसका गठन राष्ट्रीय, प्रादेशिक, या स्थानीय स्तर पर किया जाता है। प्रत्येक प्रमुख नगर में कोई व्यापार मण्डल अवश्य कार्यरत है। भारतीय जूट मिल एसोसिएशन, अखिल भारतीय खाद्यान्न व्यापारी संघ, या भारतीय चीनी मिल एसोसिएशन व्यापार मण्डल के ही उदाहरण हैं।

   हैने के अनुसार ये, व्यापार संघ चार प्रकार के कार्य करते हैं–

   अ. शैक्षणिक

   ब. प्रतियोगिता नियन्त्रण

स. वैधानिक तथा

द. तकनीकी।

इन व्यापार संघों या पार्षद के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हो सकते हैं–

1. व्यावसायिक हितों की रक्षा करना और उसके लिये एक सामान्य मंच प्रदान करना, जहँ बैठकर वे अपनी समस्याओं पर विचार करते हैं और अपनी आवाज को जनता तथा सरकार तक पहुँचाते हैं।
2. समय–समय पर सदस्यों के मध्य, सामान्य हित में, समन्वय स्थापित करना जिससे उनमें आपसी झगड़े न्यूनतम हो।
3. शैक्षणिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों के बारे में सहयोग प्रदान करना।
4. व्यवसाय में उचित शोध द्वारा सदस्यों को परामर्श देना।
5. सरकार तथा सरकारी अधिकारियों से सदस्यों के हितों के बारे में बातचीत करना।
6. यदि व्यवसाय को प्रभावित करने वाला कोई कानून बन रहा हो तो उस पर अपना विचार प्रकट करना तथा इस सम्बन्ध में सरकार को सहायता प्रदान करना अथवा उसका विरोध करना।

2. **अनौपचारिक समझौता**– अनौपचारिक समझौता को भद्र पुरूषों का समझौता भी कहते हैं। यह व्यवसायियों के बीच हुआ मौखिक समझौता होता है जो प्रायः गुप्त रूप से किया जाता है। इस प्रकार के समझौतों का मुख्य उद्देश्य व्यावसायिक नीतियों तथा व्यवहारों का नियमन व नियन्त्रण करना होता है। ये समझौते भी व्यापारी स्वेच्छा से ही करते हैं। यदि कोई सदस्य नियम का पालन नहीं करता तो उसका केवल व्यावसायिक समाज के बहिष्कार हो सकता है और उसके विरूद्ध कोई भी कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती। मूल्यों को निर्धारित करना, समय निर्धारित करना, उत्पादन निश्चित करना, बाजार का बँटवारा करना, छुट्टी के दिन निर्धारित करना, अंकित मूल्य में छूट देना या न देना आदि अनेक विषयों पर स्वेच्छा से और अनौपचारिक ढंग से समझौता हो सकता है। इस प्रकार के समझौते का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इस प्रकार का समझौता बिना किसी व्यय के और बड़ी आसानी से हो जाता है। इसके लिये कोई भी औपचारिकता पूरी करने की आवश्यकता नहीं होती है साथ ही समझौता में अत्यधिक लोच भी पाया जाता है। क्योंकि परिस्थितियों के बदलने पर समझौता को भी आसानी से बदला जा सकता है। परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि यह समझौता किसी भी समय भंग हो सकता है।

3. **व्यापार मण्डल**– मण्डल या पार्षद के रूप में चैम्बर ऑफ कामर्स अधिक संगठित व लोकप्रिय संयोजन का प्रारूप है। यह व्यवसायियों का एक स्वैच्छिक संगठन है जो क्षेत्र विशेष के व्यवसायियों की हितों की रक्षा करने के लिये गठित किया जाता है। इसमें व्यवसायियों के अतिरिक्त पेशेवर व्यक्ति, जैसे दलाल, चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट, बैंकर आदि भी सम्मिलित होते हैं। सामान्यतया, इसका गठन क्षेत्रीय आधार पर किया जाता है। पर कभी–कभी जातीय आधार पर भी इसका गठन होता है। इंडियन चैम्बर ऑफ कामर्स, बिहार चैम्बर ऑफ कामर्स यू0पी0 चैम्बर ऑफ कामर्स, आदि क्षेत्रीय चैम्बर ऑफ कामर्स के

उदाहरण हैं मारवाड़ी चैम्बर ऑफ कामर्स जातीयता के आधार पर बना चैम्बर ऑफ कामर्स है। राष्ट्रीय स्तर पर इण्टरनेशनल चैम्बर ऑफ कॉमर्स भी है। सामान्यतया, इसकी स्थापना निजी व्यवसायियों द्वारा ही किया जाता है। परन्तु जैसा कि फ्रांस में है, यह अर्द्ध सरकारी भी हो सकता है।

15.2.2 परिसंघ

परिसन्घ व्यावसायिक इकाइयों का एक संघ है जिसमें औपचारिक रूप से वे अपने किसी बाह्य मामले के लिये संयोग करते हैं। अपने आन्तरिक मामलों के लिये संयोग करने वाली इकाइयाँ पूर्णतया स्वतन्त्र होती है। परन्तु किसी बाह्य मामले के लिये औपचारिक समझौता कर लेती है। और उसे कठोरता से पालन करती है। उदाहरण के लिये, यदि वे माल की बिक्री के लिए औपचारिक समझौता कर लेती हैं तो बिक्री के मामले में उनकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती हैं। और समझौते की शर्तों का पालन करना होता है। परन्तु बिक्री के अतिरिक्त अन्य मामलों के लिये वे पूर्णतया स्वतन्त्र होती है। वास्तव में मण्डल या पार्षद की ढिलाई या शिथिलता को दूर करने के लिये ही परिसंघ या फेडरेशन बनाया जाने लगा। इसका उद्देश्य किसी बाह्य मामले में होने वाले जैसे बिक्री प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करना है। मण्डल या पार्षद की अपेक्षाकृत यह अधिक स्थायी एवं प्रभावकारी संयोजन है और बिक्री के मामले में अधिक लोकप्रिय भी रहा है।

परिसंघ तीन प्रकार के हो सकते हैं:–

1. औपचारिक समझौता
2. संघ तथा
3. कार्टेल।

1. **औपचारिक समझौता**– जब कुछ निश्चित व्यापारिक मामलों के लिये व्यवसायी आपस में औपचारिक ढंग से कोई समझौता करते हैं तो उसे औपचारिक समझौता कहते हैं। यह समझौता अनेक मामलों या शर्तों के लिये हो सकता है। जैसे मूल्य पैकिंग, विज्ञापन, श्रमिकों की नियुक्ति साख की शर्तें आदि। जब मूल्य के बारे में औपचारिक समझौता होता है तो उसे मूल्य संयोग या मूल्य समझौता के नाम से भी जाना जाता है। इसका प्रमुख उद्देश्य मूल्य पर नियन्त्रण रखना होता है। जिससे कि उनमें आपसी प्रतिस्पर्द्धा न्यूनतम हो और इस कारण उन्हें हानि न उठानी पड़े। व्यवहार में प्रायः व्यापारियों में मूल्य युद्ध छिड़ जाता है और एक व्यापारी मूल्य को गिराकर ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षिक करता है, फिर दूसरा व्यापारी और मूल्य कम कर देता है, इस प्रकार उनमें आपस में युद्ध सा छिड़ जाता है। जिसका अन्त होना कठिन होता है। इस प्रकार से वे आपस में मूल्य सम्बन्धी औपचारिक समझौता करके इस समस्या का समाधान कर सकते हैं। व्यावसायियों के अतिरिक्त पेशे में लगे व्यक्ति भी जैसे वकील या डाक्टर या चार्टर्ड एकाउण्टेन्ट आदि आपस में औपचारिक समझौता करते हैं। बड़ी व्यावसायिक इकाइयों के अतिरिक्त छोटी–छोटी व्यावसायिक इकाइयॉ भी प्रायः इस प्रकार का औपचारिक समझौता कर अपने हितों की रक्षा करती हैं। इस प्रकार का संयोजन भी आसान और सुविधाजनक है। इस प्रकार के संयोग में सामान्य मामलों में संयोग करने वाली इकाइयाँ पूर्णतया स्वतन्त्र होती हैं और कुछ निश्चित मामलों के लिये ही शर्तों में बॅधती हैं। किन्तु मण्डल की तरह इस संयोजन के प्रारूप में भी स्थायित्व व प्रभावकारिता की कमी पाई जाती है। यह सफल तभी होता है। जब सभी

सदस्य ईमानदारी से शर्तों का पालन करें। यदि थोड़े से सदस्य भी निजी स्वार्थ में अपना लाभ बढ़ाने की दृष्टि से शर्तों को नहीं मानते तो औपचारिक समझौता असफल हो जाता है।

2. **संघ या पूल**— संघ संयोजन का एक प्रचलित स्वरूप है जिसके अन्तर्गत संयोग करने वाली इकाइयाँ कुछ निश्चित मामलों के लिये आपस में समझौता कर लेती हैं। परन्तु अन्य मामलों के लिये पूर्णतया स्वतन्त्र रहती है। रिचर्ड ओवेन्स के अनुसार, ''संघ ऐसे कार्यकारी समझौते हैं जो एक निश्चित अनुबंध पर आधारित है। प्रायः लिखित होते हैं जो अक्सर नियम भंग करने के लिये दण्ड की व्यवस्था करते हैं।'' इसके अनुसार समझौता लिखित होना चाहिए और समझौते को तोड़ने वाले को दण्ड सहन करना पड़ता है। समझौते में दण्ड की व्यवस्था इसलिये करना आवश्यक होता है जिससे कि सभी सदस्य उसका पालन करें और निश्चित उद्देश्य की पूर्ति हो सके। उसी प्रकार हैने के अनुसार संघ व्यावसायिक इकाइयों के सन्धान से स्थापित व्यावसायिक संगठन का एक स्वरूप है जिसके सदस्य मूल्य निर्धारण में निहित किसी तत्व को केन्द्रीय रूप से संयोजित करके और उसे सदस्यों में आपस में बॉटकर मूल्य पर नियंत्रण स्थापित करना चाहते हैं। इस परिभाषा से यह ज्ञात होता है कि संघ का प्रमुख उद्देश्य मूल्य पर नियंत्रण करना है। परन्तु व्यवहार में अन्य उद्देश्यों से भी संघ के या पूल के रूप में संयोजन किया जाता है।

3. **उत्पादन संघ या कार्टेल**— संघ या पूल से मिलता जुलता ही संयोजन के प्रारूप के रूप में उत्पादक संघ या कार्टेल या सिंडीकेट हैं। कार्टेल भी एक प्रकार का संघ या पूल है जिसके साथ एक विक्रय एजेंसी भी जुड़ी रहती है। स्वेच्छा से किसी व्यवसाय में लगी इकाइयाँ जब आपस में संयोजन करके बिक्री नियन्त्रित करती है और बाजार में अपना आधिपत्य स्थापित कर लेती है तो उसे कार्टेल कहते हैं। इससे उनकी आपसी प्रतिस्पर्द्धा समाप्त होती है और वे मिल–जुल कर क्रय, उत्पादन तथा बिक्री को नियन्त्रित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार कार्टेल स्वतन्त्र व्यवसायों का एक संघ है जो सदस्यों/इकाइयों के उत्पादन क्रय, मूल्य गणना या व्यावसायिक शर्तों से सम्बन्धित दायित्वों को क्रियात्मक रूप देता है, तथा स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा के विरूद्ध बाजार को प्रभावित करता है। इस प्रकार कार्टेल का प्रमुख उद्देश्य प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त कर बाजार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना है। वास्तव में जर्मनी में, कार्टेल अधिक लोकप्रिय रहे हैं और सरकार ने वहाँ कार्टेल को किसी न किसी रूप में प्रोत्साहित भी किया है।

15.2.3 संघनन या समेकन

संयोजन के प्रारूप की दृष्टि से संघनन अधिक प्रभावकारी प्रारूप है। यह दो प्रकार का होता है। अ. आंशिक संघनन तथा ब. पूर्ण संघनन।

अ. **आंशिक संघनन**— अपूर्ण संघनन में संयोग करने वाली इकाइयों का निजी अस्तित्व बना रहता है। अपूर्ण संघनन भी कई प्रकार का हो सकता है। अपूर्ण संघनन 1. न्यास या ट्रस्ट, 2. सूत्रधारी कम्पनी तथा 3. सामुदायिक हित के रूप में हो सकता है। इनका उल्लेख निम्नलिखित है।

1. **न्यास/ट्रस्ट**— संयोजन के प्रारूप के रूप में न्यास या ट्रस्ट का आरम्भ संयुक्त राज्य अमेरिका में संघों के गैरकानूनी घोषित किये जाने के फलस्वरूप हुआ। प्रथम ट्रस्ट की स्थापना 1879 में स्टैन्डर्ड आयल कम्पनी के द्वारा की गई

थी, वैसे ट्रस्ट की स्थापना पहले से ही धार्मिक व सामाजिक कार्यों के लिये किया जाता रहा है। ऐसे ट्रस्ट को हम सामान्य ट्रस्ट कहते हैं और यह व्यावसायिक ट्रस्ट से भिन्न है। जिसका अध्ययन हम यहाँ पर संयोजन के प्रारूप में कर रहे हैं।

हैने के अनुसार, ''न्यास अस्थायी संयोजनों द्वारा स्थापित व्यवसाय संगठन का वह प्रारूप है, जिसमें सदस्य संगठनों के अंशधारी, एक न्यास समझौते के अधीन, अपने अंशों की नियंत्रक राशि एक न्यास मंडल के हाथों में न्यास प्रमाण पत्र के बदले हस्तान्तरित कर देते हैं। ये न्यास प्रमाण पत्र संयोजन की आय में उनके सम्यक हित को प्रदर्शित करते हैं।''

जेम्स ई0 ऐंडरसन के अनुसार, ''न्यास रूपी संगठन–स्वतंत्र फर्मों को एक सामान्य नियन्त्रण के अधीन संयोजित करने का उपाय था। न्यास का निर्माण कई स्वतन्त्र फर्मों के अधिकांश अंशधारियों को अपने अंश और मताधिकार का नियंत्रण न्यासियों के एक समूह को सौंपने के लिये राजी करके किया जाता था तत्पश्चात् न्यासीगण स्वतन्त्र कम्पनियों को एक उपक्रम के रूप में संचालित कर सकते थे। अंशधारियों को बदले में न्यास प्रमाण पत्र मिलते जो उन्हें न्यास के लाभ से लाभांश प्राप्त करने का अधिकारी बनाते थे।''

न्यास या ट्रस्ट सामान्यतया चार प्रकार के होते हैं:

I- व्यावसायिक मताधिकार ट्रस्ट

II- संयोजन ट्रस्ट

III- विनियोग ट्रस्ट तथा

IV- इकाई ट्रस्ट

I- **व्यावसायिक मताधिकार ट्रस्ट**– इसके अन्तर्गत मताधिकार का एकीकरण किया जाता है। ऐसे ट्रस्ट के अन्तर्गत, अंशों से प्राप्त मताधिकार को ट्रस्टियों के हाथ में सौंप दिया जाता है। अंशधारी जो कि हिताधिकारी कहलाते हैं लाभ प्राप्त करने का अधिकार तथा अपने हितों के बेचने का अधिकार अपने पास रखते हैं किन्तु वे मत देने के अधिकार को हस्तान्तरित कर देते हैं। प्रायः मताधिकार का हस्तांतरण कुछ निर्धारित अवधि के लिये ही होता है जब तक यह ट्रस्ट चालू रहता है। हिताधिकारियों की ओर से ट्रस्टी ही मतदान करते हैं। मताधिकार के माध्यम से संयोजित कम्पनियों पर एकीकरण स्थापित हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अंशधारियों के बदलते रहने से कम्पनियों का प्रबन्ध अप्रभावित रहता है। संयोजित कम्पनियों पर नियंत्रण तो ट्रस्ट के हाथों आ जाता है। अब इस प्रकार के ट्रस्ट व्यवहार में नहीं पाये जाते हैं।

II- **संयोजन या नियंत्रक ट्रस्ट** यह ट्रस्ट का अधिक प्रचलित स्वरूप है। इसके अन्तर्गत संयोजित कम्पनियों के अंशधारी अपने अधिकांश या समस्त अंश ट्रस्ट को सौंप देते हैं। बोर्ड ऑफ ट्रस्टी के द्वारा सदस्य कम्पनियों का प्रबंध, नियंत्रण व निर्देशन किया जाता है। इस प्रकार सभी इकाइयों का केन्द्रीय नियंत्रण व निर्देशन किया जाता है। इसे साधारण ट्रस्ट के नाम से भी जाना जाता है। मैसाचुसेट में पहली बार स्थापित किये जाने के कारण इसे मैसाचुसेटस ट्रस्ट भी कहते हैं।

III- विनियोग ट्रस्ट इसका प्रमुख उद्देश्य दूसरी कम्पनियों के अंशों व ऋण पत्रों में विनियोग कर उन पर नियंत्रण स्थापित करना होता है। ये ट्रस्ट अपने अंशों व ऋणपत्रों को जनता में बेचकर अपनी पूंजी एकत्रित कर लेते हैं और पूंजी का उपयोग अन्य कम्पनियों के अंशों में ऋणपत्रों के क्रय करने में किया जाता है। इसके फलस्वरूप ट्रस्ट अन्य कम्पनियों पर अपना नियंत्रण भी स्थापित कर लेती है। ये कभी–कभी सरकारी प्रतिभूतियों में भी विनियोग करती है। टाटा विनियोग ट्रस्ट, जे0के0 विनियोग ट्रस्ट या बिड़ला विनियोग ट्रस्ट इसके प्रमुख उदाहरण हैं। ये नई कम्पनियों को पूँजी प्राप्त कराने में भी सहायता करती है।

IV- इकाई ट्रस्ट इसे स्थायी ट्रस्ट भी कहते हैं। इकाई ट्रस्ट की स्थापना 1929 में विश्वव्यापी मन्दी के फलस्वरूप की गई। स्थायी का तात्पर्य यहाँ पर ट्रस्ट के स्थायी होने से नहीं है अपितु इसका तात्पर्य यह है कि इनके द्वारा पूँजी का विनियोग कुछ विशेष उद्योगों में ही स्थायी रूप से किया जाता है। यह अपना कार्य विनियोग ट्रस्ट के रूप में ही करता है। भारतीय यूनिट ट्रस्ट भी इसका उदाहरण है।

2. **सूत्रधारी या नियंत्रण कम्पनी**– संयोजन में ट्रस्ट की बुराइयों को दूर करने के लिये तथा संयोजित कम्पनियों पर नियंत्रण सथापित करने के लिये इस नये प्रारूप को अपनाया गया। ट्रस्ट विरोधी आन्दोलन के फलस्वरूप जब ट्रस्ट को गैर–कानूनी घोषित कर दिया गया, तो संयोजन के इस प्रारूप को उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में अपनाया गया। इसके अन्तर्गत भी समायोजित होने वाली कम्पनियों का अस्तित्व पृथक होता है परन्तु नियंत्रण व संचालन की व्यवस्था केन्द्रीयकृत होती है।

3. **हित समुदाय**– हित समुदाय व्यवसाय संगठन का वह रूप है जिसमें केन्द्रीय नियंत्रण के संबंध में किसी प्रकार की औपचारिक व्यवस्था के बिना ही अनेक कंपनियों की व्यावसायिक नीति का नियंत्रण शेयर होल्डरों या निदेशकों के एक वर्ग द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में, दो या उससे अधिक कंपनियों के शेयरों पर समान व्यक्तियों का स्वामित्व होने के कारण इन कंपनियों के बीच सामंजस्यपूर्ण संबंध हो जाता है जिसे ''हित समुदाय'' कहा जाता है। इस प्रकार के संयोजन में व्यावसायिक इकाइयाँ प्रकट रूप से तो पृथक नियंत्रण में होती हैं लेकिन महत्वपूर्ण मामलों में उनकी व्यवसाय नीतियाँ साझे निदेशकों से प्रभावित होती हैं, जो एक–सा निर्णय लेते हैं।

ब. **पूर्ण संघनन या समेकन**– आपने पढ़ा है कि संघनन/समेकन दो प्रकार के होते हैंः (1) आंशिक संघनन/समेकन और (2) पूर्ण संघनन/समेकन। आंशिक समेकन और उनके वर्गीकरण से संबंध में हम विचार कर चुके हैं। अब पूर्ण संघनन/समेकन के संबंध में चर्चा की जाएगी। पूर्ण समेकन से अभिप्राय होता है संयोजित होने वाली इकाइयों का पूर्ण रूपेण संलयन जिससे इन इकाइयों का अस्तित्व समेकित इकाई के अधीन चला जाता है। इस प्रकार पूर्ण समेकन तब होता है जब अनेक कंपनियों की संपत्तियों को व्यवसाय की किसी एक ही इकाई के अंतर्गत खरीद लिया जाता है। अतः पूर्ण समेकन उस सम्मिलन का परिणाम है जिसमें व्यवसाय की इकाइयों का संलयन हो जाता है और वे अपनी पहचान खो देती हैं। पूर्ण समेकन निम्नलिखित दो में से किसी एक प्रकार का हो सकता है। संविलयन और समामेलन। संविलयन और समामेलन के निर्माण की विधियाँ तो अलग–अलग हैं लेकिन उनके उद्देश्यों के बीच कोई अंतर नहीं होता। संविलयन की स्थिति में कोई वर्तमान कंपनी एक या उससे अधिक अन्य

चित्र 15.1

व्यावसायिक समेकन का वर्गीकरण

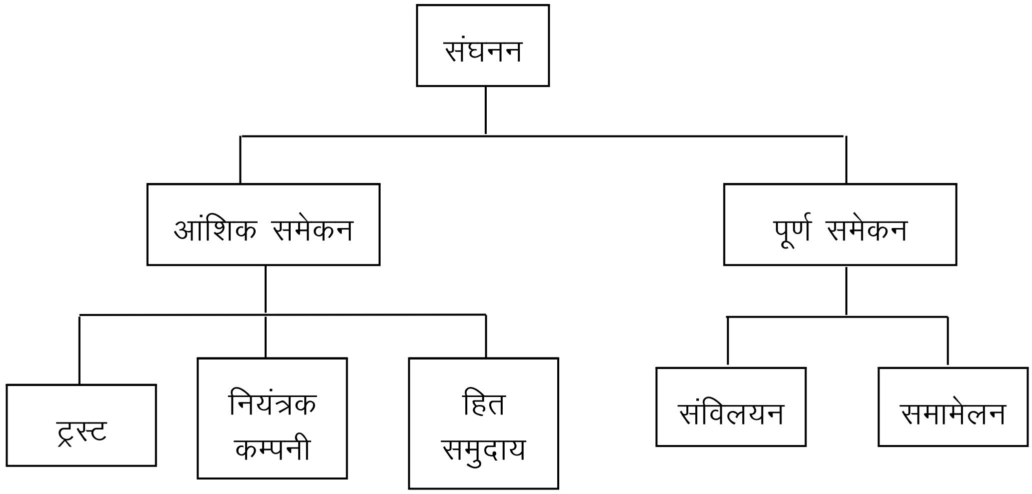

उद्यमों को अपने में घुला–मिला लेती है। यह कंपनी उनकी परिसंपत्तियों को खरीद लेती है और समस्त राशि के भुगतान के आधार पर उनकी देयताओं की जिम्मेदारी ले लेती है। समामेलन की स्थिति में वर्तमान कंपनियाँ स्वैच्छिक समापन करा लेती हैं और उनकी परिसंपत्तियों का उत्तरदायित्व एक नव–निर्मित कंपनी ले लेती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समामेलन की स्थिति में, वर्तमान कंपनियों के व्यवसाय का उत्तरदायित्व लेने के लिए नई कंपनी बनाई जाती है जबकि संविलयन की स्थिति में एक व्यावसायिक इकाई का विलयन किसी अन्य वर्तमान इकाई में हो जाता है।

बोध प्रश्न

1. नियंत्रक कम्पनी किसे कहते हैं?

....

....

....

2. व्यावसायिक मताधिकारी ट्रस्ट और नियंत्रक ट्रस्ट के बीच के भेद बताइये।

....

....

....

3. संविलयन और समामेलन के बीच के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

15.4 सारांश

संयोजन सरल या मिश्रित दो प्रकार का हो सकता है। सरल संयोजन के अंतर्गत एक प्रकार की व्यवस्था वाली फर्में आती हैं। मिश्रित संयोजन उन उद्यमों के फलस्वरूप होता है जिनकी व्यवस्था भिन्न–भिन्न प्रकार की होती है। मिश्रित संयोजन निम्नलिखित तीन में किसी एक प्रकार का हो सकता है : (1) संघ (association), (2) परिसंघ (federation) और समेकन (consolidation)।

संघ अनेक व्यावसायिक इकाइयों का स्वैच्छिक संगठन होता है जिसे वे अपने सम्मिलित हितों की रक्षा के लिए बनाती हैं। संघों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता हैः (1) व्यापार संघ (trade association) (2) व्यापार मंडल (chamber of commerce) और (3) अनौपचारिक समझौता (informal agreement)।

किसी एक ही प्रकार के व्यवसाय में कार्यरत व्यवसायी व्यापार संघ का निर्माण करते हैं। व्यापार मंडल किसी विशेष प्रदेश के सब प्रकार के व्यवसायियों का संघ होता है। ये दोनों ही स्वैच्छिक और अलाभकारी संगठन होते हैं। उनके उद्देश्य होते हैं सदस्यों के व्यावसायिक हितों की रक्षा करना और उन्हें बढ़ाना। ये सदस्य फर्मों के आंतरिक प्रबंध में दखल नहीं देते। अनौपचारिक समझौता से अभिप्राय प्रतिस्पर्धी व्यवसायी फर्मों का इस बात से सहमत होना होता है कि वे कुछ आपसी प्रथाओं का पालन करेंगी।

स्वतंत्र व्यावसायिक इकाइयाँ जब पारस्परिक लाभ के लिए अपने बाह्य संबंधों के संबंध में सहबंध (alliance) या संघ (union) बना लेती हैं तब उसे परिसंघ कहा जाता है। परिसंघों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है। (1) पूल और (2) कार्टेल। व्यावसायिक इकाइयों के परिसंघ की सथापना जब कीमतों तथा संबंधित कारकों पर एक सीमा तक नियंत्रण रखने और कुल लाभ में से अपना अंश लेने के लिए की जाती है तब उसे पूल कहा जाता है। व्यवसाय इकाइयों के उस परिसंघ को कार्टेल कहा जाता है जो व्यवसाय के किसी विशेष क्षेत्र में बाजार पर नियंत्रण के लिए संयुक्त विक्रय संगठन की स्थापना करता है।

संघनन/समेकन (consolidation) संयोजन का वह रूप है जिसमें व्यावसायिक फर्मों का नियंत्रण एक संयुक्त प्राधिकारी द्वारा होता है। वास्तव में सदस्य फर्मों के बीच सबसे अधिक एकीकरण संघनन/समेकन की स्थिति में ही हो पाता है। समेकन का उपविभाजन दो श्रेणियों में किया जा सकता हैः (1) आशिक समेकन और (2) पूर्ण समेकन। आंशिक समेकन की स्थिति में विभिन्न फर्में अलग से अपना अस्तित्व बनाए रखते हुए संयुक्त नियंत्रण और प्रबन्ध के अंतर्गत आ जाती है। आंशिक समेकन के विभिन्न प्रकार हैंः ट्रस्ट, नियंत्रक कंपनी, और हित समुदाय। पूर्ण समेकन की स्थिति में कंपनियों का संविलयन (Merger) हो जाता है, अर्थात कोई कंपनी एक या अधिक कंपनियों को अपने में मिला लेती है या किसी नवनिर्मित कम्पनी में दो या उससे अधिक कम्पनियों का समामेलन हो जाता है।

15.5 उपयोगी शब्दावली

- **समामेलन (Amalgmation):** संयोजन का एक प्रकार जिसमें वर्तमान कंपनियाँ स्वैच्छिक समापन करा लेती हैं और उनकी परिसंपत्तियों को एक नव निर्मितकंपनी ले लेती हैं।

PLONE-029

- **संघ (Association):** अनेक व्यावसायिक इकाइयों का स्वैच्छिक संगठन जिसे वे अपने सम्मिलित हित की रक्षा के लिए बनाती है।

- **कार्टेल (Cartel):** व्यवसाय के एक ही क्षेत्र की व्यावसायिक इकाइयों के बीच सम्मिलित विक्रय संगठन के संबंध में स्वैच्छिक समझौते को कार्टेल कहा जाता है।

- **व्यापार मंडल (Chamber of Commerce):** किसी विशेष क्षेत्र/प्रदेश के सभी प्रकार के व्यवसायियों का व्यावसायिक इकाइयों का स्वैच्छिक संगठन जिसका उद्देश्य उनके व्यावसायिक हितों की रक्षा करना और उन्हें बढ़ावा देना होता है।

- **संयुक्त ट्रस्ट (Combination Trust):** एक प्रकार का संगठन जिसमें अनेक कंपनियों के शेयरधारी ट्रस्ट समझौते के अधीन अपने शेयरों की एक नियंत्रक मात्रा को ट्रस्ट प्रमाण–पत्रों के बदले में ट्रस्टियों के बोर्ड को सौंप देते हैं। इन प्रमाण–पत्रों में लिखा होता है कि ट्रस्ट की आय में उनका क्या अंश है।

- **हित समुदाय (Community of Interest):** व्यावसायिक संयोजन का एक रूप जिसमें केन्द्रीय नीति के संबंध में किसी प्रकार की औपचारिक व्यवस्था के बिना ही अनेक कंपनियों की व्यवसाय नीति का नियंत्रण साझा शेयरहोल्डरों या निदेशकों के एक वर्ग द्वारा होता है।

- **पूर्ण समेकन (Complete Consolidation):** संयोजित होने वाली इकाइयों का पूर्ण रूपेण संलयन जिससे इन इकाइयों का अस्तित्व समेकित इकाई के अधीन चला जाता है।

15.6 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. संयोजन के प्रारूप से आप क्या समझते हैं। संक्षेप में विभिन्न प्रारूपों को बताइये।

प्रश्न 2. नियंत्रक कंपनी क्या है? अपनी नियंत्रित कंपनियों पर यह किस प्रकार प्रभाव डालती है। इस प्रकार के संगठन के लाभ और दोषों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3. व्यवसाय में संयोजन के रूप में नियंत्रक कंपनियों, ट्रस्ट और विलयन के सापेक्ष गुणों और दोषों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. पूल क्या है? विभिन्न प्रकार के पूलों के संबंध में चर्चा करें। क्या आप इस कथन से सहमत है कि आर्थिक दृष्टि से पूल कुशल नहीं होते?

प्रश्न 5. निम्नलिखित के बीच क्या अंतर है

अ. ट्रस्ट और नियंत्रक कंपनी

ब. समस्तर और ऊर्ध्वस्तर एकीकरण

स. पूल और कार्टेल

द. संघ और व्यापार मंडल

य. सविलयन और समामेलन

र. पूर्ण समेकन और आंशिक समेकन

प्रश्न 6. समेकन क्या है? विभिन्न प्रकार के समेकनों को स्पष्ट करें

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- जगदीश प्रकाश : आधुनिक व्यावसायिक संगठन, प्रयाग पुस्तक भवन, 1986
- पदमाकर अस्थाना : व्यावसायिक संगठन, प्रबन्ध एवं प्रशासन, साहित्य भवन, 1985
- यदुकुल भूषण एवं ओ0पी0 अग्रवाल : व्यावसायिक संगठन के सिद्धान्त, सुल्तान चंद एंड संस, 1988।
- जी0एल0 जोशी, जी0एल0 शर्मा, एवं एस0सी0 जोशी, व्यावसायिक संगठन, : श्री महावीर बुक डिपो, 1985
- आर0सी0 अग्रवाल : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबन्ध, किताब महल, 1986

PLONE-029

इकाई–16 व्यवसाय की व्यवहार्यता

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 व्यवसाय की व्यहार्यता का आशय

16.3 व्यवहार्यता के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व

16.4 व्यवसाय की व्यवहार्यता को निर्धारित करने वाले घटक

16.5 व्यवसाय की व्यवहार्यता रिपोर्ट

16.5.1 तकनीकी

16.5.2 आर्थिक

16.5.3 वित्तीय

16.5.4 वाणिज्यिक

16.5.5 प्रबंधकीय

16.6 सारांश

16.7 उपयोगी शब्दावली

16.8 महत्वपूर्ण प्रश्न

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप सक्षम होंगे :

- व्यवहार्यता का अर्थ स्पष्ट करने में,
- व्यवहार्यता के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व की व्याख्या करने में,
- व्यवसाय की व्यवहार्यता को निर्धारित करने वाले विभिन्न घटक का वर्णन करने में,
- व्यवहार्यता के अध्ययन की जाँच के विभिन्न दृष्टिकोण बताने में।

16.1 प्रस्तावना

आप जानते हैं कि एक नयी व्यावसायिक इकाई किस प्रकार अस्तित्व में आती है। इस संदर्भ में आप व्यावसायिक इकाइयों के प्रवर्तन में प्रवर्तकों तथा उद्यमियों द्वारा निभाई जानेवाली भूमिका बारे में भी अध्ययन कर चुके हैं। आप इस बारे में भी जानकारी प्राप्त कर चुके हैं कि एकल स्वामित्व व्यवसाय, साझेदारी फर्म अथवा एक कंपनी की स्थापना के लिए कौन–कौन से कदम उठाए जाते हैं। साधारणतया

उद्यमी/प्रवर्तक व्यावसायिक इकाई प्रारम्भ करने का निश्चय तभी करता है जबकि उसे उस व्यवसाय के लाभप्रद होने की संभावना हो। प्रवर्तक को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि विक्रय से प्राप्त आय समस्त लागतों को चुकाने के लिए तथा उचित लाभ अर्जित करने के लिए पर्याप्त होगी। उद्यमी को सावधानीपूर्वक इस बात का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तावित व्यवसाय से पर्याप्त लाभ अर्जित हो सकेगा अथवा नहीं। यह कार्य विशेष रूप से व्यवहार्यता–अध्ययन (feasibility study) के माध्यम से किया जाता है। इस इकाई में हम व्यवसाय की व्यवहार्यता के आशय एवं महत्व का, व्यवसाय की व्यवहार्यता को निर्धारित करने वाले घटकों का तथा व्यवहार्यता रिपोर्ट के विभिन्न बिन्दुओं की चर्चा करेंगे।

16.2 व्यवसाय की व्यवहार्यता का आशय

व्यवहार्यता का अर्थ होता है– साध्यता। अतः व्यवसाय की व्यवहार्यता का अर्थ है व्यवसाय की साध्यता। जब किसी उधमी को व्यवसाय का अवसर प्राप्त होता है; तो इसका यह अर्थ कदापि नही होता कि वह व्यवहार में उस व्यवसाय को चालू रखने में समर्थ हो सकेगा। हो सकता है कि जो अवसर हमें उत्तम लगता हो; वही अवसर व्यवसाय के व्यावहारिक पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् हमें उतना उत्तम न लगे। अतः कोई भी व्यावसायिक उपक्रम प्रारम्भ करने से पहले उधमी को इस बात पर गंभीरता से विचार करना चाहिए कि जिस व्यवसायिक उपक्रम के बारे में उसने सोचा है क्या वह वास्तव में सफल हो सकेगा। उसे विस्तृत रूप से इन बातों पर विचार करना होगा कि वह किन वस्तुओं का व्यापार करेगा; कौन सी उत्पादन प्रक्रिया अपनाएगा; किन बाजारों में उसकी वस्तु की माँग होगी आदि–आदि। उसे यह सुनिश्चित करना होगा कि क्या व्यवसाय के लिए आवश्यक पूँजी पर लाभ के रूप में पर्याप्त प्रतिफल प्राप्त हो सकेगा। मान लीजिए कि उधमी को इस बात का पता चलता है कि बाजार में एक नए प्रकार के उत्पाद की माँग काफी है। लेकिन इससे वह यह मानकर नहीं चला सकता कि उस व्यवसाय से संबंधित सभी कार्य उसकी आशा के अनुरुप होते रहेंगे। इसलिए किसी भी व्यवसाय को प्रारंभ करने से पहले कई तरह के प्रश्नों पर विचार करना होगा। जैसे– अ क्या उस उत्पाद की माँग उतनी ही रहेगी जितनी कि अब है अथवा समय के साथ वह बढेगी या घटेगी? ब. क्या उत्तम किस्म का कच्चा माल उसी मूल्य पर उपल्बध होगा जो उसने सोचा है? स. उत्पादन प्रकिया कौन सी अपनायी जाएगी? द. बाजार में अपने पैर जमाने में व्साय को कितना समय लगेगा? यदि इन सभी प्रश्नो के उत्तर अनुकूल है तो उधमी विश्वास के साथ कह सकता है कि यह व्यवसाय साध्य अथवा व्यवहार्य होगा। इस प्रकार व्यवसाय की व्यवहार्यता से हमारा तात्पर्य तकनीकी; आर्थिक, वित्तीय, वाणिज्यिक एवं प्रबंधकीय दृष्टिकोणों से किसी व्यावसायिक उपक्रम की साध्यता से होता है।

16.3 व्यवहार्यता के अध्ययन का महत्व

प्रायः प्रत्येक उधमी के मस्तिष्क में; जो व्यावसायिक अवसरों की तलाश में है तथा जो किसी व्यावसायिक विचार को पहचानने में समर्थ है; ऐसे बहुत से उद्देश्य होते है जिनकी वह पूर्ति करना चाहेगा। इनमें से एक उद्देश्य यह है कि व्यवसाय प्रारंभ करने के पश्चात् वह लाभप्रद हो। व्यवसाय को लाभप्रद बनाने के लिए इसका संचालन कुशलता से किया जाना चाहिए। उत्पादन प्रक्रिया तकनीकी दृष्टि से नवीनतम होनी चाहिए। उत्पादन लागत नियंत्रण में होनी चाहिए। उत्पादित वस्तुओं की किस्म संतोषजनक होनी चाहिए। जब भी वित्त की आवश्यकता हो; वित्त उपलब्ध होना चाहिए। ग्राहको की आवश्यकताओं तथा रूचियों एवं प्राथमिकताओं का पहले से ज्ञान

PLONE-029

होना चाहिए। इन सभी कारणों को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक है कि वास्तव में व्यवसाय प्रारंभ करने से पहले व्यवसाय की साध्यता का विश्लेषण किया जाना चाहिए। व्यवसाय की व्यवहार्यता का विश्लेषण करने के कई अन्य कारण भी है। प्रारंभ में प्रवर्तकों को विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए विभिन्न पंक्षों के साथ अनुबंध करने पड़ते हैं जैसे भूमि खरीदने के लिए; कारखाना स्थापित करने के लिए; मशीनरी तथा उपस्करों की प्राप्ति के लिए कच्चे माल की आपूर्ति के लिए आदि–आदि। कोई भी ऐसा अनुबंध करने से पहले यह आवश्यक है कि प्रवर्तक स्वयं उस व्यवसाय की भावी प्रत्याशाओं से संतुष्ट हो जाए; जो व्यवसाय वे प्रारंभ करने जा रहे हैं अन्यथा यदि बाद में व्यवसाय में कुछ समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है तो अनुबंधो के अंतर्गत समस्त दायित्वो के लिए उन्हें व्यक्तिगत रुप से उत्तरदायी ठहराया जा सकता हैं। अतः यह आवश्यक है कि व्यवसाय प्रारंभ करने से पहले प्रवर्तक व्यवसाय की व्यवहार्यता के बारे में स्वयं को संतुष्ट कर लें।

प्रवर्तकों को निवेशकों से आवश्यक पूँजी एकत्रित करनी होती है तथा ऋणों का भी प्रबंध करना होता हैं। जो लोग विनियोग करना चाहते हैं उन्हें व्यवसाय की सफलता के बारे में भी विश्वस्त कराना होता है। इसका कारण यह है कि निवेशक हमेशा उनके द्वारा निवेशित पूंजी पर प्रतिफल की एक न्यूनतम दर की आशा करते हैं। यदि यह एक कंपनी है तो वह कंपनी से लाभांश की एक उचित दर की आशा करेंगे। यदि व्यवसाय लाभप्रद है तथा इसके कार्यकलापों में विस्तार की संभावना है तो अंशधारी (शेयरहोल्डर) अपने अंशो (शेयरों) के मूल्यो में वृद्धि की आशा करेगें, जिसका अर्थ होता है–पूँजीगत लाभ। किसी भी अवस्था में निवेशक अपने निवेश की सुरक्षा के इच्छुक होते है तथा वे यह जानना चाहेगें कि क्या व्यवसाय पर्याप्त आय अर्जित करने में समर्थ हो सकेगा। इसलिए निवेशक हमेशा निवेश करने के इच्छुक जनसाधारण से पूँजी प्राप्त करने के अतिरिक्त प्रवर्तको को वित्तीय संस्थाओं से भी ऋण प्राप्त करते है जैसे, भारतीय औधोगिक वित्त निगम; राज्य औधोगिक वित्त निगम आदि। अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वाणिज्यिक बैंको से ऋण तथा अग्रिम राशि की व्यवस्था की जाती है। इन सभी अवस्थाओं में उधार देने वाली संस्थाए यह सुनिश्चित करना चाहेगी कि क्या प्रवर्तको के लिए नियमित रुप व्याज चुकाना तथा देय हो जाने पर ऋण का भुगतान करना संभव हो सकेगा। वे यह सुनिश्चित करना चाहेंगी कि व्यवसाय को किन्हीं गंभीर समस्याओं का सामना न करना पड़े तथा व्यवसाय पर्याप्त लाभ अर्जित कर सके। वास्तव में वित्तीय संस्थाओं से वित्तीय सहायता की याचना करते समय प्रवर्तकों व्यवसाय के अस्तित्व में बने रहने की तथा लाभप्रद होने की क्षमता के बारे में वित्तीय संस्थाओं को संस्तुष्ट करने के लिए उनके सम्मुख एक विस्तृत व्यवहार्यता रिपोर्ट प्रस्तुत करनी पड़ती है।

जब प्रवर्तक करों में छूट, सरकारी अनुदान; आयात अनुज्ञा; नियत्रिंत दरों पर माल खरीदने के लिए आज्ञा पत्र आदि के लिए आवेदन करते है तो उन्हें संबधित सरकारी विभागों को इस बारे में संतुष्ट करना पड़ता है कि प्रस्तावित व्यवसाय व्यावहारिक दृष्टिकोण से साध्य है। कई राज्य सरकारे लघु और मध्यम पैमाने के उद्योगों द्वारा स्थापित कारखानों के लिए कम दरों पर भूमि का आवंटन करती हैं तथा विधुत एवं जल आपूर्ति की गारंटी देती हैं। इन उद्देश्यों के लिए भी व्यवसाय का व्यवहार्य होना आवश्यक है।

16.4 व्यवसाय की व्यवहार्यता को निर्धारित करने वाले घटक

व्यावसायिक व्यवहार्यता के अर्थ एवं उद्देश्यों के बारे में आप जानकारी प्राप्त कर चुके है। आइये; अब हम व्यावसायिक व्यवहार्यता का निर्धारण करते समय ध्यान में

रखने योग्य बातो का अध्ययन करें। जैसा कि आप जानते हैं कि भारत में पंचवर्षीय योजनाओं से उन उधोंगों का पता चलता है जिसके विकास को प्राथमिकता दी जाएगी इसलिए सर्वप्रथम इस बात की जाँच की जानी चाहिए कि प्रस्तावित व्यावसायिक उपक्रम पंचवर्षीय योजना में उल्लिखित प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों के अंतर्गत आता है या नहीं। यदि पंचवर्षीय योजना में इसे प्राथमिकता प्राप्त उद्योग (priority industries) माना गया है तो अनुज्ञा प्राप्त करना मुश्किल नहीं होगा। यदि यह एक छोटे पैमाने का औद्योगिक उपक्रम है तो प्रवर्तकों को यह पता लगाना चाहिए कि क्या उनके द्वारा बनाए जाने वाले तथा विक्रय किए जाने वाले उत्पाद छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए सुरक्षित मदों की सूची में शामिल हैं। यदि ऐसा है तो उस व्यावसायिक उपक्रम को स्थापित करने के लिए राज्य सरकार से विशेष छूट प्राप्त की जा सकती है। इन छूटों में कारखाने के लिए भूमि की उपलब्धता, कम दरों पर विद्युत एवं जल की आपूर्ति आदि शामिल हैं। यदि प्रस्तावित औद्योगिक उद्यम बड़े पैमानें का उद्योग है तो प्रवर्तकों को औद्योगिक अनुज्ञा के लिए आवेदन करना होगा।

एक अन्य ध्यान में रखने योग्य पहलू है– उत्पाद की माँग। अगले तीन से पाँच वर्षों के लिए प्रत्याशित विक्रय की गणना करते समय गत वर्षों की वास्तविक मॉग तथा भविष्य की अनुमानित माँग को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

व्यवसाय की लाभार्जन क्षमता का कारखाने के स्थान से घनिष्ठ संबन्ध होता है। स्पष्ट है कि श्रेष्ठ स्थान वही होता है जहाँ व्यावसायिक कार्यों की लागत न्यूनतम हो तथा प्राप्त लाभ अधिकतम हो। इसीलिए भूमि, श्रम, कच्चा माल, जल, विद्युत, परिवहन, भंडारण तथा अन्य सुविधाओं की उपलब्धता एवं लागत से संबंधित विस्तृत जानकारी सहित वैकल्पिक स्थलों पर भी विचार किया जाना चाहिए।

स्थापित की जाने वाली उत्पादन क्षमता भी समान महत्व का विषय है। स्थापित की जाने वाली उत्पादन क्षमता के संबंध में निर्णय लेने के लिए वर्तमान माँग एवं पूर्ति की स्थितियों को तथा वर्तमान प्रतियोगी फर्मों की उत्पादन क्षमता को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। उत्पादन क्षमता अथवा उत्पादन तकनीक एक अन्य तत्व है जो उत्पादन के पैमाने का निर्धारण करता है। नवीनतम तकनीक का प्रयोग हमेशा वांछनीय समझा जाता है। लेकिन जिस तकनीक का चयन किया जाए वह ऐसी होनी चाहिए जिसका सफलतापूर्वक प्रयोग हो चुका हो तथा जिसके लिए आवश्यक कुशल कर्मचारी उपलब्ध हों।

प्रत्याशित लाभों के अनुमानों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। बेची गई प्रति इकाई उत्पाद पर लाभ की मात्रा एक ओर प्रति इकाई विक्रय मूल्य पर तथा दूसरी ओर प्रति इकाई कुल लागत पर निर्भर करती है। जैसा कि आप जानते हैं लागत हमेशा स्थिर नहीं रहती तथा प्रायः लागत की प्रवृत्ति घटने के स्थान पर बढ़ने की होती है। इसलिए भावी लागतों का अनुमान करते समय लागतों में वृद्धि की संभावना के लिए भी व्यवस्था की जानी चाहिए। यदि बढ़ती हुई लागतों के अनुरूप ही विक्रय मूल्य को समायोजित कर लिया जाता है तो लाभ पहले जितना ही रहेगा। लेकिन एक प्रतियोगी बाजार में बढ़ती हुई लागतों के अनुरूप विक्रय मूल्य बदलना हमेशा संभव नहीं होता। यदि ऐसा है तो लाभ की मात्रा घट भी सकती है। इसलिए लाभों का अनुमान करते समय लागत की भावी प्रवृत्तियों का तथा लाभों पर उनके संभावित प्रभाव का विश्लेषण करना आवश्यक है।

बोध प्रश्न

1. व्यवसाय की व्यवहार्यता किसे कहते हैं?

....

....

....

....

2. व्यवसाय की व्यवहार्यता का निर्धारण करने वाले तत्वों का नाम बताइये।

....

....

....

....

16.5 व्यवहार्यता रिपोर्ट

व्यवसाय की व्यवहार्यता की व्यवस्थित ढंग से जाँच करने के लिए प्रस्तावित व्यवसाय के विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत रिपोर्ट के आधार पर विचार किया जाता है। ऐसी रिपोर्ट तैयार करने के लिए प्रवर्तक साधारणतया विशेषज्ञों की सहायता लेते हैं। इन रिपोर्टों से उन भावी परिस्थितियों का सही ज्ञान हो जाता है जिनके अंतर्गत व्यवसाय का संचालन होना है। इस प्रकार प्रस्तावित व्यवसाय के तकनीकी, आर्थिक, वाणिज्यिक, वित्तीय एवं प्रबंधकीय प्रत्येक पहलू से संबंधित एक अलग रिपोर्ट उपलब्ध हो सकेगी। ये रिपोर्ट व्यवहार्यता रिपोर्ट कहलाती है क्योंकि इन्हीं रिपोर्टों के आधार पर व्यवसाय की व्यवहार्यता अथवा साध्यता का निर्धारण किया जाता है। आइये, अब हम देखें कि व्यवसाय की व्यवहार्यता की जाँच विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर किस प्रकार की जाती है।

16.5.1 तकनीकी व्यवहार्यता

तकनीकी दृष्टि से व्यवहार्यता की जाँच के लिए व्यवसाय के निम्नलिखित तीन पहलुओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाना चाहिए:

1. संयंत्र अथवा कारखाने का स्थान
2. संयंत्र की उत्पादन क्षमता
3. उद्योग की तकनीकी आवश्यकताएँ

सर्वाधिक लाभप्रद स्थल का चयन करने के लिए वैकल्पिक स्थलों पर विचार करना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि जल, विद्युत, शक्ति, भूमि, श्रम, कच्चा माल, परिवहन, निवास आदि अनिवार्य सेवाओं की उपलब्धता तथा आपूर्ति के संदर्भ में प्रत्येक वैकल्पिक स्थल के अपने–अपने लाभ तथा सीमाएँ होती हैं। हो सकता है कि इनमें से कुछ आवश्यक साधन कुछ स्थलों पर उपलब्ध ही न हों अथवा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हों। लागत की दृष्टि से कच्चे माल, ईंधन, विद्युत शक्ति आदि की आपूर्ति के लिए उनके स्रोत स्थानों की निकटता काफी लाभप्रद होती है। लेकिन अन्य बातों के संबंध में कुछ हानियाँ हों, जैसे, दूरस्थ बाजारों में निर्मित वस्तुओं को पहुँचाने की अतिरिक्त लागत आदि, तो लागत का यह लाभ इन हानियों की पूर्ति के लिए पर्याप्त होना चाहिए। अतः किसी विनिर्माण कार्यकलाप की तकनीकी व्यवहार्यता एक ओर तो

कच्चे माल, ईंधन, विद्युत शक्ति आदि की उपलब्धता एवं सापेक्ष लागत पर निर्भर करती है तथा दूसरी ओर निर्मित वस्तुओं को बाजारों तक पहुँचाने की परिवहन लागत पर निर्भर करती हैं। एक आदर्श स्थल वह स्थल होता है जहाँ कच्चे माल आदि की तथा निर्मित वस्तुओं के परिवहन की संयुक्त लागत न्यूनतम हो। संयंत्र का आकार अथवा उत्पादन क्षमता तकनीकी व्यवहार्यता का एक अन्य पहलू है। संयंत्र की संस्थापित उत्पादन क्षमता दो बातों के आधार पर निर्धारित की जाती है (1) बाजार का आकार अर्थात् संभावित विक्रय तथा (2) संयंत्र का अनुकूलतम आकार अर्थात् उत्पादन की वह मात्रा जहाँ प्रति इकाई उत्पादन लागत न्यूनतम हो। संयंत्र के आकार के संबंध में निर्णय लेने के लिए बाजार के आकार अथवा संभावित माँग को ध्यान में रखना चाहिए। यदि बाजार का आकार छोटा है तो आप एक बहुत बड़े संयंत्र के बारे में सोच भी नहीं सकते। यदि आप एक बड़ा संयंत्र स्थापित करते हैं तो जितना माल आप बेच सकते हैं, आपका उत्पादन उससे अधिक होगा। दूसरी ओर यदि आप बाजार के आकार अथवा संभावित विक्रय के अनुरूप एक छोटा संयंत्र स्थापित करते हैं तो संयंत्र का आकार अनुकूलतम आकार से छोटा हो सकता है। और यदि संयंत्र का आकार अनुकूलतम आकार से छोटा है तो उत्पादन को देखते हुए अत्यधिक पूँजीगत व्यय के कारण उत्पादन लागत अधिक आएगी। अतः संयंत्र के आकार अथवा उत्पादन क्षमता से संबंधित निर्णय अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। यह निर्णय संभावित बाजार को तथा संयंत्र के अनुकूलतम आकार को ध्यान में रखकर ही लिया जाना चाहिए। तकनीकी व्यवहार्यता को निर्धारित करने वाला तीसरा महत्वपूर्ण तत्व है– तकनीक की उपयुक्तता अथवा प्रयोग में लाई जाने वाली विनिर्माण प्रक्रिया। यदि यथार्थ परिस्थितियों में इसकी साध्यता के उचित परीक्षण के बिना किसी नई तकनीकी प्रक्रिया का तथा इसके लिए आवश्यक मशीनरी का उपयोग करने का प्रस्ताव है तो संभव है कि वास्तविक क्रियान्वयन के समय प्रत्याशित परिणाम न निकले। इस प्रकार के जोखिम को कम किया जाना चाहिए। अतः नवीन प्रक्रियाओं तथा मशीनरी का उपयोग तभी किया जाना चाहिए जबकि अन्य उद्यमों में उनके सफल प्रयोग का प्रमाण मिल चुका हो। इसके विपरीत यदि व्यापक रूप से प्रयोग में लाए जाने वाले उपस्करों तथा प्रक्रियाओं का उपयोग किया जाता है तो तकनीकी रूप से अधिक प्रभावशाली प्रक्रियाओं के विकास के कारण उनके अप्रचलित होने की जोखिम बनी रहती है। एक प्रतियोगी बाजार में कोई व्यवसाय ठहर ही नहीं सकता यदि इसकी उत्पादन कुशलता उतनी अच्छी नहीं है जितनी कि इसके प्रतियोगियों की। यदि नवीनतम तकनीक का उपयोग किया जाए तथा उत्पाद की लागत एवं किस्म को ध्यान में रखते हुए उत्पादन में कुशलता हो तो उत्पादन की तकनीकी व्यवहार्यता स्वयं निश्चित हो जाती है।

16.5.2 आर्थिक व्यवहार्यता

आर्थिक व्यवहार्यता का अध्ययन साधारणतया उत्पाद के बाजार विश्लेषण पर आधारित होता है। आर्थिक व्यवहार्यता का निर्धारण करने के लिए उत्पाद से संबंधित बाजार के तीन पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है। इसके लिए निम्नलिखित तीन पहलुओं पर विचार किया जाना चाहिए– (i) बाजार का आकार, (ii) बाजार का संभावित विकास, तथा (iii) बाजार का वह भाग जिस पर अधिकार कर सकने की आशा हो।

कुल बाजार का अथवा किसी नए उत्पाद के बाजार का निर्धारण बाजार अनुसंधान तथा बाजार सर्वेक्षण के आधार पर किया जा सकता है। यदि ऐसी संभावना है कि उत्पाद को किसी स्थानापन्न उत्पाद से प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ेगा तो उस स्थानापन्न उत्पाद की बाजार–माँग को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। बाजार प्रकृति का पता लगाने के लिए इस बात की भी जाँच की जानी चाहिए कि पिछले कुछ

वर्षों में स्थानापन्न उत्पाद की माँग बढ़ी है अथवा नहीं। यदि आपके उत्पाद का उपयोग अन्य विनिर्माताओं द्वारा किया जाता है तो उन विनिर्माताओं की वर्तमान तथा भावी माँग का अध्ययन करना भी आवश्यक है। इसका कारण यह है कि आपके उत्पाद की माँग उन विनिर्माताओं द्वारा बनाए जाने वाले उत्पादों पर निर्भर करेगी। मान लीजिए कि आप कोई टायर और ट्यूब बनाने का उद्योग शुरू करने की योजना बनाते हैं। इस स्थिति में टायर और ट्यूब की माँग ज्ञात करने के लिए आपको कारों की वर्तमान माँग का अनुमान लगाना होगा।

किसी उत्पादन की माँग का निर्धारण करने के लिए बाजार का भौगोलिक फैलाव एक अन्य महत्वपूर्ण घटक है। कुछ परिस्थितियों में भावी ग्राहकों की एक बहुत बड़ी संख्या एक छोटे से क्षेत्र में केन्द्रित हो सकती है। कुछ अन्य परिस्थितियों में थोड़े से भावी ग्राहक पूरे देश में फैले हुए हो सकते हैं। आपकी वितरण नीति भावी ग्राहकों के भौगोलिक फैलाव पर निर्भर करेगी। यदि आप एक नवीन निर्माण तकनीक को अपनाना चाहते हैं तो आपको इस बात का अध्ययन करना होगा कि क्या आपके उत्पाद का बाजार क्षेत्र प्रतियोगियों के बाजार क्षेत्र से अलग होगा। अतः बाजार के भौगोलिक फैलाव का अध्ययन भी निर्णायक होता है।

बाजार की प्रकृति का अध्ययन करने के पश्चात उत्पाद की भावी माँग का अध्ययन करना भी आवश्यक है। सामान्यतः प्रत्येक वर्ष के अनुमान तैयार किए जाते हैं। किसी नए उत्पाद को बाजार में लाने के बाद की प्रारम्भिक अवधि में उपभोक्ता उत्पाद की उपयोगिता से पूर्णतया अवगत नहीं होते। समय के साथ–साथ उपभोक्ताओं द्वारा उत्पाद की व्यापक स्वीकृति के कारण विक्रय में वृद्धि होती है। लेकिन कुछ समय बाद बाजार में प्रतियोगी उत्पादों तथा स्थानापन्न वस्तुओं के प्रवेश के कारण विक्रय में कमी हो सकती है। अतः भावी माँग का अनुमान लगाते समय कई मान्यताओं का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरण के लिए, यह माना जा सकता है कि उपभोक्ताओं की आय में वृद्धि के कारण अथवा अन्य उत्पादों के लिए स्थानापन्न उत्पाद के रूप में इस उत्पाद के व्यापक उपयोग के कारण माँग में अत्यधिक वृद्धि होगी। एक टिकाऊ उपभोज्य उत्पाद के लिए यह माना जा सकता है कि उपभोक्ता नियमित अन्तरालों पर इसका प्रतिस्थापन करेंगे। लेकिन इन सभी मान्यताओं का तथ्यों एवं तर्कों द्वारा अनुमोदन आवश्यक है।

बाजार अध्ययन का तीसरा पहलू है– बाजार का वह भाग जिस पर उत्पाद का अधिकार हो सकने की आशा हो। बाजार भाग का अनुमान लगाने के लिए प्रतियोगियों के बाजार भाग का अनुमान लगाना आवश्यक है। यदि नया उत्पाद अधिक अच्छी किस्म का है अथवा अधिक उपयोगी है तो भी उपभोक्ताओं द्वारा उसकी किस्म अथवा उपयोगिता की ग्राह्यता में समय लग सकता है। इस बात को जोखिम हमेशा बनी रहती है कि उपभोक्ता उस उत्पाद को पसंद न करें अथवा कुछ समय बाद इसे अस्वीकृत कर दें। इसके अतिरिक्त किसी नए उत्पाद के विपणन में भी काफी समय लग सकता है। उत्पाद की भावी माँग का अनुमान करते समय इन सभी तत्वों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

16.5.3 वित्तीय व्यवहार्यता

व्यवसाय की वित्तीय दृष्टि से व्यवहार्यता वित्तीय साध्यता कहलाती है। वित्तीय साध्यता का अध्ययन व्यवसाय स्थापित करने के प्रारम्भिक खर्चे की गणना से प्रारंभ किया जाना चाहिए। प्रारम्भिक खर्चे में स्थान के विकास की लागत, सड़कों एवं भवनों के निर्माण की लागत, संयंत्र एवं मशीनरी संस्थापना की लागत आदि लागतें शामिल होती हैं। यदि सभी प्रकार की लागतों को शामिल किए बिना अनुमान तैयार किए जाते

हैं तो जो व्यवसाय व्यावहारिक रूप से स्थापित हो चुका होता है उस समय वित्त की कमी हो सकती है। यदि लागतों का अनुमान अधिक लगाया जाता है तो अतिरिक्त ऋण के कारण अधिक ब्याज देना पड़ेगा। अतः लागतों का अनुमान सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। निर्माण अवधि के दौरान लागतों की संभावित वृद्धि के लिए भी व्यवस्था की जानी चाहिए। प्रारम्भिक खर्चे के अतिरिक्त संयंत्र एवं मशीनरी, फर्नीचर आदि स्थायी संपत्तियों की लागतों का तथा आवश्यक अल्पकालीन वित्त अर्थात् कार्यशील पूँजी ;वतापदह बंचपजंसद्ध का भी अनुमान लगाया जाना चाहिए। अल्पकालीन वित्त की रकम में वर्तमान उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल का स्टाक रखने की लागत, मजदूरी तथा वेतन, जिनका भुगतान किया जाना है, तथा व्यवसाय संचालन के लिए आवश्यक अन्य चालू व्यय शामिल होते हैं। व्यवसाय के कार्यकलापों के परिचालन के लिए तथा व्यवसाय स्थापित करने के विभिन्न चरणों पर पूँजी की आवश्यकताओं का अनुमान लगाना भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। वित्तीय साध्यता की रिपोर्ट में यह भी दर्शाया जाना चाहिए कि जितनी कुल पूँजी एकत्रित करनी है उसमें उधार ली हुई पूँजी (ऋण) तथा स्वामित्व पूँजी (अंश पूँजी) का क्या अनुपात होगा।

विक्रय से प्राप्त आय का तथा प्रत्याशित लाभों का अनुमान उत्पादन लागत तथा उत्पाद के विक्रय मूल्य के आधार पर लगाया जाना चाहिए। प्रारंभिक अवधि में तथा बाद के वर्षों में उत्पादन एवं विक्रय की प्रत्याशित मात्रा को ध्यान में रखकर ही बनाए जाते हैं। साधारणतया यह मानकर चला जाता है कि प्रथम वर्ष में उत्पादन क्षमता का उपयोग उचित दर से किया जाएगा और बाद में जब विक्रय में वृद्धि होगी तो धीरे–धीरे उत्पादन क्षमता भी बढ़ा दी जाएगी।

किसी व्यवसाय की वित्तीय व्यवहार्यता न केवल अर्जित लाभों पर निर्भर करती है अपितु काफी हद तक वर्तमान एवं भावी देयताओं जैसे ऋणों पर ब्याज, लेनदारों को भुगतान तथा देय होने पर ऋणों की वापसी आदि का भुगतान करने की क्षमता पर भी निर्भर करती है। यदि रोकड़ प्रवाह पर्याप्त है तो यह क्षमता बनी रह सकती है। अतः आगामी तीन से पाँच वर्षों तक के लिए रोकड़ के आगत प्रवाहों तथा निर्गत प्रवाहों के अनुमान तैयार करने होते हैं। रोकड़ के निर्गत प्रवाहों का अनुमान, किए जाने वाले व्यय, आवर्ती देयताओं का किया जाने वाला भुगतान (जैसे लेनदारों को भुगतान, करों का भुगतान, ऋणों का ब्याज आदि), दीर्घकालीन ऋणों से संबंधित वापिस की जाने वाली किश्तें आदि बातों के आधार पर लगाए जाते हैं। रोकड़ के आगत प्रवाहों का अनुमान देनदारों एवं ग्राहकों से वसूली, अतिरिक्त ऋणों अथवा अंश पूँजी की प्रत्याशित प्राप्ति तथा अन्य कोई आय जैसे, किराया अथवा दिए गए ऋणों पर ब्याज आदि के आधार पर किया जाता है।

16.5.4 वाणिज्यिक व्यवहार्यता

क्या व्यवसाय प्रारम्भ करने का प्रस्ताव वाणिज्यिक रूप से सफल हो सकेगा, यह बात कई घटकों पर निर्भर करती है जैसे उत्पाद की प्रत्याशित माँग, उत्पादन लागत, वितरण एवं प्रशासन व्यय, व्यवसाय की प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य पर प्रत्याशित विक्रय कर सकने की क्षमता तथा समान अथवा स्थानापन्न उत्पादों के निर्माताओं से प्रतिस्पर्धा की प्रबलता। अतः वाणिज्यिक व्यवहार्यता का निर्धारण करने के लिए कुछ समय बाद बाजार में जिस प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहेगी उसकी प्रकृति को ध्यान में रखते हुए परिचालन लागतों का अनुमान करना तथा विक्रय मूल्य को प्रत्याशित करना आवश्यक है। चूँकि समय के साथ–साथ कच्चे माल की लागत में तथा मजदूरी में साधारणतया वृद्धि होती है, अतः इन लागतों की भावी वृद्धि के लिए पर्याप्त व्यवस्था की

जानी चाहिए। प्रत्येक वर्ष के लिए विक्रय से प्राप्त आय का भी अनुमान संभावित भावी प्रतिस्पर्धा को ध्यान में रखते हुए लगाया जाना चाहिए।

16.5.5 प्रबंधकीय व्यवहार्यता

किसी भी व्यवसाय की सफलता अथवा असफलता अंतिम रूप से उन व्यक्तियों की कुशलता एवं योग्यता पर निर्भर करती है, जो व्यावसायिक उपक्रम को चलाते है। यद्यपि तकनीकी, आर्थिक, वित्तीय तथा वाणिज्यिक दृष्टियों से व्यवसाय समृद्ध है तो भी प्रबंधकीय दृष्टि से इसकी व्यवहार्यता पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए। जिन प्रबंधकों के पास आवश्यक कुशलता एवं अनुभव है केवल वे ही व्यक्ति अंततोगत्वा व्यवसाय को लाभप्रद बना सकते हैं। आवश्यक प्रबंधकीय एवं तकनीकी कर्मचारी उपलब्ध हैं अथवा नहीं, इस बात का पता लगाना भी आवश्यक है। उचित मात्रा में कुशल कर्मचारियों की उपलब्धता के अभाव में उत्पादन लागत अधिक हो सकती है, उत्पादन प्रक्रिया में हानि अथवा क्षय हो सकता है, उत्पादन तथा विक्रय के स्तर में गिरावट आ सकती है इत्यादि–इत्यादि। अतः प्रबंधकीय दृष्टिकोण से भी व्यवसाय की व्यवहार्यता की जाँच होनी चाहिए।

बोध प्रश्न

1. आर्थिक व्यवहार्यता एवं वित्तीय व्यवहार्यता में अंतर बताइये।

....

....

....

....

2. तकनीकी व्यवहार्यता एवं वाणिज्यिक व्यवहार्यता में अंतर बताइये।

....

....

....

16.6 सारांश

जब किसी उद्यमी को व्यावसायिक अवसर प्राप्त होता है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता है कि वह व्यवहार में उस व्यवसाय को चलाने में समर्थ होगा। अतः व्यवसाय प्रारंभ करने से पहले उद्यमी को तकनीकी, आर्थिक, वित्तीय, वाणिज्यिक एवं प्रबंधकीय दृष्टिकोणों से व्यवसाय की साध्यता का अध्ययन करना पड़ता है। यह व्यवसाय की व्यवहार्यता कहलाती है। वास्तव में व्यवसाय शुरू करने से पहले व्यवसाय की लाभार्जन क्षमता एवं भावी प्रत्याशाओं का निर्धारण करने के लिए प्रवर्तकों के लिये ये व्यवहार्यता रिपोर्ट अत्यंत आवश्यक है। क्या इस व्यवसाय में विनियोग सुरक्षित एवं लाभप्रद होगा, इस बात का विश्लेषण करने के लिए व्यवसाय में विनियोग करने वाले जनसाधारण के लिए भी व्यवहार्यता–अध्ययन की आवश्यकता है। वित्तीय संस्थाओं से ऋण प्राप्त करने के लिए भी उनके सम्मुख अनुज्ञा, नियंत्रित दरों पर कच्चा माल प्राप्त करने के लिए आज्ञापत्र आदि प्राप्त करने हेतु सरकार के सम्मुख व्यवहार्यता रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होती है।

PLONE-029

व्यवसाय की व्यावहार्यता निर्धारण करने के लिए निम्न पहलुओं पर विचार किया जाना चाहिए– क्या प्रस्तावित उद्योग को पंचवर्षीय योजना में प्राथमिक उद्योग के रूप में दिखाया गया है, गत वर्षों की माँग तथा प्रत्याशित भावी माँग, वर्तमान उत्पादन क्षमता, तकनीकी विकल्प, कुशल कर्मचारियों की उपलब्धता, लागत संरचना तथा लाभार्जन क्षमता आदि।

व्यवसाय की व्यवहार्यता का व्यवस्थित ढंग से अध्ययन करने के लिए प्रस्तावित व्यावसाय के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण विस्तृत रिपोर्टों के आधार पर किया जाना चाहिए। इसके लिए प्रस्तावित व्यवसाय के तकनीकी, आर्थिक, वाणिज्यिक, वित्तीय तथा प्रबंधकीय, प्रत्येक पहलू के लिए एक अलग रिपोर्ट तैयार की जाती है। तकनीकी व्यवहार्यता के अंतर्गत तीन पहलुओं की विस्तृत रूप से जाँच की जाती है। ये पहलू हैं: (1) संयंत्र अथवा कारखाने का स्थल (2) संयंत्र का आकार अथवा उत्पादन क्षमता तथा (3) तकनीकी विकल्प। आर्थिक व्यवहार्यता मुख्य रूप से उत्पाद के बाजार सर्वेक्षण से संबंध रखती है। आर्थिक व्यवहार्यता के अंतर्गत तीन पहलुओं का विश्लेषण किया जाता है– (1) बाजार का आकार (2) बाजार का प्रत्याशित विकास तथा (3) बाजार का वह भाग जिस पर अधिकार कर सकने की आशा हो। वित्तीय व्यवहार्यता का संबंध मुख्य रूप से व्यवसाय की वित्तीय आवश्यकताओं के विस्तृत अनुमानों से तथा वित्त के विभिन्न स्रोतों से होता है। वाणिज्यिक व्यवहार्यता के निर्धारण के लिए समय के साथ बाजार में जिस प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहेगी उसकी आकृति को ध्यान में रखते हुए परिचालन लागतों का अनुमान तैयार करना तथा विक्रय मूल्य को प्रत्याशित करना आवश्यक है। प्रबंधकीय व्यवहार्यता व्यवसाय संचालन के लिए आवश्यक तकनीकी तथा प्रबंधकीय कुशलता की उपलब्धता की जाँच करती है।

16.7 उपयोगी शब्दावली

- **व्यावसायिक व्यवहार्यता (Business Feasibility):** तकनीकी, आर्थिक, वित्तीय वाणिज्यिक एवं प्रबंधकीय दृष्टियों से व्यावसायिक उपक्रम की साध्यता।
- **वाणिज्यिक व्यवहार्यता (Commercial Feasibility):** समय के साथ बाजार में जिस प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहेगी उसकी प्रकृति को ध्यान में रखते हुए अनुमानित परिचालन लागतों की प्रत्याशित विक्रय मूल्य से तुलना करके व्यवसाय की वाणिज्यिक व्यवहार्यता की जाँच।
- **आर्थिक व्यवहार्यता (Economic Feasibility):** बाज़ार के आकार, बाजार के प्रत्याशित विकास तथा जिस भाग पर अधिकार कर सकने की आशा है, उस बाजार भाग के विश्लेषण द्वारा व्यवसाय की आर्थिक व्यवहार्यता की जाँच।
- **वित्तीय व्यवहार्यता (Financial Feasibility):** वर्तमान तथा भावी देयताओं को चुकाने की क्षमता सहित व्यवसाय की वित्तीय आवश्यकताओं का तथा इसे प्राप्त करने के विभिन्न स्रोतों का विस्तृत अनुमान।
- **प्रबंधकीय व्यवहार्यता (Managerial Feasibility):** व्यवसाय चलाने के लिए तकनीकी तथा प्रबंधकीय कुशलताओं तथा आवश्यकताओं की जाँच।
- **तकनीकी व्यवहार्यता (Technical Feasibility):** संयंत्र के स्थल, संयंत्र के आकार अथवा उत्पादन क्षमता तथा तकनीकी विकल्पों के विश्लेषण द्वारा व्यवसाय की तकनीकी व्यवहार्यता की जाँच।

16.8 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. व्यवसाय की व्यवहार्यता किसे कहते हैं? किसी व्यवसाय की व्यवहार्यता की जाँच क्यों की जाती है?

प्रश्न 2. किसी व्यवसाय की व्यवहार्यता का निर्धारण करने के लिए कौन–कौन से मुख्य घटकों पर विचार किया जाना चाहिए?

प्रश्न 3. व्यवहार्यता रिपोर्ट के विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4. व्यवसाय की तकनीकी व्यवहार्यता का निर्धारण करने के लिए जिन विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जाना चाहिए उनका संक्षिप्त विवरण दीजिए।

प्रश्न 5. व्यवसाय की आर्थिक व्यवहार्यता से आप क्या समझते हैं? आर्थिक व्यवहार्यता का निर्धारण करने के लिए जिन विभिन्न पहलुओं का आध्ययन किया जाता है, उनका वर्णन कीजिए।

प्रश्न 6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखियेः

अ. वाणिज्यिक व्यवहार्यता

ब. प्रबंधकीय व्यवहार्यता

स. वित्तीय व्यवहार्यता

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- इन्दिरा गा0रा0मु0वि0 प्रकाशन ई0सी0ओ0 01, नई दिल्ली, 1985
- **दीपक लालः** मेथड्स ऑफ प्रोजेक्ट अनालेसिस : ए रिव्यू, (वाशिंगटन–विश्व बैंक, 1974)
- **भारत सरकारः** औद्योगिक परियोजनाओं की व्यवहार्यता रिपोर्ट तैयार करने के लिये निर्देश, (नई दिल्ली योजना कमीशन, 1975)

B.Com-101

व्यावसायिक संगठन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड – 5

सरकार और व्यवसाय

इकाई – 17 **225**

व्यवसाय में सरकार की भूमिका

इकाई – 18 **235**

सार्वजनिक उपक्रम

इकाई – 19 **243**

सार्वजनिक उपक्रमों में संगठन के स्वरूप

इकाई – 20 **257**

लोकोपयोगी सेवा संस्थाएँ

PLONE-029

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 अरविन्द कुमार	वाणिज्य संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो0 गीतिका	विभागाध्यक्ष, प्रबन्ध अध्ययन विद्याशाखा एम0एन0आई0टी0 प्रयागराज
प्रो0 एच0के0 सिंह	वाणिज्य संकाय बी0एच0यू0 वाराणसी
डॉ0 ओमजी गुप्ता	निदेशक प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा प्रयागराज

लेखक

डॉ0 दिनेश कुमार — एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग
ए0डी0सी0 प्रयागराज विश्वविद्यालय, प्रयागराज उ0प्र0

सम्पादक

प्रो0 एच0 के0 सिंह — वाणिज्य संकाय
बी0एच0यू0 वाराणसी

परिमापक

अनुवाद की स्थिति में

मूल लेखक	अनुवाद
मूल सम्पादक	भाषा सम्पादक
मूल परिमापक	परिमापक

सहयोगी टीम

संयोजक

डॉ0 देवेश रंजन त्रिपाठी — सहायक आचार्य, व्यापार प्रबन्धन अध्ययन विद्याशाखा
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज.

प्रकाशक

सितम्बर, 2020 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2020

ISBN-978-93-83328-76-5

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन : उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक : कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2020

मुद्रक- के0सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी , मथुरा- 281003.

खण्ड परिचय

सरकार और व्यवसाय

वर्तमान युग मुक्त व्यापार, वैश्वीकरण एवं उदारीकरण का है। इन प्रवृत्तियों के कारण उद्योग एवं व्यापार का संकेन्द्रण भी कुछ ही हाथों में होने लगा है। ऐसी दशा में क्षेत्रीय असन्तुलन की स्थिति पैदा हो गई है। सरकार को एकाधिकारी प्रवृत्ति रोकने के लिये एवं तेज औद्योगिक एवं अवस्थापना के विकास के लिये स्वयं आगे आना पड़ता है। इस प्रयास को सार्वजनिक उपक्रम कहते हैं। सार्वजनिक उपक्रमों के ही माध्यम से सरकार लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं को भी संचालित करती है। इस खण्ड में कुल चार इकाइयां हैं–

इकाई 17 में व्यवसाय में सरकार की भूमिका का वर्णन किया गया है।

इकाई 18 में सार्वजनिक उपक्रम के बारे में बताया गया है।

इकाई 19 में सार्वजनिक उपक्रमों के विभिन्न स्वरूप एवं प्रबन्ध की चर्चा की गई है।

इकाई 20 में लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं के बारे में जिक्र है।

PLONE-029

PLONE-029

इकाई–17 व्यवसाय में सरकार की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 निजी व्यवसाय पर सरकारी नियंत्रण के कारण

17.3 सरकारी नियंत्रण के रूप

17.4 सरकार व्यवसाय में क्यों भाग लेती है

17.4.1 मूल कारण

17.4.2 सैद्धान्तिक कारण

17.5 सारांश

17.6 उपयोगी शब्दावली

17.7 महत्वपूर्ण प्रश्न

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- बता पाएँ कि निजी उद्यमों के व्यावसायिक कार्यों पर सरकार नियंत्रण क्यों करती है?
- सरकारी नियंत्रण के रूपों का स्पष्टीकरण कर सकें।
- व्यवसाय में सरकार के भाग लेने के मूल एवं सैद्धान्तिक कारण बता सकें।

17.1 प्रस्तावना

प्राचीन काल से ही व्यवसाय संबंधी कार्य व्यक्तियों तथा निजी संगठनों के हाथ में होता था। आधुनिक प्रतियोगी बाजार में व्यवसायी वर्ग के लाभ अभिप्रेरण (profit-motive) तथा माँग और पूर्ति की शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देने से उत्पादन पर्याप्त मात्रा में होता है तथा वस्तुओं और सेवाओं का वितरण इस प्रकार होता है कि समाज के सभी वर्ग के लोगों के हितों की रक्षा होती है। परन्तु इस नीति के फलस्वरूप एकाधिकार में बेरोकटोक वृद्धि होती रही और कुछ थोड़े से व्यवसाय गृहों (business houses) के हाथों में धन संचित होता रहा। निजी उपक्रमियों का मुख्य प्रयोजन लाभ कमाना होता है। उनकी रूचि ऐसे उद्यमों में नहीं होती जिनमें लाभ की गुंजाइश कम होती है, पक्वानावधि (gestation period) लम्बी होती है तथा निवेश की राशि बहुत बड़ी होती है। उद्योगों का संकेन्द्रण कुछ ऐसे स्थानों में होता चला जाता है जहाँ पर कच्चे माल, तकनीकी कौशल, आधारभूत सुविधाएँ (infrastructural facilities),

बाजार की समीपता आदि प्राकृतिक सुलाभ उपलब्ध हों। चूंकि सभी क्षेत्रों में ये प्राकृतिक सुलाभ उपलब्ध नहीं होते, अतः क्षेत्रीय असंतुलन ;तमहपवदंस पउइंसंदबमद्ध की स्थिति पैदा हो जाती है इस स्थिति में सरकार के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह एकाधिकार की वृद्धि और संपत्ति के संकेन्द्रण को रोकने तथा संतुलित क्षेत्रीय विकास को बढ़ाने के संबंध में कुछ कदम उठाए। सरकार निजी उद्यमकर्ताओं के व्यावसायिक कार्यों को विनियमित करती है। इस इकाई में जिन विषयों के संबंध में विचार किया जाएगा वे हैंः निजी व्यवसाय पर सरकारी नियंत्रण के कारण इन नियंत्रणों के अनेक रूप, व्यवसाय में सरकारी सहभागिता के मूल कारण आदि।

17.2 निजी व्यवसाय पर सरकारी नियंत्रण के कारण

उन कारणों के संबंध में विस्तार से चर्चा की जायेगी जिनके फलस्वरूप सरकार को निजी व्यवसाय के क्रियाकलापों का विनियमन और नियंत्रण करना पड़ता है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित है :

1. **निजी स्वामित्व के दोषः** मुक्त उद्यम एवं निजी स्वामित्व के निम्नलिखित दोष हैं :

   i) व्यवसाय के मुक्त होने के कारण बड़ी–बड़ी व्यावसायिक फर्में कुछ एकाधिकारियों के स्वामित्व में आ गई। एकाधिकारी शक्ति का प्रयोग उत्पादन पर प्रतिबंध लगाने तथा कीमतों को बढ़ाने के लिए किया जाने लगा जिससे अधिक लाभ कमाया जा सके।

   ii) व्यवसाय पर निजी स्वामित्व के चलते संपत्ति का संकेन्द्रण कुछ थोड़े से व्यावसायिक गृहों के हाथ में हो गया। इस कारण लोगों के बीच आय और संपत्ति की बहुत असमानता आ गई।

   iii) कंपनियों का आकार बड़ा होने लगा, जिसके फलस्वरूप बाजार मे नई फर्मों के प्रवेश पर रोक सी लग गई।

   iv) लाभ कमाने के लिए निजी उपक्रम या उद्यमी हानिकर विज्ञापन और अनुचित प्रतियोगिता का आश्रय लेने लगे।

   v) व्यवसाय में समय–समय पर तेजी और मंदी आने लगी। मंदी के कारण लोग बड़े पैमाने पर बेकार होने लगे जिससे उनकी परेशानियाँ बढ़ गई। दूसरी ओर तेजी के समय से सट्टेबाजी के कारण व्यवसाय चौपट होने लगे और आर्थिक संकट आने लगे।

2. **लोककल्याणकारी राज्य की स्थापनाः** सरकार पर जनता का दिन प्रति दिन दबाव बढ़ने लगा कि वह एकाधिकारियों पर नियंत्रण, उचित व्यापार प्रथाओं की स्थापना तथा आय और संपत्ति का समान वितरण करके समाज का कल्याण करे और सामान्य जनता के हितों की रक्षा करे।

3. **सुनियोजित आर्थिक विकासः** आधार भूत उद्योगों के तेजी से विकास के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है, जिनमें बहुत बड़ी राशि के निवेश की जरूरत पड़ती है या जिनका प्रतिफल बहुत ही कम होता है। इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था को सुनियोजित दिशा देने के लिए यह आवश्यक होता है कि कुछ उद्योगों की संवृद्धि को प्राथमिकता दी जाए। लेकिन निजी उपक्रमी का मुख्य उद्देश्य विकास की प्राथमिकता नहीं बल्कि लाभ कमाना होता है। इसके अतिरिक्त निजी उद्यमों का संकेन्द्रण ऐसे कुछ क्षेत्रों में होता है जहाँ पर

सुविधाएँ आसानी से उपलब्ध हों। इस प्रकार देश के पिछड़े क्षेत्र औद्योगिक विकास के लाभ से वंचित रह जाते हैं। इसलिए राष्ट्र के तेजी से आर्थिक विकास के लिए सरकार से अपेक्षा की जाती है कि वह निजी व्यवसाय को विनीयमित करे तथा निजी निवेश को योजनाबद्ध कार्यों में लगाए। सरकार के लिए यह भी आवश्यक होता है कि वह औद्योगिक और व्यवसायिक कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग ले जिससे विकास की प्रक्रिया में तेजी आ सके।

4. **अन्य कारण:** निजी व्यवसाय पर सरकारी विनियमन के कुछ और भी कारण हैं:

   i) निजी फर्मों को अपने लाभ के लिए खनिज, वन आदि दुर्लभ प्राकृतिक साधनों का दुरूपयोग करने से रोकना।

   ii) भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर दुर्लभ साधनों के समुचित उपयोग को निश्चित करना।

   iii) लघु उद्योगों को प्रोत्साहन तथा संरक्षण देना।

   iv) विदेशी निवेशकों के प्रभुत्व से अर्थव्यवस्था को सुरक्षित रखना।

17.3 सरकारी नियंत्रण के स्वरूप

हम देखेंगे कि निजी उद्यम के विनियमन के लिए सरकार क्या उपाय करती है। निजी व्यवसाय पर सरकारी विनियमन निजी कार्यकलापों पर नियंत्रण तक ही सीमित नहीं होता। सच तो यह है कि नियंत्रण संबंधी इन उपायों का व्यवसाय पर नियंत्रण के साथ–साथ उत्प्रेरक प्रभाव भी पड़ता है इन उपायों का उत्प्रेरक प्रभाव तब पड़ता है जब इनका उद्देश्य तकनीकी और वित्तीय सहायता, कर रियायतों, आर्थिक सहायता, बैंक ऋण, कच्चे माल या मशीनों के आयात के लिए विदेशी मुद्रा की पूर्ति, विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा आदि के द्वारा किसी विशेष प्रकार के व्यापार या उद्योग कार्य को उत्तेजित, प्रोत्साहित, सरल या उत्प्रेरित करना होता है। इसके विपरीत इन उपायों का उस स्थिति में प्रतिबंधक प्रभाव पड़ता है जब उनका उद्देश्य कानूनी व्यवस्था और प्रशासनिक आदेशों के द्वारा निजी व्यापार और उद्योग पर रोक लगाना होता है। इसके उदाहरण हैं उद्योगों को शुरू या उनका विस्तार करने के लिए लाइसेन्स प्राप्त करना, पूँजी जारी करने पर नियंत्रण, अधिकतम कीमत का निर्धारण इत्यादि। परंतु कुछ उपायों का दोनों प्रकार से प्रभाव पड़ता है। जैसे कच्चे माल का आयात करने वाले उद्योग पर यदि ऐसे माल के आयात पर कुछ प्रतिबंध लगा दिया जाए या आयात करने से उसे बिल्कुल ही रोक दिया जाए तो उस उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। परंतु इनके प्रतियोगी वस्तुओं के उत्पादकों की स्थिति अच्छी रहेगी और वे अधिक लाभ कमा पाएँगे।

नियंत्रणों का वर्गीकरण दो श्रेणियों में इस आधार पर भी किया जा सकता है कि ये उपाय प्रत्यक्ष रूप से लागू होते हैं या अप्रत्यक्ष रूप से। इस तरह नियंत्रण दो प्रकार के होते हैं : प्रत्यक्ष नियंत्रण और अप्रत्यक्ष नियंत्रण। अब इन दोनों के संबंध में चर्चा करेंगे।

(क) प्रत्यक्ष नियंत्रण– प्रत्यक्ष नियंत्रण वे उपाय हैं जिन्हें सरकारी अधिकारियों की मर्जी से लागू किया जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण का उपयोग निजी संगठनों या उनकी श्रेणियों के कार्यों को संवर्धित, प्रतिबंधित या परिसीमित करने के लिए किया जाता है। इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं :

1. नए उद्यमों को लाइसेन्स देना या पहले से चल रहे बड़े उद्यमों का विस्तार।

2. पूँजी जारी करने के लिए कंपनियों द्वारा जारी किए गए शेयरों, ऋणपत्रों आदि पर नियंत्रण (पूंजी निर्गम पर नियंत्रण)

3. प्रत्यक्ष निषेध या कोटा प्रतिबंध के द्वारा आयात तथा निर्यात पर नियंत्रण।

4. विशिष्ट वस्तुओं की अधिकतम और न्यूनतम कीमत का निर्धारण।

5. राशन–व्यवस्था के द्वारा वस्तुओं के वितरण पर नियंत्रण।

6. औद्योगिक संवृद्धि के लिए आर्थिक सहायता।

7. आर्थिक सहायता, ऋण सुविधाएँ आदि द्वारा निर्यात संवर्धन को प्रोत्साहन।

इन नियंत्रणों को विवेकी नियंत्रण ;कपेबतमजपवदंतल बवदजतवसेद्ध कहा जाता है क्योंकि इनमें सरकारी कर्मचारियों का निर्णय सन्निहित होता है।

(ख) अप्रत्यक्ष नियंत्रण– ये अप्रत्यक्ष नियंत्रण निजी व्यावसायिक फर्मों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। अप्रत्यक्ष नियंत्रणों के कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित है :

1. **कर की दर में परिवर्तनः** व्यवसाय को प्रोत्साहित करने या उन पर रोक लगाने के उद्देश्य से कर की दर को क्रमशः घटाया या बढ़ाया जा सकता है।

2. **आयात और निर्यात शुल्कों में परिवर्तनः** कुछ वस्तुओं की कीमतों को बढ़ाने के लिए आयात शुल्क बढ़ा दिया जाता है। ऐसा करने का उद्देश्य होता है इन वस्तुओं के आयात को कम करना या विदेशी उद्यमों के साथ प्रतियोगिता में देशीय उद्योगों को संरक्षण देना। आयात शुल्कों को घटाने का प्रयोजन होता है कुछ वस्तुओं का बड़ी मात्रा में आयात होने देना। इसी प्रकार देशीय माँग और पूर्ति को प्रभावित करने के लिए निर्यात शुल्क घटाया या बढ़ाया जाता है। उदाहरणार्थ निर्यात शुल्क में वृद्धि से निर्यात घट जाता है। और देश के अंदर अधिक मात्रा में मॉग की पूर्ति होने लगी है, परन्तु निर्यात शुल्क घटाने पर निर्यात बढ़ जाता है।

3. **बैंक ऋणों पर ब्याज की दरों में परिवर्तन :** कीमतों पर नियंत्रण के लिए सरकार अपनी मुद्रा नीति में परिवर्तन कर सकती है। उदाहरणार्थ, बेंक ऋणों और साख की ब्याज दर को बढ़ाया जा सकता है, जिससे कि व्यवसायों क उद्यमियों पर अत्यधिक ऋण लेने और व्यय करने पर रोक लग सके और व्यावसायिक फर्में नया निवेश न कर पाएँ। इसके विपरीत बैंक ऋणों की ब्याज दर को घटाया जा सकता है जिससे व्यावसायिक फर्मों को ऋण लेने तथा व्यावसायिक कार्यों के विस्तार करने के संबंध में उत्प्रेरित किया जा सके। अप्रत्यक्ष नियंत्रणों को नियमगत नियंत्रण (non-discretionary controls) भी कहा जाता है। सरकारी अधिकारियों के पास यह अधिकार नहीं होता कि वे अपने विवेक के अनुसार इन उपायों को किन्हीं विशेष फर्मों पर लागू करें और इसी श्रेणी की कुछ अन्य फर्मों पर न करें।

(क) आर्थिक नियोजन– विकासशील देश अब आर्थिक विकास में नियोजन के महत्व को मानने लगे हैं तथा उन्होंने औद्योगिक विकास के लिए व्यापक आर्थिक नीतियों को अपना लिया है। भारत में यह कार्य पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा किया जाता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरूआत 1951 ई0 में की गई। तब से अब तक बारह पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित कर लिया गया है। इन योजनाओं में निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं:

i) राष्ट्रीय आय की संवृद्धि के लक्ष्य की प्राप्ति जिससे जनता के जीवन स्तर में सुधार लाया जा सके।

ii) देश में औद्योगिक संवृद्धि लाना। यह कार्य कुछ विशेष प्राथमिकताओं के अनुसार लोहा और इस्पात, ईंधन और शक्ति, रसायन, उर्वरक और इंजीनियरी वस्तुओं जैसे मूल और भारी उद्योगों पर विशेष बल देते हुए तथा परिवहन और संचार सुविधाओं की व्यवस्था करके किया जाएगा।

iii) बढ़ती हुई श्रमिक शक्ति को रोजगार देने के लिए और अधिक रोजगार के अवसरों को उपलब्ध कराना।

iv) कृषि उत्पादन को बढ़ाना तथा खाद्यान्नों के संबंध में स्वावलंबन की स्थिति लाना।

v) क्षेत्रीय असमानता को कम करना तथा संतुलित क्षेत्रीय विकास की प्राप्ति।

vi) सीमित साधनों का यथासंभव सर्वोत्तम उपयोग करना।

आर्थिक नियोजन विभिन्न उद्योगों के विकास की प्राथमिकता का सामान्य सूचक होता है और इस नाते यह विकास की प्रक्रिया का मार्ग निर्देशन करता है। इसके अतिरिक्त वह यह भी बताता है कि निजी संगठनों को विकास कार्य के लिए ईंधन, बिजली, वित्त आदि दुर्लभ साधन किस मात्रा में दिए जाएँ। पंचवर्षीय योजनाओं में यह भी निर्धारित होता है कि किन आर्थिक और सामाजिक कार्यों को सरकार स्वयं करेगी।

(ख) औद्योगिक नीति– हमारे देश के औद्योगिक विकास के मार्ग का निर्देशन, विनियमन, नियंत्रण और संवर्धन औद्योगिक नीति के अनुसार होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने नीति संबंधी बहुत से बयान दिए हें जिनमें औद्योगिक विकास में सरकारी, निजी, सहकारी और संयुक्त क्षेत्र कि संगठनों की भूमिका को स्पष्ट किया गया है। इन नीतियों में यह भी बताया गया है कि एक दूसरे की तुलना में बड़े मध्यम और छोटे आकार की औद्योगिक इकाइयों का क्या महत्व होता है। अप्रैल 1948 में सरकार ने प्रथम औद्योगिक नीति प्रस्ताव (Industrial policy resolution) स्वीकृत किया जिसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि देश के औद्योगिक विकास में सरकार की भूमिका दिन–प्रति–दिन बढ़ती जाएगी परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी बताया गया था कि नीति की संरचना के अंतर्गत कार्य करते हुए निजी संगठनों की भूमिका पूरक (complementary) के रूप में होगी।

1956 में भारत सरकार ने एक नई औद्योगिक नीति संकल्प को दोहराया जिसमें निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए गए थे :

1. आर्थिक संवृद्धि की दर को बढ़ाना।
2. औद्योगिक विकास की गति को बढ़ाना।

3. औद्योगिक संवृद्धि में सरकारी सहभागिता के क्षेत्र को बढ़ाना।

4. निजी एकाधिकार और आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण पर रोक लगाना।

5. छोटे ग्राम और कुटीर उद्योगों की भूमिका को स्पष्ट करना।

6. संतुलित क्षेत्रीय विकास लाना।

जुलाई 1991 में भारत सरकार ने नयी औद्योगिक एवं आर्थिक नीति की घोषणा की। इस नीति में पिछली औद्योगिक नीतियों की तुलना में बिल्कुल अलग प्रावधान किये गये हैं। विश्व स्तर पर हो रहे परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुये वैश्वीकरण की नीति अपनायी गई। साथ ही उदारीकरण एवं निजीकरण पर विशेष जोर दिया गया है।

(ग) उद्योग लाइसेंस– औद्योगिक नीति संकल्प को कार्यान्वित करने के लिए सरकारी नियंत्रण और विनियमन के साधन के रूप में उद्योग लाइसेंस प्रणाली की शुरूआत की गई। इसके लिए उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1951 ;प्दकनेजतपमे क्मअमसवचउमदज ंदक त्महनसंजपवदद्ध ।बजए 1951, में व्यवस्था की गई। इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गई है कि केन्द्रीय सरकार से लाइसेंस प्राप्त किए बिना किसी नई औद्योगिक इकाई की स्थापना नहीं की जा सकती तथा वर्तमान प्लान्टों में बहुत अधिक विस्तार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था है कि नए उद्यमों को लाइसेंस देते समय उनकी अवस्थिति न्यूनतम आकार आदि के संबंध में सरकार कुछ शर्तें लगा सकती है।

आशा की गई थी कि उद्योग लाइसेंस प्रणाली के अंतर्गत निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकेगी :

1. योजनाबद्ध प्राथमिकताओं और संवृद्धि के लक्ष्यों के अनुसार औद्योगिक विकास का विनियमन और उद्योगों में निवेश का मार्गदर्शन।

2. एकाधिकार और धन के संकेन्द्रण पर नियंत्रण।

3. बड़े उद्योगों के साथ प्रतियोगिता में छोटे पैमाने के उद्योगों का संरक्षण।

4. कुछ थोड़े से स्थानों पर उद्योगों के संकेन्द्रण पर रोक और उद्योगों के क्षेत्रीय विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहन।

5. दुर्लभ विदेशी मुद्रा साधनों का सर्वोततम संभव उपयोग।

17.4 सरकार व्यवसाय में क्यों भाग लेती है

सरकार एक ओर तो निजी उद्यमों का नियंत्रण करती है और दूसरी ओर वह व्यवसाय में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है। निजी व्यवसाय पर सरकारी नियंत्रण की आवश्यकता और नियंत्रण के रूप के संबंध में विचार किया जा चुका है। अब व्यवसाय में सरकारी सहभागिता के मूल कारणों के संबंध में विचार किया जाएगा।

इस समय सरकार विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक उपक्रमों को चला रही है। सरकारी संगठनों के अधीन अनेक प्रकार की सेवाएँ हैं, जैसे जल, डाक, दूरसंचार, परिवहन इत्यादि। इन संगठनों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के विनिर्माण उद्योग ;उंदनबिजनतपदह पदकनेजतपमेद्ध भी सरकार के स्वामित्व और प्रबन्ध के अधीन हैं। वे इस्पात, रेल इंजन, मशीन औजार, घड़ी, रेल की कोच, टेलीफोन उपस्कर आदि वस्तुओं

का उत्पादन करते हैं। सरकारी उपक्रम उपभोक्ता वस्तुओं के पूर्ति कार्य में भी लगे हुए हैं, जैसे दूध (सरकारी दूध योजनाओं के द्वारा), ब्रेड (माडर्न बेकरीज़), कपड़ा (नेशनल टेक्सटाइल कार्पोरेशन) इत्यादि। अब प्रश्न उठ सकता है कि सरकार व्यवसाय में प्रत्यक्ष रूप से क्यों भाग लेती है। व्यवसाय और उद्योग में सरकार की प्रत्यक्ष सहभागिता के कारणों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है : (1) मूल कारण (2) सैद्धांतिक कारण

17.4.1 मूल कारण

सरकार जानती है कि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना राजनैतिक स्वतंत्रता निरर्थक है। इसीलिए देश का यथाशीघ्र औद्योगीकरण करने का निर्णय लिया गया। सरकार ने महसूस किया कि इस दिशा में यदि केवल निजी क्षेत्र को ही पहल करने दिया जाता है तो औद्योगीकरण के उद्देश्य की प्राप्ति में बहुत समय लग जाएगा। यह इसलिए कि बड़े पैमाने के उपक्रमों को शुरू करने के लिए निजी उद्यमियों के पास पर्याप्त उद्यमवृत्ति (entrepreneurship) और साधनों की कमी होती है। इसीलिए सरकार ने इस संबंध में दो प्रकार के कदम उठाए। एक ओर तो उसने नए उद्योगों की स्थापना के लिए निजी उद्यमियों को प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर वह स्वयं भी बड़े पैमाने पर उद्योगों की स्थापना करने लगी।

सरकार द्वारा निर्णय लिया गया कि स्टील प्लांटों, उर्वरक कारखानों तथा उद्योग और कृषि की समृद्धि के लिए आवश्यक अन्य इकाइयों की स्थापना की जाए। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद के वर्षो के अंतर्गत सरकार ने जिन प्रमुख उद्यमों और शक्ति परियोजनाओं (power project) को स्थापित किया उनके नाम इस प्रकार हैं :

1. राउरकेला, भिलाई और दुर्गापुर में स्टील प्लान्ट।
2. चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स।
3. हिन्दुस्तान मशीन टूल्स।
4. सिन्दरी फर्टीलाइज़र फैक्टरी।
5. हिन्दुस्तान शिपयार्ड।
6. हिन्दुस्तान एन्टीबायोटिक्स।
7. हिन्दुस्तान केबल्स।
8. इन्टीग्रल कोच फैक्टरी।
9. इन्डियन टेलीफोन इन्डस्ट्रीज।
10. शक्ति और सिंचाई परियोजनाएँ– तुंगभद्रा, भाखड़ा, नांगल, हीराकुंड, दामोदर वैली, चम्बल इत्यादि।
11. निजी उद्यमियों को वित्त की व्यवस्था करने के लिए भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India)।

PLONE-029

12. निजी क्षेत्र में उद्योगीकरण की सहायता के लिए राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation)।

सरकार का आशय यह था कि यथाशीघ्र और अधिकाधिक क्षेत्रों में आर्थिक स्वावलंबन की स्थिति लाई जा सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति में बहुत कुछ सफलता मिल चुकी है।

प्रायः सरकार द्वारा स्थापित अधिकतर परियोजनाओं (i) में अधिक राशि में निवेश करना पड़ता है, (ii) उनके निर्माण में अधिक समय लगता है (उदारहणार्थ स्टील प्लांट के निर्माण में 5–6 वर्ष लग जाते हैं) और ;पपपद्ध निवेश पर बहुत कम प्रतिफल मिलता है। इसके अतिरिक्त अनेक उद्यमों में अत्यधिक खतरा उठाने की भी आवश्यकता थी। जिसके लिए अधिकतर निजी उद्यमी तैयार नहीं होते। इसीलिए सरकार ने देश के औद्योगीकरण के लिए प्रमुख उद्यमी की भूमिका निभाई। सरकार ने ऐसे अनेक उद्योगों की स्थापना की है जिनके लिए यदि निजी क्षेत्र से अपेक्षा की जाती कि वे इनके लिए आवश्यक निवेश करें और खतरा उठाएँ तो उनकी स्थापना कभी भी न हो पाती।

17.4.2 सैद्धांतिक कारण

आर्थिक और सामाजिक कारणों के अतिरिक्त सरकार इस बात के लिए वचनबद्ध थी कि उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की नीति में उसका विश्वास है।स्वतंत्रता के बाद से अब तक इस देश पर कांग्रेस का अधिकतम शासन रहा है और यह पार्टी इस नीति पर चलती रही। इस संबंध में स्मरणीय है कि आजादी के पहले भी कांग्रेस वचनबद्ध रही कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के द्वारा समाजवाद लाया जाए। यह भी ध्यान देने की बात है कि 1956 के औद्योगिक नीति संकल्प ने जो अभी भी लागू है, व्यवसाय में सरकार की भूमिका पर बल दिया है। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था में उद्यमों पर सरकारी स्वामित्व के महत्व का स्पष्टीकरण हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि निम्नलिखित कारणों से सरकार व्यवसाय में भाग लेती हैः

1. सरकार द्वारा व्यवसाय में भाग लेने के अनेक आर्थिक तथा सामाजिक कारण हैं।
2. अनेक प्रकार के औद्योगिक कार्यों में सरकार ने यदि पहल नहीं किया होता तो इस देश के पास वैसा दृढ़ आधार और स्वावलंबन नहीं हो पाता जैसा कि आज है।
3. सरकार के अधीन अनेक उद्यम इसलिए आए कि वे कमजोर हो गए थे, परन्तु आर्थिक और सामाजिक कारण ऐसे थे कि उन्हें बन्द होने नहीं दिया जा सकता था।
4. व्यवसाय में सरकार के होने के सैद्धांतिक कारण भी हैं। यदि ये न होते तो सरकार मार्गदर्शन तथा पहलकर्ता का काम पूरा करके कुछ व्यवसायों से हट जाती।
5. व्यवसाय में सरकार द्वारा प्रमुख रूप से जमे रहने के पीछे सैद्धांतिक कारणों के साथ–साथ आर्थिक तथा सामाजिक कारण भी है।

17.5 सारांश

सरकार को निजी व्यवसाय का विनियमन और नियंत्रण जिन कारणों से बाध्य होकर करना पडा, वे हैं मुक्त उद्यमों और निजी स्वामित्व के दोष, कल्याणकारी राज्य की स्थापना, योजनाबद्ध आर्थिक विकास, दुर्लभ, प्राकृतिक साधनों का इष्टतम उपयोग, छोटे पैमानेके उद्योगों को प्रोत्साहन और संरक्षण, विदेशी निवेशकों के आधिपत्य से अर्थव्यवस्था की रक्षा, इत्यादि। सरकारी नियंत्रण को दो कोटि में रखा जा सकता है: (i) प्रत्यक्ष नियंत्रण और (ii) अप्रत्यक्ष नियंत्रण। प्रत्यक्ष नियंत्रण के अधीनः नए विनिर्माण उद्यमों की स्थापना या उनके विस्तार के लिए लाइसेंस देना, निर्यात संवर्धन के लिए आर्थिक सहायता, आयात और निर्यात पर कोटा प्रतिबंध, कीमत नियंत्रण और वस्तुओं को राशन व्यवस्था, इत्यादिं अप्रत्यक्ष नियंत्रण के अधीन आयात और निर्यात पर सीमा शुल्क, बैंक ऋण की ब्याज दर में परिवर्तन आदि आते हैं। सरकार जिन कारणों से बाध्य होकर व्यवसाय में भाग लेती है, वे दो प्रकार के होते हैं : ;पद्ध मूल कारण ;पपद्ध सैद्धांतिक कारण।

17.6 उपयोगी शब्दावली

- **समाज का समाजवादी स्वरूपण (Socialist Pattern of Society):** व्यापक रूप में इससे अभिप्राय ऐसी प्रणाली से होता है जिसमें आर्थिक विकास का अधिकाधिक लाभ समाज के अपेक्षाकृत कमजोर वर्ग को होता है तथा धन के सकेन्द्रण को रोकने और आय की असमानता को कम करने का प्रयास किया जाता है।
- **निवेशित पूँजी (Capital employed):** कुल स्थायी परिसम्पत्ति मे से संचित मूल्य ह्रास को घटाने के बाद उसमें कार्यशील पूँजी (working capital) का योग। कार्यशील पूँजी का अर्थ होता है चालू परिसंपत्तियों में चालू देयताओं और प्रावधानों को घटाने के बाद बची राशि।
- **औद्योगिक नीति संकल्प (Industrial Policy Resolution):** संकल्प के रूप में सरकार का औपचारिक निर्णय जिसका संबंध औद्योगिक नीति के साथ होता है। इसमें यह भी स्पष्ट होता है कि अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक और निजी उद्यमों का क्या स्थान होगा।

17.7 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. व्यवसाय में सरकार की क्या भूमिका है, विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2. निजी व्यवसाय के कार्यकलापों पर सरकारी नियंत्रण के कारणों को स्पष्ट करें।

प्रश्न 3. उदाहरण सहित निम्नलिखित के बीच अंतर बताएँ :

i) उत्प्रेरक और प्रतिबंधक नियंत्रण

ii) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियंत्रण

प्रश्न 4. व्यवसाय और उद्योग में सरकार के लिए प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना क्यों आवश्यक होता है?

प्रश्न 5. निम्नलिखित के संबंध में संक्षिप्त टिप्पणी दें:

i) व्यवसाय में सरकारी सहभागिता।

ii) औद्योगिक नीति।

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- जगदीश प्रकाश : राज्य एवं व्यवसाय, इलाहाबाद प्रयाग पुस्तक भवन।
- कुल भूषण एवं ओ0पी0 अग्रवाल : व्यावसायिक संगठन के सिद्धांत : सुल्तान चंद एंड संस, नई दिल्ली।
- पी0 सिंह एवं टी0एन0 छाबड़ा : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबंध का परिचय किताब महल, इलाहाबाद।
- पदमाकर अस्थाना : व्यावसायिक संगठन, प्रबन्ध एवं प्रशासन : आगरा साहित्य भवन ।
- जी0एल0 जोशी, जी0एल0 शर्मा, एल0एस0सी0 जोशी : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबंध श्री महावीर बुक डिपो, दिल्ली।
- फ्रैंसिस चेरूनिलम : गवर्नमेन्ट एण्ड बिजनेस, बम्बई, हिमालय पब्लिकेशन,
- के0 अश्वाथापा : बिजनेस इनवायरमेन्ट, नई दिल्ली, विकास पब्लिकेशन,

इकाई–18 सार्वजनिक उपक्रम

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 सार्वजनिक उपक्रम क्या है?

18.3 सार्वजनिक उपक्रमों की विशेषतायें एवं उद्देश्य

18.4 सार्वजनिक उपक्रमों का कार्य निष्पादन

18.5 सार्वजनिक उपक्रमों का योगदान

18.6 सार्वजनिक उपक्रमों की समस्यायें

18.7 सारांश

18.8 उपयोगी शब्दावली

18.9 महत्वपूर्ण प्रश्न

18.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप योग्य होंगे :

- सार्वजनिक उपक्रम का अर्थ बताने में,
- सार्वजनिक उपक्रमों की विशेषताओं एवं उद्देश्य बताने में,
- सार्वजनिक उपक्रमों के निष्पादन एवं योगदान बताने में,
- सार्वजनिक उपक्रमों की समस्यायें बता सकने में।

18.1 प्रस्तावना

भारत एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है जिसमें सार्वजनिक व निजी दोनों प्रकार के उपक्रम भाग लेते हैं। 1951 से 1991 के बीच सार्वजनिक उपक्रम तेजी से फैला, 1991 की नई औद्योगिक नीति के बाद इसकी गति मन्द पड़ गई। सरकार के अधीन व्यावसायिक उत्पादन, वितरण एवं सेवाओं को जब संचालित किया जाता है तो उसे हम सार्वजनिक उपक्रम कहते हैं। इसके पीछे अनेक कारण होते हैं जिनकी चर्चा हम लोग पिछली इकाई में कर चुके हैं। इस इकाई में हम सार्वजनिक उपक्रमों के आशय, उनकी विशेषतायें, उद्देश्य, कार्य निष्पादन, योगदान एवं समस्याओं की चर्चा करेगे।

18.2 सार्वजनिक उपक्रम क्या है

सरकार के अधीनस्थ उद्यमों को सार्वजनिक उपक्रम कहा जाता है। सही अर्थ में व्यावसायिक अस्तित्व के रूप में ''सार्वजनिक उपक्रम'' से अभिप्राय उस औद्योगिक या व्यापारिक उपक्रम से होता है जो केन्द्र, राज्य या स्थानीय सरकार के स्वामित्व और प्रबंध में होता है और जिससे उत्पादित वस्तुओं को निःशुल्क रूप से बांटा नहीं जाता बल्कि उनका विक्रय किया जाता है। इस प्रकार सार्वजनिक उपक्रमों के अंतर्गत विनिर्माण, व्यापार तथा सेवा संगठन आ जाते हैं जो वास्तव में व्यावसायिक उपक्रम ही है। सार्वजनिक उपक्रमों के अंतर्गत राष्ट्रीयकृत निजी संगठन तथा वे नए उपक्रम आते हैं जिनका संवर्धन सरकारी स्वामित्व और नियंत्रण के अंतर्गत होता है। निजी संगठनों का राष्ट्रीयकरण करके जिन सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना की गई है उनके कुछ उदाहरण हैं– जीवन बीमा निगम, इंडियन एयर लाइन्स कार्पोरेशन, कोल इंडिया लिमिटेड, आदि। जिन सार्वजनिक उपक्रमों का संवर्धन सरकार ने किया है उनके कुछ उदाहरण हैं– हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, हिन्दुस्तान एंटिबायोटिक्स लिमिटेड चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स तथा नेशनल थर्मल पावर कारपोरेशन लिमिटेड आदिं

निजी उपक्रम से अभिप्राय उन औद्योगिक या वाणिज्यिक संगठनों से होता है जिनकी स्थापना सरकारी कानूनों और नियमों के अनुसार एकल या समूह स्वामित्व के अधीन की जाती है। इसके अंतर्गत विनिर्माण और वाणिज्यिक कंपनियां तथा मध्यम और छोटी फर्मे आती हैं, जिनका संगठन एकल स्वामित्व ॑;वसम च्तवचतपमजवतीपचद्ध और साझेदारी ;च्तजदमतीपचद्ध प्रतिष्ठानों के रूप में किया जाता है।

निजी उपक्रमों का मुख्य प्रयोजन अपने लिए लाभ कमाना होता है। सार्वजनिक उपक्रमों का संचालन सरकार द्वारा बनाई गई सार्वजनिक नीतियों के अनुसार होता है और उनका उद्देश्य होता है समाज कल्याण को अधिकाधिक बढ़ाना और लोकहित को बनाए रखना। भारत के सार्वजनिक उपक्रमों के उद्देश्यों को विकास योजनाओं के उद्देश्यों के अनुरूप ही निर्धारित किया गया है। ये अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार तथा संसद या राज्य विधान मंडलों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। निजी उपक्रमों को इस बात की स्वतंत्रता होती है कि वे अपना उद्देश्य मनमाने ढंग से निर्धारित करें और किसी भी प्रकार के व्यावसायिक कार्य को, बशर्ते कि वह अवैध न हो, अपने हाथ में लें। परंतु यह स्मरणीय है कि निजी उपक्रमों का विनियमन विभिन्न प्रकार के सरकारी नियंत्रणों के अनुसार होता है।

18.3 सार्वजनिक उपक्रमों की विशेषताएँ और उद्देश्य

सार्वजनिक उपक्रमों की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं जो उन्हें निजी उपक्रमों से भिन्न करती हैं :

1. सार्वजनिक उपक्रमों का स्वामित्व और प्रबंध सरकार या सरकार द्वारा बनायी गई एजेन्सियों के द्वारा होता है।

2. सार्वजनिक उपक्रमों के लिए आवश्यक समस्त पूँजी या उसके बहुत बड़े भाग की व्यवस्था सरकार करती है।

3. सार्वजनिक उपक्रमों का संगठन विभागीय उपक्रम (Departmental Organisation) कानूनी निगम (statutory corporation) या सरकारी कंपनी (Govt. Co.) के रूप में किया जा सकता है।

4. सार्वजनिक उपक्रमों का संचालन सरकार द्वारा लोकहित में निर्धारित सार्वजनिक नीतियों के अनुसार होता है। इनका प्रयोजन लाभ कमाना मात्र ही नहीं होता।

5. सार्वजनिक उपक्रमों के उद्देश्य विकास योजनाओं के उद्देश्यों के अनुरूप होते हैं। ये अपने कार्य–निष्पादन और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संसद या राज्य विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

जिन कारणों से बाध्य होकर सार्वजनिक उपक्रमों का विकास किया जा रहा है, उससे स्पष्ट है कि इनके मुख्य उद्देश्य अनेक हैं। इन उद्देश्यों को नीचे दिया जा रहा है :

1. विकास योजनाओं के अनुरूप औद्योगिक संवृद्धि के द्वारा द्रुत गति से आर्थिक विकास की प्राप्ति।

2. आर्थिक संवृद्धि के लिए संसाधनों का यथासम्भव सर्वोत्तम उपयोग।

3. जनकल्याण और आय तथा संपत्ति के वितरण में असमानता को घटाना।

4. उद्योग और व्यापार का संतुलित क्षेत्रीय विकास करना।

5. एकाधिकार की वृद्धि और कुछ लोगों के हाथ में आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण पर रोक लगाना।

6. आम जनता की कठिनाइयों को दूर करने की दृष्टि से बाजार में आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतों पर नियंत्रण रखना।

7. वित्तीय संस्थाओं के द्वारा सार्वजनिक बचतों की इस प्रकार व्यवस्था करना कि सुनियोजित प्राथमिकताओं के अनुरूप सार्वजनिक और निजी उद्यमों की मॉंगों की पूर्ति की जा सके।

8. अपने कर्मचारियों की सेवा संबंधी स्थितियों को संतोषजनक बनाना जिससे सार्वजनिक उपक्रमों को आदर्श नियोक्ता माना जाए।

बोध प्रश्न

1. सार्वजनिक उपक्रम क्या है?

....

....

....

....

18.4 सार्वजनिक उपक्रमों का कार्य निष्पादन

आपने सार्वजनिक उपक्रमों के अर्थ, विशेषताओं और उद्देश्यों के बारे में पढ़ा। अब प्रश्न उठता है कि ये अपना कार्य–निष्पादन किस प्रकार कर रहे हैं। इस प्रश्न का उत्तर आसान नहीं है क्योंकि सभी इस संबंध में एकमत नहीं हैं कि सरकार का

व्यावसायिक कार्य किसे कहा जाए। उदाहरणार्थ कुछ लोग पोर्ट ट्रस्टों, रेलों और डाकघरों को व्यावसायिक कार्य मानते हैं परंतु अन्य लोग ऐसा नहीं मानते। इसके अतिरिक्त सरकार की अनेक प्रमुख व्यावसायिक क्रियाएँ 28 राज्यों और 7 संघ राज्य क्षेत्रों (Union Territories) में होती हैं जिनके संबंध में आसानी से सूचना उपलब्ध नहीं हो पाती। अनेक प्रकार के व्यवसायिक कार्य नगर निगमों द्वारा होते हैं और उनसे संबंधित आंकड़ों को प्राप्त करना लगभग असंभव कार्य है।

सरकार के व्यावसायिक कार्यों (जिन्हें व्यावसायिक उपक्रम कहा जाता है) के जिन आंकड़ों का उल्लेख प्रायः किया जाता है वे केन्द्रीय सरकार की स्वायत्त इकाइयों से संबंधित हैं। ऐसा इसलिए कि इन उद्यमों से संबंधित ''सार्वजनिक उपक्रम सर्वेक्षण'' (Public Enterprises Survey) नामक रिपोर्ट को प्रति वर्ष संसद में बजट के ठीक पहले पेश किया जाता है। देश की कुल फैक्टरियों की संख्या 93,116 थी और उनमें निजी क्षेत्र का अंश 92.5 प्रतिशत (86,229 फैक्टरिया) था, परंतु निजी क्षेत्र में लगी स्थायी पूँजी कुल फैक्टरियों की स्थायी पूँजी की 27.5 प्रतिशत ही थी। मार्च 2011 तक निजी क्षेत्र के कर्मचारियों की संख्या देश के कुल फैक्टरियों के कर्मचारियों (80.1 लाख) का 66.6 प्रतिशत था। इसके विपरीत सार्वजनिक उपक्रमों की फैक्टरियाँ देश की कुल फैक्टरियों की संख्या की केवल 5.5 प्रतिशत ही थी परंतु इनमें 65.2 प्रतिशत स्थायी पूँजी लगी थी तथा 27.3 प्रतिशत लगभग 149000 कर्मचारी थे। इसका अर्थ यह है कि सार्वजनिक उपक्रमों की संख्या तो कम है परंतु इनका आकार बड़ा है क्योंकि स्थायी पूँजी का बहुत बड़ा अंश इन्हीं में लगा है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक उपक्रम पूँजी प्रधान होते हैं, अर्थात इनमें जनशक्ति (manpower) की तुलना में पूँजी अधिक लगती है।

सार्वजनिक उपक्रमों का अधिक महत्वपूर्ण होने का एक दूसरा कारण है प्रदत्त पूँजी (paid-up-capital) में उनके अंश का अधिक होना। 2011 मार्च के अंत तक देश में कुल 250 के अनुसार सरकारी कंपनियां थीं जिनकी प्रदत्त पूँजी 666848 करोड़ रूपये थी। राज्य सरकारों के उपक्रमों की संख्या 1100 थी तथा विनियोग लगभग रू0 50,000 करोड़ रूपये थी।

सार्वजनिक उपक्रमों में बहुत बड़ी राशि के निवेश और बहुत बड़ी संख्या में नियोजन के अतिरिक्त उनके कार्य क्षेत्र भी भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं। वे निम्नलिखित प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन कार्य में लगे हैं : भारी, मध्यम और हल्की इंजीनियरी वस्तुएँ, परिवहन–उपस्कर, संचार–उपस्कर, मूल कच्चे माल (खनिज तथा धातु, इस्पात, कोयला, पेट्रोलियम, उर्वरक और रसायन), उपभोक्ता वस्तुएँ (वस्त्र, कागज, नमक, जूते, इत्यादि) और सेवाएँ। सच तो यह है कि ऊर्जा (कोयला, तेल, बिजली और परमाणु ऊर्जा) का समस्त उत्पादन और वितरण सार्वजनिक उद्यमों के द्वारा होता है। हवाई और रेल परिवहन तथा वायुयानों, जहाजों, रेल इंजनों तथा कोचों का निर्माण–कार्य लगभग पूर्णतः सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत है। सार्वजनिक उपक्रम देश के कुल इस्पात के 80 प्रतिशत का उत्पादन करते हैं तथा 100 प्रतिशत तांबे और प्राथमिक लेड का और 87 प्रतिशत जिंक का उत्पादन करते हैं। जीवन बीमा तथा सामान्य बीमा की सभी कंपनियाँ और दीर्घ अवधि के लिए वित्त की व्यवस्था करने वाली सभी संस्थाएँ सार्वजनिक उपक्रमों के रूप में है। व्यापारिक बैंकिंग का 90 प्रतिशत सरकार के स्वामित्व में है।

सार्वजनिक उपक्रमों में अत्यधिक पूँजी लगी है, अतः प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या ये उपक्रम वित्तीय दृष्टि से सफल रहे हैं। इस प्रकार का उत्तर देना कठिन है क्योंकि सफलता का कोई एक या स्पष्ट मापदण्ड नहीं है। भिन्न–भिन्न व्यक्ति सफलता का मापदण्ड भिन्न–भिन्न मानते हैं। किसी व्यावसायिक उपक्रम की

सफलता का सर्वाधिक प्रचलित माप है उससे सतत रूप में लाभ होते रहना। इस संबंध में भी मतभेद हो सकता है कि लाभ की मात्रा कितनी हो और इस मात्रा की गणना किस प्रकार की जाए। वित्तीय दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि सार्वजनिक उपक्रमों में लाभ की मात्रा बहुत ही कम है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि सबसे अधिक लाभ पेट्रोलियम, शक्ति तथा दूर संचार क्षेत्रों से होता है जिन्हें बहुत कुछ एकाधिकारी स्थिति प्राप्त है। 2009–10 में सार्वजनिक उपक्रमों का लाभ 1,13,770 करोड़ रूपये था।

18.5 सार्वजनिक उपक्रमों का योगदान

प्रायः लोगों का कहना है कि सार्वजनिक उपक्रमों के योगदान का लेखा–जोखा केवल वित्तीय दृष्टिकोण से ही करना उचित नहीं है। उनके योगदान के और भी अनेक महत्वपूर्ण पक्ष हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सार्वजनिक उपक्रमों के अवित्तीय लाभ अनेक तथा बहुत हैं। इनमें से कुछ को नीचे दिया जा रहा है :

1. हमारे देश को एक औद्योगिक राष्ट्र के रूप में उभरने में सार्वजनिक उपक्रमों ने बहुत कुछ किया है। आज भारत का स्थान विश्व के औद्योगिक राष्ट्रों में है। औद्योगिक उत्पादन के अनेक प्रमुख क्षेत्रों तथा अधिकतर उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं के मामले में हम आत्मनिर्भर हो गए हें।

2. पिछड़े हुए क्षेत्रों के औद्योगीकरण और विकास में उन्होंने काफी सहायता की है।

3. पिछड़े वर्गों, विशेषतः अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों, को रोजगार के अवसरों को प्रदान करके उनके विकास में ये काफी सहायक रहे हैं।

4. सार्वजनिक उपक्रमों के विस्तार के फलस्वरूप आय की असमानता बहुत कम हुई है। निजी उद्यमों की तुलना में सार्वजनिक उपक्रमों में काम करने वाले कर्मचारियों के अधिकतम और न्यूनतम वेतन के बीच का अंतर कम होता है।

5. सम्पत्ति का कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में संकेन्द्रण को रोकने के संवैधानिक उद्देश्य को पूरा करने में सार्वजनिक उपक्रम बहुत कुछ सफल रहे हैं। ये उद्यम अगर न होते तो आर्थिक शक्ति कुछ बड़े व्यवसाय गृहों के हाथ में चली जाती। यह ध्यान देने की बात है कि बड़े व्यवसाय गृह सदा ही समाचार का विषय बने रहते हैं तथा देश की राजनीति पर इनका काफी प्रभाव भी रहता है, परंतु इनकी परिसम्पत्तियां सार्वजनिक उपक्रमों की परिसम्पत्तियों के दसवें भाग के बराबर भी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि आज सरकार के हाथ जो उद्योग हैं वे यदि निजी क्षेत्र में होते तो उद्योगों के सरकार द्वारा निर्देशित होने के बजाय सरकार ही उनके नियंत्रण में होती।

6. सार्वजनिक उपक्रम अपने पूर्तिकर्ताओं, ग्राहकों, कर्मचारियों तथा जनता के साथ जितनी नैतिकता से व्यवहार करते हैं उतना निजी उपक्रम नहीं कर पाते।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि सार्वजनिक उपक्रम राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक नीतियों को कार्यान्वित करने में महत्वपूर्ण साधन का कार्य करते हैं और उनकी सफलता को केवल उनके द्वारा अर्जित लाभ के रूप में ही नहीं मापा जा सकता।

PLONE-029

18.6 सार्वजनिक उपक्रमों की समस्याएँ

भारत में सरकार व्यवसाय के अनेक क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर भाग ले रही है। हमने सार्वजनिक उपक्रमों के कार्य–निष्पादन और योगदान के संबंध में चर्चा की। अब हम इन उपक्रमों की सीमाओं के संबंध में विचार करेंगे।

1. सार्वजनिक उपक्रमों का रजिस्ट्रीकरण प्रायः निजी क्षेत्रक की कंपनियों के समान ही संयुक्त पूँजी कंपनी के रूप में होता है, फिर भी उनकी कार्यविधि पूर्णतः व्यावसायिक नहीं होती। ऐसा इसलिए होता है कि ये उपक्रम सरकारी प्रणाली के निकट होते हैं अतः इन्हें प्रायः सरकारी विभागों में प्रचलित कार्यविधियों, प्रक्रियाओं, प्रथाओं, आदि का पालन करना पड़ता है।

2. सार्वजनिक उपक्रमों का निदेशक मंडल पूर्णतः पेशेवर नहीं होता। इनके सर्वोच्च पदाधिकारी अपने पद पर प्रायः बहुत दिन तक टिक नहीं पाते।

3. निदेशक मंडल के निचले स्तर के प्रबन्धकों की नौकरी बहुत कुछ सुरक्षित रहती है। इससे इन उपक्रमों का कार्य–निष्पादन स्तर प्रभावित होता है।

4. सार्वजनिक उपक्रमों की पुरस्कार और दण्ड प्रणाली निजी उद्यमों की अपेक्षा सरकारी विभागों से मिलती–जुलती होती है।

5. अनेक महत्वपूर्ण और बड़े सार्वजनिक उपक्रम प्रायः उन क्षेत्रों में हैं जिनमें टेक्नॉलोजी कठिन और नई होती है। इसके अतिरिक्त इनके स्थान का चुनाव कभी–कभी आर्थिक दृष्टि से नहीं किया जाता।

6. श्रमिकों के संघ प्रायः सशक्त और सुगठित होते हैं। इस कारण ये उन उपक्रमों से अपने उचित अंश से अधिक लेने में समर्थ हो जाते हैं।

7. आवश्यकता से अधिक जनशक्ति और कर्मचारियों की कम उत्पादिता के कारण इन उपक्रमों का कार्य–निष्पादन संतोषजनक नहीं हो पाता। ऐसा प्रायः सभी स्तरों में होता है, लेकिन निचले स्तर में अधिक होता है।

8. निजी उपक्रमों की तुलना में सार्वजनिक उपक्रमों का आकार बड़ा होता है। इस देश के सबसे बड़े प्रथम बीस औद्योगिक उपक्रमों में (परिसंपत्तियों के अर्थ में), 16 सार्वजनिक उपक्रम हैं। इन उपक्रमों के आकार के बढ़ने के साथ ही साथ प्रबन्ध की समस्या की जटिलताओं में गुणोत्तर वृद्धि (geometric progression) होती जाती है। सार्वजनिक उपक्रम प्रायः प्रबंध और प्रशासन संबंधी समस्याओं की जटिलताओं का सामना करने में सफल नहीं हो पाए है।

9. सार्वजनिक उपक्रमों पर अनेक प्रकार की रूकावटें इसलिए भी आ जाती हैं कि इन्हें भारत के नियंत्रक और महालेखापरीक्षक (Comptroller and Auditor General of India) द्वारा लेखापरीक्षण और संसदीय जाँच के अधीन रहना होता है।

अब तक इनमें से अनेक समस्याओं के सही उत्तर नहीं मिल पाए हैं। समय–समय पर इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की युक्तियों का सहारा लिया गया है। परन्तु सफलता नहीं मिली है।

18.7 सारांश

व्यवसायिक उपक्रम के रूप में जिन औद्योगिक एवं वाणिज्यिक क्रियाओं को केन्द्र, राज्य या स्थानीय सरकार द्वारा किया जाता है जिसका उत्पादन एवं विक्रय निःशुल्क नहीं किया जाता वे सभी सार्वजनिक उपक्रम के अन्तर्गत आती है। ये सार्वजनिक उपक्रम सरकार द्वारा बनाई गई अधिकतम लोक कल्याण की नीति के अन्तर्गत संचालित होते हैं। ये सार्वजनिक उपक्रम सरकार, संसद, राज्य विधान मण्डलों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सार्वजनिक उपक्रमों का उद्देश्य : तेज औद्योगीकरण, संरचनात्मक सुविधाओं का विकास, आय की असमानता को कम करना, संतुलित क्षेत्रीय विकास, एकाधिकारी शक्तियों पर नियंत्रण, नये रोजगार का सृजन आदि रहा है। यद्यपि वित्तीय सफलता की दृष्टि से सार्वजनिक उपक्रम निजी उपक्रमों की भांति अधिक लाभ नहीं कमा पाते क्योंकि सार्वजनिक उपक्रमों की कुछ अपनी समस्यायें एवं सीमायें हैं फिर भी भारत को औद्योगिक राष्ट्र का दर्जा दिलाने में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

18.8 उपयोगी शब्दावली

- **समाज का समाजवादी स्वरूपण (Socialist Pattern of Society):** व्यापक रूप में इससे अभिप्राय ऐसी प्रणाली से होता है जिसमें आर्थिक विकास का अधिकाधिक लाभ समाज के अपेक्षाकृत कमजोर वर्ग को होता है तथा धन के सकेन्द्रण को रोकने और आय की असमानता को कम करने का प्रयास किया जाता है।

- **निवेशित पूँजी (Capital employed):** कुल स्थायी परिसम्पत्ति मे संचित मूल्य ह्रास को घटाने के बाद उसमें कार्यशील पूँजी ्ूवतापदह बंचपजंसद्ध का योग। कार्यशील पूँजी का अर्थ होता है चालू परिसंपत्तियों में चालू देयताओं और प्रावधानों को घटाने के बाद बची राशि।

- **औद्योगिक नीति संकल्प (Industrial Policy Resolution):** संकल्प के रूप में सरकार का औपचारिक निर्णय जिसका संबंध औद्योगिक नीति के साथ होता है। इसमें यह भी स्पष्ट होता है कि अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक और निजी उद्यमों का क्या स्थान होगा।

18.9 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. सार्वजनिक उपक्रम क्या है? ये निजी उपक्रमों से किस प्रकार भिन्न है?
2. सार्वजनिक उपक्रमों की विशेषतायें एवं उद्देश्य बताइये।
3. सार्वजनिक उपक्रमों के निष्पादन पर टिप्पणी लिखिए।
4. सार्वजनिक उपक्रमों के वित्तीय परिणामों पर टिप्पणी लिखिए।
5. सार्वजनिक उपक्रमों की समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
6. भारत के विकास में सार्वजनिक उपक्रमों के योगदान पर प्रकाश डालिये।

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- जगदीश प्रकाश : राज्य एवं व्यवसाय, इलाहाबाद, प्रयाग पुस्तक भवन,
- कुल भूषण एवं ओ0पी0 अग्रवाल : व्यावसायिक संगठन के सिद्धांत : सुल्तान चंद एंड संस, नई दिल्ली।
- पी0 सिंह एवं टी0एन0 छाबड़ा : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबंध का परिचय किताब महल, इलाहाबाद।
- पदमाकर अस्थाना : व्यावसायिक संगठन, प्रबन्ध एवं प्रशासन, साहित्य भवन, आगरा।
- जी0एल0 जोशी, जी0एल0 शर्मा, एल0एस0सी0 जोशी : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबंध श्री महावीर बुक डिपो, दिल्ली।
- फ्रैंसिस चेरूनिलम : गर्वनमेन्ट एण्ड बिजनेस, हिमालय पब्लिकेशन, बम्बई।
- के0 अश्वाथापा : बिजनेस इनवायरमेन्ट, विकास पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

इकाई–19 सार्वजनिक उपक्रमों में संगठन के स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 विभागीय संगठन

19.3 लोक निगम

19.4 सरकारी कंपनी

19.4.1 सरकारी और गैर सरकारी कंपनियों में अन्तर

19.5 संगठन के विभिन्न स्वरूपों का तुलनात्मक अध्ययन

19.6 सारांश

19.7 उपयोगी शब्दावली

19.8 महत्वपूर्ण प्रश्न

19.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- सार्वजनिक उपक्रमों में संगठन के विभिन्न स्वरूपों के बारे में बता सकें।
- संगठन के प्रत्येक स्वरूप की विशेषताओं को बता सकें।
- प्रत्येक संगठन के लाभ को स्पष्ट कर सकें।
- संगठन के प्रत्येक स्वरूप के दोषों को बता सकें।
- सरकारी कम्पनी और गैर सरकारी कम्पनी में अन्तर कर सकें।
- संगठन के विभिन्न स्वरूपों का तुलनात्मक अध्ययन कर सकें।

19.1 प्रस्तावना

सार्वजनिक उपक्रमों के क्या स्वरूप होते हैं? क्या ये स्वरूप निजी उपक्रमों (private enterprise) के ही जैसे होते हैं? निजी उद्यमकर्ताओं द्वारा प्रवर्तित व्यावसायिक उद्यमों का संगठन निम्नलिखित तीन में से किसी एक रूप में किया जाता है: (1) एकल स्वामित्व (sole proprietorship) (2) साझेदारी (partnership) और (3) संयुक्त पूँजी कंपनी (jointstock company)। लेकिन सार्वजनिक उपक्रमों में संगठन के स्वरूप भिन्न होते हैं। ये हैं: (1) विभागीय संगठन (departmental organisation) (2) लोक निगम

(public corporation) (3) सरकारी कंपनी (government company)। इस इकाई में संगठनों के इन तीन रूपों की विशेषताओं, लाभों और दोषों के बारे में चर्चा करेंगे तथा यह देखेंगे कि किसी विशेष स्थिति में कौन–सा स्वरूप अधिक लाभप्रद होता है।

सार्वजनिक उपक्रमों में संगठन के स्वरूप

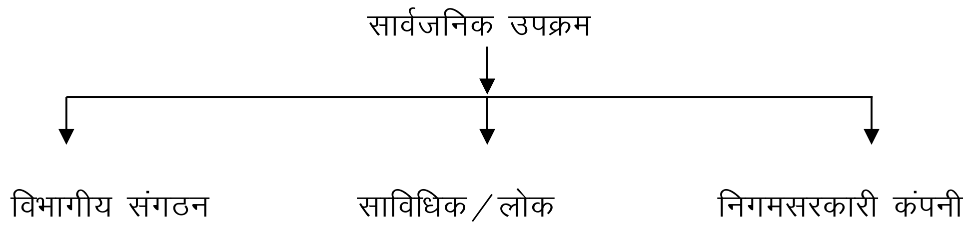

19.2 विभागीय संगठन

भारत में सार्वजनिक उपक्रमों का संगठन और प्रबंध जिस प्रकार से होता है उनमें विभागीय संगठन सबसे पुराना है। इस प्रकार के संगठन के अन्तर्गत उपक्रमों के व्यावसायिक कार्यों का संचालन सरकार के किसी एक विभाग के अधीन होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि किसी सार्वजनिक उपक्रम का संगठन, वित्त व्यवस्था और नियंत्रण जब किसी अन्य सरकारी विभाग जैसा ही होता है, तब उसे विभागीय संगठन कहा जाता है। संगठन के इस रूप का चुनाव प्रायः उन उपक्रमों के लिए किया जाता है जो सार्वजनिक हित और राष्ट्रीय हित की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। यह प्रायः उन उपक्रमों के लिए उपयुक्त होता है जिनका संचालन केवल व्यावसायिक सिद्धांतों के ही आधार पर नहीं किया जाता। विभागीय संगठन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. **सम्बन्धित मंत्रालय के हाथ में पूर्ण नियंत्रण होता है:** इस प्रकार के संगठन के अंतर्गत प्रबंध की कुल जिम्मेदारी उस मंत्री की होती है जिसके मंत्रालय के अधीन यह उपक्रम होता है। मंत्री प्राधिकार का प्रत्यायोजन संगठन में नीचे के विभिन्न स्तरों के बीच कर देता है। कुछ स्थितियों में कार्यो के दिन–प्रतिदिन के प्रबंध के लिए सरकार बोर्ड बना देती है। इस प्रकार के बोर्डों के उदाहरण हैं– रेल बोर्ड, डाक सेवा बोर्ड, दूर संचार बोर्ड इत्यादि।

2. **कर्मचारी सरकारी नौकर होते हैं:** इन विभागीय संगठनों के कर्मचारी सरकारी नौकर होते हैं। उदाहरणार्थ रेल और डाक सेवाओं (जो विभागीय संगठन है) के राजपत्रित अधिकारियों का चुनाव संघ लोक सेवा आयोग के द्वारा ही होता है।

3. **वित्त व्यवस्था बजट के माध्यम से (Budget appropriation) होती है:** विभागीय संगठनों की वित्त व्यवस्था सरकार से स्वतंत्र नहीं होती। इनकी वित्त व्यवस्था वार्षिक बजट विनियोजन के द्वारा सरकारी खजाने से होती है और इनसे हुई आय को सरकारी खजाने में जमा कर दिया जाता है।

4. **लेखा एवं अंकेक्षण (Accounting and Auditing):** इस प्रकार के संगठन को बजट लेखाकरण तथा अंकेक्षण संबंधी नियंत्रण के अधीन रहना होता है। इस कार्य के लिए उपक्रम को अन्य सरकारी संगठनों जैसा ही माना जाता है।

5. **सम्पूर्ण छूट (Sovereign immunity):** सरकार का अभिन्न अंग होने के नाते इसे राज्य की सम्पूर्ण छूट प्राप्त होती है। इस कारण सरकार की सहमति के

बिना इसके खिलाफ मुकदमा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के संगठन के निम्नलिखित लाभ हैं :

1. **अधिकतम सरकारी नियंत्रणः** इस प्रकार के संगठन पर सरकार का अधिकतम नियंत्रण होता है। अतः सरकार अपने सामाजिक दायित्वों को अच्छी तरह निभा सकती है।

2. **लोक–निधि (Public funds) के दुरूपयोग की कम संभावनाः** विभागीय उपक्रमों का प्रबंधन संबंधित मंत्रालय के द्वारा होता है, अतः ये उपक्रम संसद के प्रति पूर्णतः उत्तरदायी होते हैं। आपने यह भी पढ़ा कि बजट, लेखाकरण तथा अंकेक्षण कार्यों के लिए इन्हें अन्य सरकारी विभागों जैसा ही माना जाता है, अतः लोक निधि के दुरूपयोग का खतरा कम हो जाता है।

3. **आर्थिक क्रियाओं पर सरकारी नियंत्रणः** इन उपक्रमों की आर्थिक क्रियाओं पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण होता है, अतः अपनी सामाजिक और आर्थिक नीतियों के साधन के रूप में इनका उपयोग वह निर्बाध रूप से कर सकती है।

4. **आर्थिक प्रगति में वृद्धिः** विभागीय उपक्रमों में होने वाली बचत से सरकार की आय बढ़ती है। इस प्रकार राष्ट्र की आर्थिक प्रगति और जन–कल्याण में इन बचतों का उपयोग किया जा सकता है।

5. **संसद के प्रति उत्तरदायीः** विभागीय उपक्रम अपने दिन–प्रतिदिन के कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। संसद में पूछे जाने वाले प्रश्नों के संबंध में वह किसी विशेषाधिकार की शरण नहीं ले सकता।विभागीय संगठनों के निम्नलिखित दोष हैं :

1. **नौकरशाही और लाल फीताशाहीः** इन विभागीय उपक्रमों के कर्मचारी सरकारी नौकर होते हैं। अतः यह बहुत कुछ सरकार के नौकरशाही तंत्र जैसा ही होता है, जिसमें प्रत्येक निर्णय के दौरान नियमों, विनियमों और पूर्व निर्णयों पर बहुत जोर दिया जाता है। इसलिए इनमें कर्मचारियों के लिए पहल की गुंजाइश बहुत कम होती है।

2. **राजनीतिक अस्थिरता का प्रभावः** ये उपक्रम प्रायः सत्तारूढ़ दल के आश्रित होते हैं। इनका भाग्य भी शासक दल और विपक्ष के बीच के शक्ति–संतुलन के साथ जुड़ा होता है। अतः राजनीतिक परिवर्तन या राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति में इन पर किसी न किसी प्रकार का खतरा आने की संभावना बनी रहती है।

3. **अत्यधिक संसदीय नियंत्रणः** विभागीय उपक्रम अपनी दिन प्रति दिन की कार्यवाइयों तक के लिए संसद के प्रति पूर्णतः उत्तरदायी होते हैं। इसीलिए इनमें पहल और कुशलता की गुंजाइश कम होती है।

4. **व्यावसायिक निपुणता की कमीः** इन उपक्रमों का प्रबंधन सरकारी कर्मचारियों द्वारा होता है, जिनके पास प्रायः व्यवसाय चातुर्य नहीं होता।

5. **प्रतियोगिता और लाभ की प्रेरणा का अभावः** विभागीय उपक्रमों का उद्देश्य सेवा करना होता है, इसलिए इनके संचालन में उन व्यावसायिक सिद्धांतों की उपेक्षा कर दी जाती है जो इनकी सफलता के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसके अतिरिक्त प्रतिस्पर्धा के अभाव में इनकी प्रचालन कुशलता को बढ़ाने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं होता।

6. **वित्तीय बाध्यताएँः** इन उपक्रमों की वित्त व्यवस्था वार्षिक बजट विनियोजन के द्वारा होती है, जिसे विधान मंडल विनियोजित करता है तथा इनकी आय को सरकारी खजाने में जमा किया जाता है। ये स्वयं ही अपने लिए आवश्यक धन नहीं जुटा सकते। इसके लिए इन्हें पूर्णतः सरकार पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

बोध प्रश्न

1. सार्वजनिक उपक्रमों के संगठन के क्या स्वरूप होते हैं?

....

....

....

2. सार्वजनिक उपक्रमों में विभागीय संगठन किसे कहते हैं?

....

....

....

19.3 लोक निगम

सार्वजनिक उपक्रमों का दूसरा स्वरूप लोक निगम निगमित निकाय होता है जिसका निर्माण, संसद या राज्य विधान मंडल द्वारा बनाए गए विशेष अधिनियम के द्वारा होता है, जिसमें निगम की शक्तियों, कर्तव्यों, कार्यों, छूटों और प्रबंध के स्वरूप का स्पष्टीकरण होता है। लोक–निगम को सांविधिक निगम के नाम से भी जाना जाता है। इसकी समस्त पूँजी सरकार द्वारा लगाई हुई होती है। इसका प्रबंध, प्रबंध समिति करती है, जिसका गठन अधिनियम के उपबंधों के अनुसार होता है। लोक–निगम संसद या राज्य विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होता है। इस प्रकार लोक निगम वह युक्ति है जिसके द्वारा निजी क्षेत्र में कार्यरत कंपनी के प्रकार के संगठन की कार्य प्रणाली के लचीलेपन के साथ सार्वजनिक हित का संयोजन किया जाता है।

लोक निगमों का विकास आजादी के बाद की घटना है। देश का सर्वप्रथम लोक निगम दामोदर घाटी निगम ;क्ंउवकंत टंससमल ब्वतचवतंजपवदद्ध है जिसकी स्थापना 1948 ई0 में संसद द्वारा बनाए गए अधिनियम के अंतर्गत हुई। यह बहुउद्देश्य नदी परियोजना है। 1953 ई0 में जब इंडियन एयरलाइन्स और एयर इंडिया की स्थापना हुई तभी वायु निगम अधिनियम भी पारित हुआ। स्टेट बैंक ऑफ इंडिया अधिनियम के द्वारा 1955 ई0 में स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की स्थाना हुई तथा 1956 के जीवन बीमा अधिनियम के अधीन भारतीय जीवन बीमा निगम बनाया गया। इन निगमों की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार है :

1. **विधान मंडल के विशेष अधिनियम के अंतर्गत स्थापनाः** लोक निगम स्वायत्त निगमित निकाय होता है, जिसकी स्थापना राज्य विधान मंडल या संसद द्वारा बनाए गए विशेष अधिनियम के अंतर्गत होती है।

2. **निगमित निकायः** संयुक्त पूँजी कंपनी के ही समान निगम भी एक विधिक एकत्व होता है। यह एक कृत्रिम व्यक्ति है जिसका कानूनी दृष्टि से अपना

अस्तित्व होता है। किसी जीवित व्यक्ति के ही समान यह संविदा कर सकता है तथा अपने नाम से कोई कारोबार कर सकता है। चूँकि इसका भौतिक अस्तित्व नहीं होता, अतः इसका कार्य इसके एजेंटों यानी निदेशक मंडल के द्वारा होता है।

3. **राज्य का पूर्ण स्वामित्वः** इस पर राज्य का पूर्ण स्वामित्व होता है और इसकी समस्त पूँजी राज्य द्वारा लगाई हुई होती है।

4. **निदेशक मंडल द्वारा प्रबंधः** इसका प्रबंध निदेशक मंडल द्वारा होता है जिसका गठन अधिनियम के उपबंधों के अनुसार होता है।

5. **विधान मंडल के प्रति उत्तरदायीः** लोक निगम उस विधान मंडल (संसद या राज्य विधानसभा) के प्रति उत्तरदायी होता है, जो इसका निर्माण करता है।

6. **सरकार के साथ संबंधः** हालांकि कानूनी निगम सरकार के स्वामित्व के अधीन होता है फिर भी यह सरकार के विभाग या अंग के रूप में कार्य नहीं करता। निगम के निगमन अधिनियम में यह दिया हुआ होता है कि सरकार और निगम के बीच किस प्रकार का कानूनी संबंध और संप्रेषण माध्यम होगा।

7. **कर्मचारी भर्ती प्रणालीः** यद्यपि निगम का स्वामित्व और प्रबंध सरकार के अधीन होता है पर उसके कर्मचारी सरकारी नौकर नहीं होते। निगम द्वारा निर्धारित निबंधन और शर्तों के अनुसार उनकी भर्ती होती है, उन्हें पारिश्रमिक मिलता है और उन पर नियंत्रण रहता है।

8. **वित्तीय स्वायत्तताः** कानूनी निगम की स्वायत्तता का मुख्य स्रोत है वित्तीय मामलों में उसका स्वतंत्र होना। विभागीय प्रकार के संगठन के विपरीत लोक निगम पर बजट, लेखाकरण तथा अंकेक्षण संबंधी नियंत्रण नहीं होते। इसकी अपनी निधि होती है, जिसमें उसकी आय को जमा किया जाता हे तथा इसमें से राशि निकाल कर भुगतान किया जाता है। प्रायः लोक निगम विभागीय ढंग से चलने वाले सरकारी उपक्रमों और निजी स्वामित्व और प्रबंधन के अंतर्गत के निगमित निकायों के बीच का मार्ग दिखाता है। इन दोनों की कुछ मुख्य वांछनीय विशेषताओं को यह आत्मसात कर लेता है जिससे इन दोनों के ही गुण इसमें आ जाते हैं। इसके साथ ही साथ यह इन दोनों के कुछ मुख्य दोषों को दूर कर देता है।

1. **लचीलापनः** चूँकि यह विधान मंडल द्वारा बनाए गए अधिनियम के अधीन स्थापित स्वायत्त निगमित निकाय है अतः अपने पहल और लचीलेपन की सहायता से अपने मामलों का प्रबंध स्वतंत्र रूप में करता है।

2. **नौकरशाही को दूर करनाः** विभागीय प्रकार के संगठन में पाये जाने वाले नौकरशाही जैसे दोषों को लोक निगम दूर करता है। विभागीय संगठनों की तुलना में लोक निगम अपने कार्यों के संबंध में शीघ्रता से निर्णय लेकर उचित कार्यवाही कर लेता है।

3. **सुगम पूँजी प्रबन्धः** लोक निगम सरकार के स्वामित्व में सांविधिक (कानूनी) निकाय होते हैं। जब भी आवश्यक होता है तब वे अपेक्षाकृत कम दर की ब्याज वाले बांड जारी करके पूँजी की रकम जुटा लेते हैं।

4. **जनहितः** विभागीय संगठन की तुलना में लोक निगम राजनीतिक हस्तक्षेपों, संसदीय जाँच तथा विभागीय पाबंदियों और नियंत्रणों से मुक्त होता है।

प्रशासन के मामले में बहुत कुछ स्वायत्त होने के बावजूद इसकी नीतियों पर संसदीय नियंत्रण बना रहता है। इससे जनहित की रक्षा होती है।

5. **सेवा भावनाः** लोक निगमों में मुनाफाखोरी, शोषण, अवैध सट्टा जैसे अवगुण नहीं होते, जो निजी उद्यमों में अक्सर ही पाए जाते हैं। लोक निगमों का मुख्य उद्देश्य होता है आम जनता की सेवा करना। लाभ अर्जन तो गौण बात है।

6. **कार्यकुशलताः** लोक निगम अपने कर्मचारियों को अच्छी सुविधाएँ तथा नौकरी संबंधी आकर्षक शर्तें प्रदान करता है जिससे श्रम समस्याएँ कम हो जाती हैं, इस प्रकार इसमें कार्य कुशलता आती है।

7. **बड़े पैमानें की किफायतें:** बड़े पैमाने पर उत्पादन और कारोबार होने के फलस्वरूप बड़े पैमाने की किफायतें होती हैं। इन संगठनों में कुछ दोष भी होते हैं प्रमुख दोष इस प्रकार हैं :

1. **स्वायत्तता (autonomy) की कमीः** विभागीय उपक्रमों की तुलना में लोक निगमों को अधिक स्वायत्तता प्राप्त होती है। फिर भी सरकार इनकी स्वायत्तता पर नियंत्रण रखती है। वह ऐसा उन क्षेत्रों में भी करती है जिनमें यह माना जाता है कि लोक निगम अपने कार्यों के लिए स्वतंत्र है।

2. **लोचहीनताः** किसी लोक निगम की स्थापना विधान मंडल के विशेष अधिनियम के द्वारा होती है। इसके उद्देश्य और शक्ति में किसी प्रकार के परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक होता है कि संसद या विधान मंडल अधिनियम में भी संशोधन करें। इसके फलस्वरूप यह निगम लोचहीन होते हैं।

3. **विरोधी हितों के बीच संघर्षः** जैसा कि आप जानते हैं, निगमों का स्वामित्व सरकार के अधीन होता है, और इनका प्रबंध निदेशक मंडल करता है, जिनकी नियुक्ति सरकार करती है। यह निदेशक मंडल जब विरोधी हितों का प्रतिनिधित्व करता है, तब हितों के बीच संघर्ष हो सकता है। इसके फलस्वरूप निगम के सुचारू रूप से चलने में रूकावट आ सकती है।

4. **व्यावसायिक सिद्धांतों की उपेक्षाः** लोक निगमों को किसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ता। उनका निर्देशन न तो लाभ के प्रयोजन से होता है और न ही क्षति के भय से वे ग्रस्त होते हैं। इसलिए इस बात की संभावना रहती है कि उनकी कार्यवाइयों के दौरान व्यावसायिक सिद्धांतों की उपेक्षा कर दी जाए।

5. **अत्यधिक सार्वजनिक जवाबदेहीः** लोक निगमों का कार्य लाभ कमाने के उद्देश्य से नहीं बल्कि सेवा की भावना से होता है। उनका इस प्रकार का सार्वजनिक उत्तरदायित्व कभी–कभी उनकी कार्य कुशलता में बाधा का काम करता है।

बोध प्रश्न

1. लोक निगम क्या है?

....

....

....

....

2. लोक निगम की क्या विशेषताएँ हैं?

....

....

....

....

19.4 सरकारी कंपनी

भारतीय कंपनी अधिनियम 1956 के अनुसार उस कंपनी को सरकारी कंपनी कहा जाता है जिसकी कुल प्रदत्त पूँजी का 51 प्रतिशत या उससे अधिक भाग केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार या अनेक राज्य सरकारों या अंशतः केन्द्रीय सरकार और अंशतः एक या अनेक राज्य सरकारों द्वारा लगाया हुआ होता है। ऐसी कंपनी की नियंत्रित कंपनी भी सरकारी कंपनी कही जाती है।

सरकारी कंपनी की विशेषताएँ कानूनी निगमों की विशेषताओं जैसी ही है। फिर भी इनके बीच एक मुख्य अंतर है। कानूनी निगम की स्थापना के लिए विधान मंडल (केन्द्र या राज्य का) द्वारा बनाया गया अधिनियम आवश्यक होता हैं। परंतु सरकारी कंपनी की स्थापना के लिए इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। सरकारी कंपनी की विशेषताएँ निम्नलिखित है :

1. **भारतीय कंपनी अधिनियम के अधीन स्थापितः** सरकारी कंपनी एक निगमित निकाय होती है, जिसकी स्थापना निजी क्षेत्र की अन्य संयुक्त पूँजी कंपनी के ही समान भारतीय कंपनी अधिनियम 1956 के अधीन होता हे। इसके पंजीकरण, सीमा नियम (memorandum), अंतर्नियमों बैठकों, पूँजी संरचना, लेखा, अंकेक्षण, आदि के संबंध में कंपनी अधिनियम के उपबंध लागू होते हैं।

2. **निगमित निकायः** सरकारी कंपनी का विधिक अस्तित्व होता है। यह एक कृत्रिम व्यक्ति है जिसकी कानूनी दृष्टि में अपनी अलग सत्ता होती है। किसी जीवित व्यक्ति के ही समान अदालत में यह किसी पर मुकदमा दायर कर सकती है या इस पर भी कोई मुकदमा दायर कर सकता है, कोई संविदा कर सकती है और अपने नाम से कोई संपत्ति ले सकती है।

3. **पूँजी में निजी सहभागिता (Private participation):** सरकारी कंपनी पर सरकार का पूर्णतः या अंशतः स्वामित्व हो सकता है। परंतु किसी भी स्थिति में सरकार के शेयर 51 प्रतिशत से कम नहीं होते। यदि इस पर सरकार का अंशतः स्वामित्व है तब इसमें निजी व्यक्ति भी (व्यक्ति तथा निगमित निकाय) पूँजी लगा सकते हैं।

4. **निदेशक मंडल द्वारा प्रबंधः** इसका प्रबन्ध निदेशक मंडल करता है। सभी निदेशकों या उनमें से अधिकतर की नियुक्ति सरकार करती हे।

5. **वित्तीय स्वतंत्रताः** सरकारी कंपनी अपनी वस्तुओं और सेवाओं के विक्रय से प्राप्त आय का उपयोग और पुनः उपयोग कर सकती है। आवश्यकता पड़ने पर वह वित्तीय संस्थाओं और आम जनता से उधार भी ले सकती है।

6. **स्वतंत्र कर्मचारी–भर्तीः** इसके कर्मचारी सरकारी नौकर नहीं होते। कंपनी इनकी नियुक्ति अपने ही निबंधन और शर्तों (terms and conditions) के अनुसार करती है।

7. **स्वतंत्र लेखाकरण और अंकेक्षण प्रणालीः** सरकारी विभागों पर लागू होने वाले लेखाकरण और अंकेक्षण संबंधी नियम सरकारी कंपनी पर लागू नहीं होते। इसकी लेखाकरण प्रणाली बहुत कुछ व्यावसायिक उद्यमों जैसी होती है और इसके लेखा परीक्षक चार्टर्ड एकाउटेंट होते हैं।

8. **वार्षिक रिपोर्टः** कंपनी अधिनियम के अनुसार इसके अंकेक्षण रिपोर्टों के साथ–साथ वार्षिक रिपोर्ट और लेखों को विधान मंडल के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

सरकारी कंपनी और अन्य संयुक्त पूँजी कंपनियों, जिन्हें गैर–सरकारी कंपनी कहा जाता है, में कुछ अन्तर होते हैं जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा हैं :–

1. **प्रदत्त पूँजीः** सरकारी कंपनी की कम–से–कम 51 प्रतिशत प्रदत्त शेयर पूँजी (paid up share capital) केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार या संयुक्त रूप से केन्द्रीय सरकार और एक या एक से अधिक राज्य सरकारों की होती है। गैर–सरकारी कंपनियों की प्रदत्त पूँजी का अधिकांश भाग गैर–सरकारी व्यक्तियों द्वारा लगाया हुआ होता है।

2. **अंकेक्षक की नियुक्तिः** सरकारी कंपनियों के अंकेक्षक की नियुक्ति नियंत्रक और महालेखा परीक्षक की सलाह पर होती है। गैर–सरकारी कंपनी के अंकेक्षक की नियुक्ति कंपनी की साधारण सभा करती है।

3. **वार्षिक रिपोर्टः** केन्द्रीय सरकार की कंपनी के वार्षिक रिपोर्ट तथा अंकेक्षण रिपोर्ट संसद के सामने तथा राज्य सरकार की कंपनी के, ये रिपोर्ट राज्य विधान मंडल के सामने रखे जाते हैं। गैर–सरकारी कंपनी का अंकेक्षण रिपोर्ट इसकी साधारण सभा के सामने रखा जाता है।

4. **कंपनी अधिनियम के उपबंधः** केन्द्रीय सरकार को यह घोषित करने का अधिकार है कि कंपनी अधिनियम के अंतर्गत अंकेक्षण संबंधी उपबन्धों के अतिरिक्त अन्य कोई भी उपबंध किसी सरकारी कंपनी पर लागू नहीं होगा। परंतु गैर–सरकारी कंपनियों पर लागू होने वाले कंपनी अधिनियम के उपबंधों के संबंध में केन्द्रीय सरकार ऐसी कोई कार्यवाही नहीं करती।

सरकारी कंपनी के निम्नलिखित लाभ हैं :

1. **इसका गठन सरल हैः** भारत के अधिकतर सार्वजनिक उद्यम संयुक्त पूँजी कंपनी के रूप में है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस प्रकार की कंपनी बनाना सरकार के लिए आसान होता है।

2. **संविधान में परिवर्तन करना आसान होता हैः** सरकार इसे इसलिए पसंद करती है कि अंतर्नियमों में संशोधन के द्वारा संविधान में परिवर्तन करना आसान होता है।

3. **चालू उद्यम को अपने अधीन लेना आसान होता जाता हैः** किसी चालू उद्यम की शेयर पूँजी के अधिकांश भाग को प्राप्त करके सरकार उसे अपने अधीन कर लेती है और उसे सरकारी कंपनी का रूप दे देती है।

4. **निजी सहभागिता में सुविधाः** इस प्रकार के संगठन से सार्वजनिक उद्यमों की इक्विटी में निजी सहभागिता का होना आसान हो जाता है। सरकार यदि चाहे तो वह सरकारी कंपनी की इक्विटी के कुछ अंश को जनता के बीच बेचकर ऐसा बड़ी आसानी से कर सकता है।

5. **स्वामित्व का हस्तांतरण करना आसान होता हैः** संगठन के सरकारी कंपनी के रूप में होने से सार्वजनिक उपक्रम को बेचना आसान होता है। शेयरों की कीमत तय होते ही इन शेयरों को निजी पार्टियों को बेचकर कंपनी का स्वामित्व बड़ी आसानी से हस्तांतरित कर दिया जाता है।

6. **अधिक स्वायत्तताः** इसमें लोक निगम प्रकार के संगठन के प्रायः सभी गुण होते है। इसके पास अपना चार्टर, प्रचालन की स्वायत्तता, वित्तीय मामलों में आत्मनिर्भरता तथा कार्मिक मामलों में स्वतंत्रता होती है।

7. **प्रचालन में लचीलापनः** सरकारी कंपनी के कर्मचारी सरकारी नौकर नहीं होते। अतः विभागीय प्रकार के संगठनों के लालफीताशाही तथा नौकरशाही जैसे दोषों से बचना आसान हो जाता है।

सरकारी कंपनी के रूप में संगठन के निम्नलिखित दोष हैं :

1. **संवैधानिक दायित्व से बचनाः** सरकारी कंपनी की स्थापना संसद की स्वीकृति लिए बिना ही की जा सकती है। इसके निर्माण के कारणों और उसके संविधान के संबंध में संसद में विचार नहीं किया जाता। इस प्रकार सरकारी कंपनी संवैधानिक दायित्व से बच जाती है।

2. **सरकारी हस्तक्षेपः** सरकार अधिकतर सरकारी कंपनियों की एकमात्र शेयर होल्डर होती है, इस नाते जब भी आवश्यक होता है, वह किसी कंपनी के सीमा नियम और अंतर्नियम में संशोधन कर सकती है।

3. **सार्वजनिक जवाबदेही का भयः** सरकारी कंपनी के निदेशकों और उच्च अधिकारियों को सदा ही सार्वजनिक उत्तरदायित्व का भय रहता है। इस कारण किसी नए क्षेत्र में पहल करने तथा कोई नया कार्य करने में उन्हें हिचक होती है।

4. **जनता के बीच आलोचनाः** संबद्ध मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट में सरकारी कंपनी के कार्यों का उल्लेख रहता है। इस रिपोर्ट को संसद या राज्य विधान मंडल के सामने रखा जाता है। इस प्रकार यह रिपोर्ट सार्वजनिक दस्तावेज बन जाती है, जिससे सरकारी कंपनी की जनता के बीच आलोचना हो सकती है।

5. **पेशेवर प्रबंधक वर्ग का अभावः** जैसा कि आप जानते हैं सरकारी कंपनी के निदेशकों की नियुक्ति प्रायः सरकार करती है। इस कारण निजी क्षेत्र के उद्यमों में पाई जाने वाली व्यावसायिक दक्षता सरकारी कंपनियों में नहीं आ पाती।

19.5 सार्वजनिक संगठन के विभिन्न स्वरूपों का तुलनात्मक अध्ययन

सार्वजनिक संगठन के तीन रूपों यानी विभागीय संगठन, कानूनी निगम और सरकारी कंपनी में से प्रत्येक की विशेषताओं और उनके दोषों के संबंध में पहले ही विचार किया जा चुका है। अब हम इन तीनों की विशेषताओं की तुलना करेंगे और

जानने का प्रयास करेंगे कि दी हुई स्थिति में कौन–सा रूप अधिक उपयुक्त होगा। इन तीनों की विशेषताएँ संक्षेप में दी गई है।

सारणी

सार्वजनिक उपक्रमों के संगठन के तीन रूपों का तुलनात्मक अध्ययन

क्र	आधार	विभागीय संगठन	लोक निगम	सरकारी कंपनी
1	**निर्माण**	इसकी स्थापना सरकार करती है और यह किसी विशेष मंत्रालय से संबद्ध होता है।	विधान मंडल के विशेष अधिनियम के अधीन इसकी स्थापना होती है।	मंत्रालय इसकी स्थापना कंपनी अधिनियम के अधीन करता है।
2	**विधिक अस्तित्व**	अलग से विधिक अस्तित्व नहीं होता।	इसका पृथक् विधिक अस्तित्व होता है।	इसका पृथक विधिक अस्तित्व होता है।
3.	**प्रबन्ध**	सरकार का सम्बन्धित मंत्रालय इसका प्रबंध करता है।	इसका प्रबंध निदेशक मंडल द्वारा होता है, जिसे सरकार मनोनीत करती है।	इसका प्रबंध निदेशक मंडल द्वारा होता है जिसमें सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य और शेयरहोल्डरों द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं।
4	**पूँजी**	इसकी समस्त पूँजी की व्यवस्था सरकार बजट विनियोजन से करती है।	समस्त पूँजी सरकार लगाती है।	कम से कम 51 प्रतिशत पूँजी सरकार द्वारा लगाई गई होती है।
5	**निजी सहभागिता की गुंजाइश**	निजी सहभागिता की कोई गुंजाइश नहीं होती।	निजी सहभागिता की कोई गुंजाइश नहीं होती।	इसकी शेयर पूँजी में और अतः इसके मामले में भी निजी (राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय) सहभागिता की गुंजाइश होती है।
6.	**प्रचालन स्वायत्तता**	स्वायत्तता कम से कम होती है या बिल्कुल ही नहीं होती। सरकार के अनिवार्य अंग के रूप में कार्य	अधिनियम के उपबंधों के अंतर्गत स्वायत्त निकाय के रूप में कार्यकरता है। इसे काफी हद तक स्वतंत्रता	निजी उद्यम के समान इसका संचालन व्यावसायिक सिद्धांतों के अनुसार होता है तथा सरकारी हस्तक्षेप से इसे कुछ हद तक

		करता है।	प्राप्त होती है क्योंकि इसके दिन–प्रतिदिन के कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता।	स्वतंत्रता होती है।
7.	**लचीलापन**	इस पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण होता है। इस पर बजट, लेखाकरण और अंकेक्षण संबंधी सरकारी प्रक्रियाएँ लागू होती है।	इस पर सरकार का कुछ नियंत्रण होता है। इस पर बजट, लेखाकरण और अंकेक्षण संबंधी सरकारी प्रक्रियाँ लागू नहीं होती हैं।	सरकारी नियंत्रण से कुछ हद तक स्वतंत्र होता है। बजट, लेखाकरण और अंकेक्षण संबंधी सरकारी प्रक्रियाएँ लागू नहीं होती।
8	**सार्वजनिक उत्तरदायित्व**	संबद्ध मंत्री विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होता है।	विधान मंडल के द्वारा जनता के प्रति उत्तरदायी होता है।	सरकार और संबद्ध मंत्रालय जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं।
9	**वित्त व्यवस्था और उधार लेने की शक्ति**	केवल बजट विनिधान होता है। इसके पास उधार लेने की शक्ति नहीं होती। इसकी आय को सरकारी खजाने में जमा कर दिया जाता है।	यह स्वयं ही अपनी वित्त व्यवस्था करता है तथा इसके पास उधार लेने की शक्ति भी होती है। इसे अपनी आय का उपयोग करने का भी अधिकार होता है।	यह स्वयं ही अपनी वित्त व्यवस्था करती है तथा इसके पास उधार लेने को शक्ति भी होती है। इसे अपनी आय का उपयोग करने का अधिकार होता है।
10	**कर्मचारी भर्ती तथा सेवा की शर्तें**	इसके कर्मचारी सरकारी नौकर होते हैं और उन पर सिविल सेवा संहिता लागू होती है।	इसके कर्मचारी सरकारी नौकर नहीं होते। इन पर लोक निगम की सेवा संहिता लागू नहीं होती है।	इसके कर्मचारी सरकारी नौकर नहीं होते। इन पर सरकारी कंपनी की सेवा संविदा लागू होती है।

इन तीनों प्रकार के संगठनों की विशेषताओं के बीच तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि विधान–मंडल के प्रति उत्तरदायित्व और सरकारी नियंत्रण, विभागीय संगठन में अधिकतम और सरकारी कंपनी में न्यूनतम होते हैं। कर्मचारी, भर्ती, वित्त व्यवस्था और दिन–प्रतिदिन के प्रचालन के संबंध में विभागीय प्रकार के संगठन को कम से कम स्वायत्तता होती है जबकि कंपनी प्रकार के संगठन के पास यह अधिकतम होती है। उसी प्रकार विभागीय संगठन कम से कम लचीला होता है जबकि सरकारी कंपनी

अधिकतम लचीली होती है। लोक निगम और सरकारी कंपनी की मुख्य विशेषताएँ लगभग एक जैसी होती है। इन दोनों के कार्य–संचालन में शायद ही कोई अंतर होता है। सरकारी कंपनी की पूँजी और प्रबंध में निजी सहभागिता की गुंजाइश होती है परंतु लोक निगम के संबंध में ऐसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त कंपनी प्रकार का संगठन संसदीय नियंत्रण से बच जाता हैं

संगठन के इन तीन रूपों की विशेषताओं के तुलनात्मक मूल्यांकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक और व्यावसायिक उपक्रमों के लिए कंपनी के रूप का संगठन सर्वाधिक उपयुक्त होता है जबकि लोकोपयोगी उपक्रमों के लिए सांविधिक निगम ठीक रहता है। औद्योगिक और व्यावसायिक उद्यमों को यदि कुशलतापूर्वक चलाना है तो आवश्यक है कि प्रबंध को अधिकतम स्वायत्तता दी जाए और प्रबंधक पेशेवर व्यक्ति हों। इनके दिन–प्रतिदिन के कार्यों में मंत्रालय या संसद की ओर से हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नीति निर्धारण तथा कार्यविधियों के संबंध में नम्य दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

19.6 सारांश

सार्वजनिक उपक्रमों में संगठन के तीन स्वरूप होते हैं: (1) विभागीय संगठन, (2) लोक (सांविधिक) निगम और (3) सरकारी कंपनी।

विभागीय प्रकार के संगठन में उद्यम का गठन, वित्त व्यवस्था और नियंत्रण सरकारी विभाग जैसा ही होता है। इसका कुल नियंत्रण संबद्ध मंत्री के हाथ में होता है और इसके कुशल संचालन के लिए वह विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होता है। इसकी वित्त व्यवस्था विधान मंडल द्वारा किए गए वार्षिक बजट विनियोजन से होती है और इसकी आय को सरकारी खजाने में जमा किया जाता है। अन्य सरकारी विभागों पर लागू होने वाले बजट, लेखाकरण और अंकेक्षण नियंत्रण इस पर भी लागू होते हैं। इस संगठन के कर्मचारी सरकारी नौकर होते है।

लोक (सांविधिक) निगम निगमित निकाय होता है जिसका निर्माण संसद या राज्य विधान मंडल द्वारा बनाए गए विशेष अधिनियम के द्वारा होता है, जिसमें शक्तियों, कर्त्तव्यों, कार्यों, छूटों और प्रबंध के स्वरूप का स्पष्टीकरण होता है। इसे कानूनी निगम भी कहा जाता है। यह निगम पूर्णतः सरकार के स्वामित्व में होता है और इसकी समस्त पूँजी सरकार द्वारा लगाई हुई होती है। इसका प्रबंध सरकार द्वारा मनोनीत निदेशक मंडल करता है। इसके कर्मचारी सरकारी नौकर नहीं होते। यह विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होता है, जो इसका निर्माण करता है। फिर भी विधान मंडल से अपेक्षा की जाती है कि वह लोक निगम के दिन–प्रतिदिन के संचालन में हस्तक्षेप न करें।

सरकारी कंपनी निगमित निकाय होती है जिसका रजिस्ट्रीकरण इंडियन कंपनी ऐक्ट के अधीन होता है तथा जिसकी कुल प्रदत्त पूँजी का कम से कम 51 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार या अनेक राज्य सरकारों या अंशतः केन्द्रीय सरकार और अंशतः एक या अनेक राज्य सरकारों द्वारा लगाया हुआ होता है। ऐसी कंपनी की नियंत्रित कंपनी भी सरकारी कंपनी कही जाती है। सरकारी कंपनी की स्थापना के लिए सरकार के लिए आवश्यक नहीं होता कि वह विधान मंडल से स्वीकृति ले। इस प्रकार के संगठन की पूँजी तथा प्रबंध में निजी सहभागिता की भी गुंजाइश होती है। इसका प्रबंध निदेशक मंडल करता है, जिसमें सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य होते हैं तथा जिस कंपनी में निजी शेयरधारी भी होते हैं, उसके निदेशक मंडल में उनके द्वारा निर्वाचित सदस्य भी होते हैं। इसमें वित्तीय स्वायत्तता तथा स्वतंत्र

कर्मचारी भर्ती प्रणाली होती है। विभागीय संगठनों पर लागू होने वाले लेखाकरण, अंकेक्षण तथा बजट नियंत्रण इस पर लागू नहीं होते।

सार्वजनिक उद्यमों के तीनों रूपों की विशेषताओं के तुलनात्मक मूल्यांकन से पता चलता है कि विभागीय प्रकार का संगठन उन उपक्रमों के लिए उपयुक्त होता है जो जनहित और राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं। कंपनी प्रकार का संगठन व्यावसायिक और औद्योगिक उपक्रमों के लिए उपयुक्त होता है, जबकि लोकोपयोगी उपक्रमों के लिए लोक निगम को ठीक समझा जाता है।

19.7 उपयोगी शब्दावली

- **स्वायत्तता:** सार्वजनिक उपक्रम के संदर्भ में स्वायत्तता शब्द से अभिप्राय होता है किसी प्रकार के राजनीतिक हस्तक्षेप के बिना स्वतंत्र रूप से प्रबंधन, नीति–निर्धारण और नीतियों को कार्यान्वित करना।
- **निगमित निकाय:** वह संगठन जिसका विधिक अस्तित्व हो और जिसका निर्माण विधान मंडल के अधिनियम के द्वारा या कंपनी अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकरण के द्वारा हो।
- **विभागीय संगठन:** संगठन का एक रूप जिसमें किसी सार्वजनिक उपक्रम का संगठन, वित्त व्यवस्था तथा नियंत्रण किसी सरकारी विभाग के ही समान किया जाता हो।
- **सरकारी कंपनी:** भारतीय कंपनीज अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत कोई कंपनी जिसकी कम से कम 51 प्रतिशत प्रदत्त पूँजी केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार या अनेक राज्य सरकारों या अंशतः केन्द्रीय सरकार और अंशतः एक या अनेक राज्य सरकारों द्वारा लगाई गई हो।
- **संयुक्त स्वामित्व कंपनी:** वह उद्यम जिसकी पूँजी सरकार और निजी हितों (भारतीय या विदेशी) के संयुक्त स्वामित्व में हो।
- **सार्वजनिक जवाबदेही:** संसद या राज्य विधान मंडल के विशेष अधिनियम द्वारा निर्मित स्वायत्त निगमित निकाय, जिसके कार्यों और शक्तियों का स्पष्टीकरण कर दिया गया हो।
- **भारत के नियंत्रक और महालेखापरीक्षक:** सरकारी संगठनों के लेखा के अंकेक्षण के लिए भारत के संविधान अधीन एक प्राधिकारी।

19.8 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. सार्वजनिक उपक्रमों में संगठनों के क्या स्वरूप होते हैं? प्रत्येक रूप की विशेषताएँ बताइये।

प्रश्न 2. सांविधिक निगम क्या है? इसके गुणों और दोषों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3. सरकारी कंपनी क्या है? सरकारी कंपनी और गैर–सरकारी कंपनी के बीच अन्तर बताइये।

प्रश्न 4. सरकारी कंपनी की क्या मुख्य विशेषताएँ होती हैं? सांविधिक निगम की विशेषताओं से ये किस रूप में भिन्न होती हैं?

प्रश्न 5. सरकारी कंपनी क्या है? इसकी विशेषताओं, गुणों और दोषों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 6. विभागीय संगठन किसे कहते हैं? इस संगठन की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। इस प्रकार का संगठन लोकप्रिय क्यों नहीं होता।

प्रश्न 7. लोक निगम क्या होते हैं। इनकी विशेषतायें एवं लाभ बताइये।

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- प्रो0 जगदीश प्रकाश : पब्लिक इण्टरप्राइजेज इन इंडिया : प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
- ऐडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स कमीशन : रिपोर्ट ऑफ दी स्टडी टीम ऑन पब्लिक सेक्टर अंडर टेकिंग्स, नई दिल्ली : गवर्नमेंट ऑफ इंडिया,।
- घोष पी0के0 : पब्लिक इंटरप्राइजेज़ इन इंडिया : कलकत्ता, बुक वर्ल्ड,
- पदमाकर स्थाना : व्यावसायिक संगठन प्रबन्ध एवं प्रशासन, साहित्य भवन, आगरा।
- यदुकुल भूषण एवं ओ0पी0 अग्रवाल : व्यावसायिक संगठन के सिद्धांत : सुल्तान चंद एंड संस, नई दिल्ली।
- बी0पी0 सिंह एवं टी0एन0 छाबड़ा : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबंध का परिचय : किताब महल, इलाहाबाद।
- जी0एल0 जोशी, जी0एल0 शर्मा एवं एस0सी0 जोशी : व्यावसायिक संगठन एवं प्रबंध : श्री महावीर बुक डिपो, दिल्ली।
- प्रो0 जगदीश प्रकाश : राज्य एवं व्यवसाय : प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

इकाई–20 लोकोपयोगी सेवा संस्थाएँ

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं से आशय

20.3 लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं की विशेषताएँ

20.4 लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं का संगठन और प्रबंध

20.5 लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं की मूल्य निर्धारण नीति

20.6 लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं की विपणन नीति

20.7 सार्वजनिक नियंत्रण और सरकारी विनियमन

20.8 सारांश

20.9 उपयोगी शब्दावली

20.10 महत्वपूर्ण प्रश्न

20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे :

- लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं के अर्थ और विशेषताओं को स्पष्ट कर पाने में,
- लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं के संगठन और प्रबंध के रूप बता पाने में,
- लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं की मूल्य निर्धारण और विपणन नीति का वर्णन कर पाने में
- लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं पर नियंत्रण और विनियमन के बारे में पता पाने में।

20.1 प्रस्तावना

हमें अपने दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अनेक आवश्यक सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। शहरों में हम नल का जल प्रयोग में लाते हैं, प्रकाश वातानुकूलन आदि कार्यों के लिए विद्युत की आवश्यकता पड़ती है। इसका उपयोग कल–कारखानों, ट्रामों तथा रेलों को चलाने और सिंचाई के लिए भी होता है। क्या

आपने कभी सोचा है कि इन सब की व्यवस्था कैसे होती है? ये सभी सेवाएँ लोकोपयोगी सेवाएँ या सार्वजनिक सेवाएँ कही जाती हैं और जो संगठन इनकी व्यवस्था करते हैं उन्हें लोकोपयोगी संस्था/उपक्रम कहा जाता है। इस इकाई में हम लोकोपयोगी संस्थाओं के अर्थ विशेषताओं, संगठन के रूप, प्रबंधन, मूल्य निर्धारण नीति और विपणन नीति के संबंध में चर्चा करेंगे। इसके अतिरिक्त लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं पर सरकारी विनियमन और नियंत्रण के संबंध में भी विचार किया जाएगा।

20.2 लोकोपयोगी सेवा संस्थाएँ क्या हैं?

आजकल विद्युत, जल, गैस, परिवहन, संचार, आदि वस्तुएँ हमारे जीवन के लिए अपरिहार्य हो गई है। इन वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति के संबंध में जब भी रूकावट आती है तब लोगों का जीवन अस्त–व्यस्त हो जाता है। नल में पानी न आने की स्थिति में कुंआ या हैंडपंप का आश्रय लेना पड़ता है, जिसके कारण हम अपने कार्यालय में या अन्य किसी कार्य स्थल पर देर से पहुँचते हैं। इसी प्रकार बिजली या परिवहन के संबंध में किसी प्रकार की गड़बड़ी होने पर लोगों को बहुत परेशानी उठानी पड़ती है।

अतः ये सेवाएँ समाज के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है। इसीलिए इन्हें अनिवार्य सेवाएँ या अपरिहार्य आवश्यकताएँ कहा जाता है। इन व्यावसायिक उपक्रमों की स्थापना का मूल उद्देश्य यह होता है कि सभ्य समाज के लिए आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति कुशलतापूर्वक और निरंतर की जा सके उन्हें लोकोपयोगी संस्था कहा जाता है। यह कहा जा सकता है कि लोकोपयोगी सेवा संस्थाएँ जनहित की पर्यायवाची हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकोपयोगी सेवा संस्थाएँ वे व्यावसायिक उपक्रम हैं जो आम जनता के प्रतिदिन काम में आने वाली आवश्यक वस्तुओं एवं सेवाओं की पूर्ति के काम में लगे होते हैं। गैस, जल, बिजली, नगर परिवहन आदि जैसी अनिवार्य सेवाओं की पूर्ति कार्य में लगी संस्थाएँ लोकोपयोगी उपक्रमों के कुछ उदाहरण हैं। सभी लोकोपयोगी उपक्रमों का दायित्व होता है कि किसी प्रकार का भेदभाव किए बिना समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति को उनके लिए आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति करें तथा उनसे उनकी उचित कीमत लें।

20.3 लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं की विशेषताएँ

लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं का संबंध अनिवार्य वस्तुओं और सेवाओं से होता है। इसी कारण ये उपक्रम अन्य व्यावसायिक उद्यमों से बिल्कुल ही अलग होते हैं। लोकोपयोगी सेवाओं संस्थाओं की प्रमुख विशेषताओं का विवरण इस प्रकार है :

1. **अनिवार्यता (Indispensability):** लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं का संबंध जल, गैस, बिजली, परिवहन टेलीफोन, डाक सेवा आदि के साथ होता है। इन संस्थाओं की जरूरत इसलिए पड़ती है कि समाज की बुनियादी आवश्यकाताओं को पूरा किया जा सके तथा जाति और संप्रदाय के आधार पर अंतर किए बिना प्रत्येक नागरिक के लिए सभ्य और सुखी जीवन की व्यवस्था की जा सके। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि इन सेवाओं को नियमित, एक समान और पर्याप्त रूप में उपलब्ध कराया जाए। इसीलिए सभी आधुनिक समाजों में लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं का होना अनिवार्य समझा जाता है।

2. **स्थानीय कार्य क्षेत्र (Local Field of operation):** लोकोपयोगी उपक्रमों का कार्यक्षेत्र प्रायः स्थानीय होता है। ये प्रायः किसी नगर, शहर या अधिक से

अधिक किसी जिले के नागरिकों की जरूरतों को पूरा करते हैं। जैसे मदर डेरी, दिल्ली नगर के विभिन्न इलाकों में स्थित अपने बूथों के द्वारा लोगों तक दूध पहुँचाते हैं।

3. **एकाधिकृत या अर्ध–एकाधिकारी स्थिति (Monopolistic or semi-monopolistic position):** अनिवार्य जन सेवाओं की पूर्ति करने वाले उपक्रम स्वभावतः ही एकाधिकारी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। उनके कोई प्रतिस्पर्धी नहीं होते। बम्बई इलैक्ट्रिक सप्लाई एण्ड ट्रान्सपोर्ट इसी का एक उदाहरण है। बिजली की पूर्ति के मामले में इस नगर में इसका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। प्रायः यह माना जाता है कि अनिवार्य वस्तुओं और सेवाओं के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप बेकार में ही दोहरेपन तथा सामाजिक क्षति की स्थिति आ सकती है। किसी शहर में पेय जल आपूर्ति का ही उदाहरण लीजिए। इसके लिए कुंआ खोदने, प्लांटों को लगाने और पाइप लाइनों को डालने में काफी खर्च लगता है। ये सब कार्य प्रायः संबंधित नगरपालिका के नियंत्रण में होते हैं। यदि इसी शहर में इसी कार्य को अन्य कोई उपक्रम भी करें तो व्यर्थ में इतना ही और धन लगाना पड़ेगा। इसी प्रकार के अपव्यय से बचने के लिए लोकोपयोगी उपक्रमों को एकाधिकारी शक्ति दी जाती है। लेकिन इस प्रकार के उपक्रमों के कुछ प्रतिस्पर्धी भी होते है, जैसे दिल्ली में दुग्ध आपूर्ति व्यवस्था। इस नगर में मदर डेरी के साथ ही साथ दिल्ली दुग्ध योजना तथा नानक मिल्क सप्लाई कंपनी भी दूध की पूर्ति का कार्य करती है। इस प्रकार मदर डेरी की स्थिति अर्ध–एकाधिकारी जैसी हो गई है।

4. **नियमन एवं नियंत्रण (Regulation and Control):** आप जानते ही हैं कि इन उपक्रमों के पास एकाधिकारी या अर्ध–एकाधिकारी शक्ति होती है। प्रायः वे अपनी शक्तियों का दुरूपयोग तथा ग्राहकों का शोषण करने की स्थिति में होते हैं। उदाहरणार्थ वे घटिया किस्म की वस्तुएँ या सेवाएँ दे सकते हैं, पूर्ति कार्य को अनियमित कर सकते हैं या इनके लिए अधिक कीमतें ले सकते हैं। अतः सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी पड़ती है कि उचित कीमतों पर अच्छी तरह की वस्तुएँ और सेवाएँ उपलब्ध हो सकें। जनता को विश्वास दिलाना होता है कि बिना किसी प्रकार के भेदभाव के उसे नियमित और पर्याप्त रूप में वस्तुएँ और सेवाएँ मिलती रहेंगी। अतः लोकोपयोगी उपक्रमों की कार्याविधियों तथा कीमत और पूर्ति संबंधी नीतियों को विनियमित करना आवश्यक हो जाता है। इसीलिए तो इन उपक्रमों के संबंध में सरकार के पास नियामक शक्ति ;तमहनसंजवतल चवूमतेद्ध होती है जिनकी व्यवस्था विशेष प्रकार के अधिनियम के अधीन होती है।

5. **फ्रेंचाइजी (Franchise):** लोकोपयोगी उपक्रम अच्छी तरह से चल सकें इसके लिए उन्हें कुछ विशेषाधिकार दिए जाते हैं, जैसे यह अधिकार कि अपने कार्य के सिलसिले में वे सरकारी संपत्ति (भूमि, भवन, सड़क, आदि) में दखल दे सकें। उदाहरणार्थ रेलवे, जो कि लोकोपयोगी उपक्रम है, सड़कों पर अवरोध लगाकर लेवेल क्रासिंगों पर यातायात के आने जाने पर प्रतिबंध लगा सकती है। इसी प्रकार पाइपों को डालते समय जल आपूर्ति उपक्रम सड़कों पर गड्ढे खोद सकता है। इन उपक्रमों को कुछ विशेष प्रकार की सुविधाएँ देने के साथ ही साथ सरकार इनके कर्तव्यों और दायित्वों का भी निर्धारण कर देती है। ये कार्य वह चार्टर के द्वारा करती है, जिसे विशेषाधिकार भी कहा जाता है। इस विशेषाधिकार या चार्टर में स्पष्ट कर दिया जाता है कि इन उपक्रमों के पास कौन–कौन सी शक्तियाँ, विशेष सुविधाएँ और अधिकार होंगे तथा उन्हें

किन–किन कर्तव्यों और दायित्वों को निभाना होगा। ऐसा इसलिए किया जाता है कि ये सुचारू पूर्वक और संतोषजनक ढंग से कार्य कर सकें। ये उपक्रम यदि विशेष अधिकार से संबंधित विनियमों और प्रतिबंधों के अनुरूप कार्य नहीं करते तो उन्हें दिए हुए विशेषाधिकार को वापस लिया जा सकता है।

6. **भारी पूँजी निवेश (Huge capital investment):** इन उपक्रमों में स्थायी परिसंपत्ति के रूप में बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी लगानी पड़ती है। हम मदर डेरी का ही उदाहरण लें जो दिल्ली नगर में दूध देने का काम करती है। इस कार्य के लिए इसे दुग्ध प्लांट और भंडार प्लांट लगाने पड़े हैं तथा इसे अपने पास बहुत बड़ी संख्या में वैन और टैंकर रखने होते हैं। दूध के वितरण के लिए इसने इस नगर के विभिन्न इलाकों में जगह–जगह पर दूध के डिपो भी बनाए हैं। इसे ऐसी व्यवस्था भी करनी पड़ती है कि उपभोक्ता के बीच दूध का समुचित रूप से वितरण होता रहे। इन सभी कार्यों के लिए काफी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार अन्य लोकोपयोगी उपक्रमों में भी स्थायी परिसंपत्ति के रूप में बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी लगानी पड़ती है।

7. **बेलोचदार माँग (Inelastic demand):** लोकोपयोगी सेवाओं की माँग प्रायः लोचहीन होती है। इसका अर्थ यह है कि इनकी कीमतों के घटने या बढ़ने से माँग में कोई परिवर्तन नहीं होता। घरों में काम में आने वाली बिजली का ही उदाहरण लें। प्रति यूनिट इकाई दर के घटने या बढ़ने के बाद भी इसका उपयोग प्रायः पहले जैसा ही बना रहता है। लोकोपयोगी सेवाओं की माँग की निम्नलिखित विशेषताएँ भी हो सकती हैः–

   क) इन सेवाओं को बाँटा नहीं जा सकता, अतः उनकी माँग दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

   ख) ये सेवाएँ अपना विक्रय स्वयं ही कर लेती हैं। इनकी माँग पैदा करने के लिए विज्ञापन देने या सेल्समैनों को रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

   ग) इन सेवाओं के लिए प्रत्यक्ष और व्युत्पन्न ;कपतमबज ंदक कमतपअमकद्ध दोनों ही प्रकार की माँगे होती हैं। बिजली का प्रयोग जब घरों में रोशनी, शीतलन, तापन, पकाने आदि कार्यों के लिए होता है तब यह प्रत्यक्ष माँग की कोटि में आती है। परन्तु कारखानों में इसका उपयोग जब नियंत्रण या उत्पादन के लिए होता है तब व्युत्पन्न माँग की स्थिति होती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष माँग प्रत्यक्ष और तात्कालिक उपभोग की जरूरतों के कारण होती है, जबकि व्युत्पन्न माँग इन्हीं सेवाओं का उद्योग और वाणिज्य संबंधी कार्यों में उपयोग के फलस्वरूप होती है।

   घ) ऐसी लोकोपयोगी सेवाओं के लिए व्युत्पन्न माँग विशेषतः लोचदार तथा प्रत्यक्ष माँग प्रायः लोचहीन होती है। घरों में काम में आने वाली गैस और बिजली के लिए माँग लोचहीन होती है। परन्तु बिजली के बहुत महंगी हो जाने की स्थिति में कारखानों में उसकी माँग घट जाती है।

8. **अहस्तान्तरणीय उपभोक्ता माँग (Non-transferable demand by the customers):** उपभोक्ता की माँग अनंतरणीय होती है। कोई भी उपभोक्ता अपने घर में काम में आने वाली बिजली के उपयोग का अधिकार अपने पड़ोसी को नहीं दे सकता। प्रत्येक उपभोक्ता के लिए आवश्यक होता है कि वह विद्युत

उपक्रम के नियमों और विनियमों का पालन करते हुए अलग से बिजली का कनेक्शन ले।

9. **अंतर्निहित खतरे (Risks involved):** अन्य उद्योगों की अपेक्षा लोकोपयोगी उपक्रमों के कार्यों में कम खतरे होते हैं। ऐसा इसलिए कि अनिवार्य वस्तुओं और सेवाओं की माँग के घटने की संभावना कम होती है। यह तो समय के साथ–साथ बढ़ती ही जाती है। उदाहरणार्थ जल, गैस, दूध, बिजली आदि के लिए माँग घटती नहीं बल्कि जनसंख्या में वृद्धि के साथ–साथ बढ़ती जाती है।

10. **उपक्रम का आकार (Size of the undertaking):** इन उपक्रमों की स्थापना काफी बड़े आकार पर करनी होती है जिससे कि उस इलाके के लोगों की मांगे पूरी की जा सकें। इसके अतिरिक्त इकाई का आकार इतना बड़ा होना चाहिए कि वह किफायती दरों पर सदा आपूर्ति करने की स्थिति में बनी रहे।

11. **स्थान का चुनाव (Choice of site):** लोकोपयोगी उपक्रमों के स्थान के चुनाव के संबंध में इनके संस्थापकों का विशेष हाथ नहीं होता। अपने उद्यमों की स्थापना उन्हें उन्हीं स्थानों पर करनी पड़ती है जहाँ के लिए सरकार अनुमति देती है। इसके अतिरिक्त उन्हें स्थानीय स्थितियों और विनियमों का ध्यान रखते हुए ही कार्य करना होता है।

बोध प्रश्न क.

1. लोकोपयोगी उपक्रमों का अर्थ स्पष्ट करें।

....

....

....

20.4 लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं का संगठन और प्रबंध

लोकोपयोगी उपक्रमों का संगठन इनमें से किसी एक रूप में होता है : (1) पब्लिक या प्राइवेट लिमिटेड कंपनी, (2) सांविधिक निगम (statutory corporation) और (3) सरकार अथवा नगरपालिका जैसे किसी सार्वजनिक प्राधिकरण के विभागीय उपक्रम (departmental undertaking)। जब ये उपक्रम प्राइवेट लिमिटेड कंपनी के रूप में होते हैं तब इनका स्वामित्व और प्रबंध गैर–सरकारी लोगों के हाथ में होता है। परंतु पब्लिक लिमिटेड कंपनी के रूप में संगठित होने की स्थिति में स्वामित्व और प्रबंध सरकार के हाथ में होता है। बहुत बड़े आकार के लोकोपयोगी उपक्रमों का संगठन प्रायः विधान मंडल के विशेष अधिनियम के अधीन सांविधिक निगमों के रूप में होता है।

इस अधिनियम में नियमों और उपनियमों की व्यवस्था होती है जो उपक्रम के संविधान के अंग होते हैं। इसका स्वामित्व और प्रबंध निगम एवं उसके संचालन मंडल (governing board) के हाथों में होता है। अपेक्षाकृत छोटे प्रतिष्ठान कंपनी अधिनियम 1956 के अधीन पंजीकृत होते हैं तथा उनके अपने सीमा नियम (memorandum of association) और अंतर्नियमों (articles of association) होते हैं। यदि किसी लोकोपयोगी प्रतिष्ठान की स्थापना सरकार या नगरपालिका के विभाग के रूप में होती

है तब उसका स्वामित्व सरकार या नगरपालिका के हाथ में होता है और प्रबंध का काम उनके अधिकार करते हैं।

भारत में लोकोपयोगी संस्थाओं को संबंधित सरकार से अनुमति (Licence) लेना आवश्यक होता है। यह लाइसेंस उन्हें एकाधिकार तथा विशेषाधिकार (franchise) प्रदान करता है। लाइसेंस को समय–समय पर नवीकृत कराना होता है, जो इस बात पर निर्भर करता है कि उपक्रम का संचालन संतोषजनक ढंग से हो रहा है या नहीं। विशेषाधिकार के अनुसार उन्हें अधिकार होता है कि आवश्यकता होने पर वे गैर–सरकारी संपत्ति को अपने अधीन ले सकते हैं तथा सार्वजनिक संपत्ति (भूमि, भवन, सड़क, आदि) में दखल दे सकते हैं। उपर्युक्त प्रकार के संगठनों और प्रबंधों के कुछ गुण और दोष होते हैं। परन्तु इनके साथ सार्वजनिक हित भी जुड़े होते हैं अतः इन उपक्रमों के प्रबंध और कार्य संचालन पर सरकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नियंत्रण रख सकती है। इन्हीं कारणों से उचित यही समझा जाता है कि ऐसे उपक्रमों का कार्य संचालन सरकारों (केन्द्रीय या राज्य), नगर पालिका जैसी स्थानीय निकायों (local bodies) या सांविधिक निगमों (statutory corporations) द्वारा हो। उपर्युक्त प्रकार के संगठनों के गुणों और दोषों के संबंध में अब हम संक्षेप में विचार करेंगे।

निजी लिमिटेड कंपनी: जैसा कि आप जानते हैं, प्राइवेट लिमिटेड कंपनी व्यवसाय संगठन का वह रूप है जो कंपनी अधिनियम, 1956 के अधीन पंजीकृत होती है और जिसमें कम से कम दो और अधिक से अधिक 50 व्यक्ति होते हैं। इसके अपने मेमोरेन्डम तथा आर्टिकल्स आफ एसोसिएशन होते हैं। एक ओर तो इसके पास कुछ विशेषाधिकार होते हैं और दूसरी ओर इसे कुछ प्रतिबंधों के अन्तर्गत कार्य करने होते हैं। आप प्राइवेट लिमिटेड कंपनियों की विशेषताओं और उनके निर्माण के संबंध में पढ़ चुके हैं। सड़कों पर माल ढोने का काम प्रायः प्राइवेट लिमिटेड कंपनियों द्वारा होता है। अन्य लोकोपयोगी सेवाओं का गठन भी प्राइवेट लिमिटेड कंपनियों के रूप में किया जा सकता है। इस प्रकार के संगठन की सबसे प्रमुख गुण वस्तुओं या सेवाओं की गुणवत्ता को बनाए रखना है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि जनता के प्रति ऐसी कंपनियों की कोई जवाबदेही नहीं होती।

सार्वजनिक लिमिटेड कंपनी: जैसा कि आप जानते हैं, पब्लिक लिमिटेड कंपनियों का गठन कम से कम सात व्यक्तियों से होता है तथा अधिकतम व्यक्तियों के संबंध में कोई सीमा नहीं होती। प्राइवेट कंपनियों के विपरीत पब्लिक कंपनियों पर शेयरों के हस्तांतरण तथा जनता के बीच अपनी विवरण–पत्रिका को जारी करने के संबंध में कोई प्रतिबंध नहीं होता। आपने पब्लिक लिमिटेड कंपनियों की विशेषताओं और उनके गठन के संबंध में विस्तार से पढ़ा है। इन कंपनियों ने यूरोप, अमेरिका तथा भारत में अनेक प्रकार की लोकोपयोगी सेवाएँ प्रदान की है। भारत में इनके कुछ उदाहरण हैं भारतीय रेल तथा अनेक नगरों के विद्युत पूर्ति उपक्रम (electricity supply undertakings)। लेकिन इनमें दोष यह है कि ये जनता और समाज के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। इनमें से अनेक उपक्रमों का राष्ट्रीयकरण कर दिया है।

विभागीय प्रबंध (Departmental Management): कुछ लोकोपयोगी सेवाओं का संचालन सरकारी विभागों द्वारा होता है जिन पर मंत्रालयों का नियंत्रण और निदेशन होता है। इसके उदाहरण हैं भारतीय रेलवे, जिसका संचालन रेलवे बोर्ड के द्वारा रेल मंत्रालय करता है तथा संचार मंत्रालय द्वारा संचालित डाक और तार, इत्यादि अपने संगठन के विभागीय रूपों के संबंध में विस्तार में पढ़ा है। लोकोपयोगी सेवाओं को इस प्रकार से गठित करने के निम्नलिखित लाभ हैं :

1. इन पर सरकार के जिम्मेदार अधिकारियों का नियंत्रण रहता है।

2. इनकी वित्त व्यवस्था सरकार वार्षिक बजट अनुदानों द्वारा करती है जो संसद या संबंधित राज्य विधान मंडलों द्वारा पारित किए जाते हैं।

3. इनके राजस्व को राजकोष में जमा किया जाता है।

4. जनता के प्रति इनकी जवादेही बनी रहती है क्योंकि उनके संचालन संबंधित रिपोर्ट को संसद या राज्य विधान मंडलों में पेश किया जाता है, जहाँ पर उनके संबंध में बहस होती है।

स्थानीय प्राधिकरणों के स्वामित्व के अधीन और उनके द्वारा संचालित कुछ लोकोपयोगी प्रतिष्ठानों के नाम हैं : बम्बई इलेक्ट्रिक सप्लाई ऐंड ट्रान्सपोर्ट अंडरटेकिंग (BEST), जो बम्बई नगर निगम के स्वामित्व के अधीन तथा उसके द्वारा संचालित होता है तथा दिल्ली इलेक्ट्रिक सप्लाई अंडरटेकिंग (DESU) जो दिल्ली नगर निगम के स्वामित्व के अधीन तथा उसी द्वारा संचालित होता है। इनका प्रबंध नगरपालिकाओं द्वारा निर्वाचित समितियाँ करती हैं। नगरपालिकाओं द्वारा इनके प्रबंध को इसलिए सही नहीं माना जाता है कि यह कार्यजनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों द्वारा होता है। परन्तु नगरपालिकाओं द्वारा नियंत्रण के निम्नलिखित दोष हैं :

1. निर्वाचित सदस्यों में आवश्यक कौशल और क्षमता का अभाव हो सकता है।

2. राजनीतिक वाद–विवाद कभी–कभी लोगों के कष्ट को और भी बढ़ा देते हैं।

3. कभी–कभी कुछ क्षेत्र इतने छोटे होते हैं कि उनमें लोकोपयोगी उपक्रम कुशलता पूर्वक कार्य नहीं कर पाते। प्रचालन के लिए प्रतिबंधित क्षेत्र होने के कारण ऐसे क्षेत्र में प्लांट अपनी अधिकतम क्षमता के अनुसार कार्य नहीं कर पाते जिससे प्रचालन लागत ;वचमतंजपवद बवेजद्ध बढ़ जाती है।

लोक निगम (Public corporation): जैसा कि आप जानते हैं, लोक निगम स्वायत्त निकाय (autonomous body) होते हैं जिनकी स्थापना संसद या राज्य विधान मंडलों के विशेष अधिनियम के अधीन होती है। यह अधिनियम उनके अधिकारों, व्यक्तियों और कार्यक्षेत्र का निर्धारण कर देता है। निगमों पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण नहीं होता। इसके पास अपना वित्त तथा प्रबंध–मंडल होता है। यह संयुक्त पूँजी कंपनी के समान कार्य करता है। फिर भी यह संसद या राज्य विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होता है क्योंकि इसके परीक्षित वार्षिक रिपोर्ट को संसद या राज्य विधान मंडल में पेश किया जाता है। आपने लोक निगमों के संबंध में विस्तार से पढ़ा है। लोक निगमों के रूप में गठित लोकोपयोगी प्रतिष्ठानों में निम्नलिखित गुण होते हैं :

1. इनमें निजी उद्यमों के समान कुशलता और लचीलापन होता है।

2. संसद/विधान मंडल के प्रति ये प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार समुदाय का व्यापक हित सुरक्षित रहता है।

ऐसे प्रतिष्ठानों में निम्नलिखित दोष होते हैं :

1. इनके कार्यों में शासक दल के नेता प्रत्यक्ष रूप से दखल देते हैं।

2. प्रबंध निदेशकों या कार्यपालक निदेशकों की नियुक्ति प्रायः सरकारी अधिकारियों या राजनीतिज्ञों के बीच से की जाती है, जिनके पास व्यावसायिक कार्यों संबंधी ज्ञान और बुद्धि की कमी होती है।

बोध प्रश्न

1. लोकोपयोगी संस्थाओं का संगठन और प्रबंध किन–किन विभिन्न रूपों में होता है?

....

....

....

20.5 लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं की मूल्य निर्धारण नीति

किसी वस्तु की कीमत का निर्धारण मुख्यतः दो कारकों से होता है : (1) उस वस्तु के लिए माँग और (2) उस वस्तु की पूर्ति। लेकिन लोकोपयोगी उपक्रमों से मिलने वाली सभी वस्तुओं और सेवाओं के साथ ऐसा नहीं होता। कीमत–निर्धारण के संबंध में कुछ अन्य बातों का भी बहुत कुछ हाथ होता है। ये उपक्रम जो सेवाएँ देते हैं उनकी कीमतों का निर्धारण सेवा–लागत सिद्धांत ;बवेज व ि मतअपबम चतपदबपचसमद्ध अर्थात् सेवाओं के उत्पादन और उनकी पूर्ति पर होने वाली लागत के अनुसार नहीं होता। इनका निर्धारण तो उपभोक्ता के सामर्थ्य सिद्धांत (What the traffic will bear principle) के आधार पर होता है। आप जानना चाहेंगे कि ऐसा क्यों होता है? नीचे इसी संबंध में चर्चा की जाएगी।

जैसा कि आपको मालूम है, लोकोपयोगी संस्थाओं से मिलने वाली वस्तुएँ और सेवाएँ अनिवार्य वस्तुएँ और सेवाएँ होती हैं। इनका उपयोग अमीर–गरीब सभी करते हैं। अमीर लोग तो इनके लिए कुछ भी कीमत देने को तैयार रहते हैं लेकिन गरीबों की स्थिति भिन्न होती है। इन सेवाओं की कीमतें यदि लागत के आधार पर निश्चित की जाएँ तो उन्हें खरीदने में वे असमर्थ भी हो सकते हैं। अतः सरकार को ऐसे कदम उठाने पड़ते हैं जिससे गरीब लोगों का हित सुरक्षित रहे। यह कार्य वह वस्तुओं और सेवाओं पर इस प्रकार से नियंत्रण करके करती है जिससे निर्धन वर्ग भी उनका उपयोग कर सकें। उपभोक्ता प्रायः उचित कीमत देना चाहता है। इस संबंध में प्रश्न उठता है कि उचित कीमत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर देना आसान नहीं है। उचित कीमत का निर्धारण अनेक बातों पर निर्भर करता है, जैसे उत्पादन लागत, लाभ की उचित दर, उपभोक्ता की भुगतान क्षमता, सामान्य कीमत स्तर में उतार–चढ़ाव आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि कीमत निर्धारण सरल प्रक्रिया नहीं है। इसका निर्धारण काफी सोच–विचार तथा संबद्ध हितों के साथ विचार–विमर्श के बाद किया जाता है। फिर भी लोकोपयोगी उपक्रमों की कीमत नीति संबंधित निम्नलिखित तीन प्रमुख पक्षों पर ध्यान देना आवश्यक है :

1. **संवर्धनात्मक पक्ष (Promotional aspect):** इस पक्ष का संबंध लोकोपयोगी संस्थाओं से मिलने वाली सेवाओं की माँग के संवर्धन के साथ होता है। संवर्धनात्मक पक्ष से अभिप्राय होता है वस्तुओं और सेवाओं की माँग को बढ़ाना। उपक्रम की उत्पादन क्षमता का पूरी तरह से उपयोग करने के लिए माँग को बढ़ाना आवश्यक होता है। इससे उत्पादित वस्तु या सेवा की बहुत बड़ी संख्या के बीच उपरि व्यय (overhead cost) को बाँटने में सहायता मिलती है। आप जानते हैं कि सड़क परिवहन तथा रेलवे जैसी परिवहन सेवाएँ असंख्य

नियमित यात्रियों को रियायती दर पर मासिक टिकटें (मियादी टिकटें) जारी करती हैं।

2. **कीमत विभेद (Price discrimination):** आप पहले पढ़ चुके हैं कि किसी लोकोपयोगी उपक्रम के उत्पादों के लिए माँग कुछ बाजारों में लोचदार तथा अन्य में लोचहीन होती है। परिवहन सेवाओं का ही उदाहरण लें। आम जनता तथा पर्यटकों के लिए बस की माँग लोचदार होती है क्योंकि ये लोग केवल बस पर ही निर्भर नहीं करते। ये तिपहिया स्कूटरों तथा टैक्सियों पर भी सफर करते हैं। लेकिन कार्यालय–कर्मचारियों या छात्रों की बहुत बड़ी संख्या प्रतिदिन बस से ही सफर करते हैं। अतः उनके लिए माँग लोचहीन होती है। इसीलिए परिवहन उपक्रम कार्यालय–कर्मचारियों और छात्रों से कम किराया लेता है तथा पर्यटकों और आम जनता से अधिक। दूसरा उदाहरण विद्युत पूर्ति उपक्रम का है। वे कृषि कार्यों के लिए बिजली की पूर्ति के लिए कम तथा घरों में उपयोग के लिए अधिक चार्ज करते हैं। कुछ स्थितियों में लोकोपयोगी उपक्रम एक बाजार में कम कीमत तथा अन्य में अधिक कीमत ले सकते हैं, या एक वर्ग के उपभोक्ता से कम कीमत तथा अन्य वर्ग के उपभोक्ताओं से अधिक कीमत ले सकते हैं।

3. **सामाजिक विचार (Social consideration):** कुछ लोकोपयोगी संस्थाओं का संबंध लोगों की रोजमर्रा की जिंदगी तथा लोकहित के साथ होता है। इस स्थिति में कीमतों का निर्धारण केवल आर्थिक आधार पर ही नहीं होता। इस संबंध में सामाजिक कल्याण की बहुत बड़ी भूमिका होती है। कम आय वाले उपभोक्ताओं और निर्धन व्यक्तियों को रियायती या इमदारी दर पर सेवाएँ प्रदान की जाती है।

20.6 लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं की विपणन नीति

लोकोपयोगी उपक्रमों की कीमत–निर्धारण नीति अन्य व्यावसायिक फर्मों से भिन्न होती है। इसी प्रकार इन उपक्रमों की विपणन नीति भी अन्य वाणिज्यिक उपक्रमों से कुछ भिन्न प्रकार की होती है। अब हम लोकोपयोगी उपक्रमों की विक्रय एवं विपणन नीति के संबंध में विचार करेंगे :

1. लोकोपयोगी उपक्रमों का संबंध जिन वस्तुओं और सेवाओं के साथ होता है वे जनता के लिए अत्यंत आवश्यक होती है तथा लोगों के बीच उनकी बहुत माँग होती है।

2. लोकोपयोगी उपक्रमों का प्रायः कोई प्रतिस्पर्धी या विरोधी नहीं होता। किसी एक क्षेत्र में किसी विशेष वस्तु की पूर्ति कोई एक ही उपक्रम करता है। अतः इस क्षेत्र में विभिन्न उत्पादकों द्वारा अलग–अलग दर पर कीमतें माँगने का प्रश्न नहीं उठता। ऐसी स्थिति में छूट देने की भी जरूरत नहीं पड़ती।

3. ऐसे उपक्रमों को सरकार विशेषाधिकार प्रदान करती है, जिसके अनुसार उन्हें अधिकार होता है कि आवश्यकता पड़ने पर वे गैर–सरकारी संपत्ति में हस्तक्षेप कर सकें तथा सरकारी संपत्ति (सड़क, भूमि, भवन, आदि) का उपयोग कर सकें।

4. अपने उत्पादों या सेवाओं को बेचने के लिए उन्हें बिचौलियों (middlemen) का आश्रय नहीं लेना पड़ता। इन्हें वे अपने उपभोक्ताओं को सीधे बेचते हैं या अपने

PLONE-029

वितरण जाल के माध्यम से। उदाहरणार्थ, जल पूर्ति, विद्युत पूर्ति और परिवहन उपक्रमों का अपने उपभोक्ताओं के साथ सीधा संपर्क होता है। अतः उनका प्रयास रहता है कि ये उपभोक्ता उनकी सेवाओं से संतुष्ट रहें।

4. वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों को अपनी उधार राशि वसूल करने में कभी–कभी कठिनाई होती है। परंतु लोकोपयोगी उपक्रमों के सम्मुख ऐसी कोई समस्या नहीं होती। उदाहरणार्थ निर्धारित तिथि तक यदि कोई बिजली के बिल का भुगतान नहीं करता है तो विद्युत उपक्रम उसके यहाँ बिजली की लाइन काट देता है। रेल तथा सड़क यात्रा के दौरान तो नकद अदायगी ही करनी होती है अतः इन स्थितियों में उधार का प्रश्न ही नहीं उठता।

6. अन्य व्यवसायिक इकाइयों के समान लोकोपयोगी उपक्रमों को अपनी वस्तुओं और सेवाओं के संबंध में प्रचार करने या विज्ञापन देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। फिर भी अपनी सेवाओं के संबंध में उन्हें जनता को सूचित करना पड़ता है। उदाहरणार्थ परिवहन उपक्रम जनता को बताता रहता है कि विभिन्न रूटों पर उसने कौन–कौन सी नई सेवाएँ चलाई, रूटों में क्या परिवर्तन हुए तथा सेवाओं के समय में क्या परिवर्तन किए गए। इससे इन सेवाओं को उपयोग में लाने में ग्राहकों को सुविधा होती है, जिसके फलस्वरूप ये सेवाएँ अपनी पूरी क्षमता से काम कर पाती हैं।

20.7 सार्वजनिक नियंत्रण और सरकारी विनियमन

लोकोपयोगी उपक्रम जनता के लिए अनिवार्य वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति का काम करते हैं। ऐसी वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति नियमित रूप से करना आवश्यक होता है। यह भी जरूरी होता है कि ये अच्छी किस्म की हो और उनकी कीमतें उचित हों। लोकोपयोगी उपक्रमों की स्थिति एकाधिकारी या अर्ध–एकाधिकारी जैसी होती है। अपनी एकाधिकारी स्थिति का यदि वे दुरूपयोग करने लगे तब क्या परिणाम होगा? मान लें कि जल पूर्ति उपक्रम गंदे जल की पूर्ति करने लगता है। उसका फल होगा हैजा, अतिसार, पीलिया आदि रोगों का प्रसार। उसी प्रकार रेल गाड़ियाँ यदि समय पर नहीं चलती तो लोगों का सामान्य जीवन अस्त–व्यस्त हो जाएगा। कार्यालयों, स्कूलों, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों आदि के काम में कुछ समय के लिए बाधा होगी। अपनी एकाधिकारी शक्ति की आड़ में ये लोकोपयोगी सेवाएँ अपनी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ा भी सकती हैं, जिसे देने में आम जनता असमर्थ हो सकती है। इन्हीं सब कारणों से लोकोपयोगी उपक्रमों के कार्यों पर नियंत्रण और विनियमन करना आवश्यक हो जाता है।

केन्द्र या राज्य सरकारें या स्थानीय प्राधिकरण लोकोपयोगी उपक्रमों के कार्यों का विनियमन करते हैं। इस प्रकार के विनियमन के निम्नलिखित उद्‌देश्य होते हैं :

1. वस्तुओं और सेवाओं की किस्म और उनकी नियमित पूर्ति को बनाए रखना।

2. जनता के हित में उचित कीमत निश्चित करना।

3. उपस्कर और मशीन का उचित रख–रखाव जिससे उनमें अवरोध पैदा न हो तथा जनता को असुविधा न पहुँचे।

सरकार लोकोपयोगी सेवाओं संस्थाओं का विनियमन अनेक प्रकार से करती है। लोकोपयोगी सेवाओं के निजी प्रवर्तकों को सरकार से लाइसेंस लेना होता है। इन

लाइसेंसों में सरकार की नियंत्रक शक्ति की व्यवस्था होती है। इसके अतिरिक्त ऐसी दरें निर्धारित कर दी जाती हैं कि उपक्रमों की नीति जनहित के अनुरूप ही हो। आवश्यकता पड़ने पर सरकार कुछ गैर–सरकारी उपक्रमों का राष्ट्रीयकरण करके उन्हें लोक निगमों या ऐसे बोर्डों के संचालन के अधीन दे देती हैं जिनमें जनता के प्रतिनिधि पर्याप्त मात्रा में हो। लोकोपयोगी उपक्रमों का सरकार के विभागीय उपक्रम का सरकार के विभागीय उपक्रम के रूप में होना प्रायः इसलिए अच्छा माना जाता है कि इस प्रकार इन पर सरकार का सीधा नियंत्रण रहता है। इस तरह लोकोपयोगी उपक्रम जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं क्योंकि ये जनहित की वस्तुओं और सेवाओं के संबंध में कार्य करते हैं। इसलिए अधिकतर देशों में इनका संचालन लोक प्राधिकरणों के द्वारा होता है।

बोध प्रश्न

1. लोकोपयोगी उपक्रमों की कीमत–निर्धारण नीति के प्रमुख पक्षों के नाम बताएँ।

....

....

....

....

20.8 सारांश

लोकोपयोगी सेवा संस्थाएँ ऐसे उपक्रम हैं जो जनता को अनिवार्य वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति करते हैं। उनसे अपेक्षा की जाती है कि किसी प्रकार का भेद–भाव किए बिना वे समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति करें। गैस, जल, बिजली, रेल तथा सड़क–परिवहन, डाक–तार, दूध पहुँचाने आदि जैसी अनिवार्य सेवाओं की पूर्ति कार्य में लगी संस्थाएँ लोकोपयोगी उपक्रमों के कुछ उदाहरण हैं। लोकोपयोगी उपक्रम अन्य वाणिज्यिक उपक्रमों से भिन्न होते हैं। उनमें निम्नलिखित कुछ खास विशेषताएँ होती हैं: (1) वस्तुओं और सेवाओं की अनिवार्यता, (2) सीमित कार्यक्षेत्र, (3) एकाधिकारी या अर्ध–एकाधिकारी स्थिति, (4) सरकार द्वारा विनियमन और नियंत्रण, (5) विशेषाधिकार, (6) अत्यधिक पूँजी निवेश, (7) लोचहीन माँग, (8) उपभोक्ता की अनंतरणीय माँग, (9) कम खतरे, और (10) आकार और स्थान के चुनाव संबंधी सीमित विकल्प।

चूँकि लोकोपयोगी उपक्रम जनहित के लिए होते हैं, अतः वे लोक प्राधिकारी वर्ग (public authority) के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसीलिए उनका स्वामित्व और प्रबंध प्रायः लोक–प्राधिकरण के हाथ में होता है। लोकोपयोगी उपक्रमों के संगठन और प्रबंध के प्रायः चार विकलप हैं: (1) पब्लिक या प्राइवेट लिमिटेड कंपनी, (2) लोक निगम, (3) सरकारी विभाग, और (4) नगरपालिका, बोर्ड या काउंसिल जैसे स्थानीय प्राधिकरण।

लोकोपयोगी वस्तुओं और सेवाओं का कीमत–निर्धारण इनकी माँग या पूर्ति के आधार पर नहीं होता। इसका निर्धारण तो उपभोक्ता के सामर्थ्य के सिद्धांत के आधार पर होता है। साथ ही साथ इस संबंध में सेवा की लागत, कीमत विभेद, संवर्धनात्मक पक्ष तथा सामाजिक विचार जैसे कारकों का भी प्रमुख हाथ होता है। लोकोपयोगी

उपक्रमों की विपणन नीति अन्य वाणिज्यिक उपक्रमों से भिन्न होती है। इन उपक्रमों को अपनी वस्तुओं सेवाओं के संबंध में विज्ञापन देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इनके सम्मुख उधार–वसूली की समस्या भी नहीं होती। कुछ लोकोपयोगी उपक्रमों की वस्तुओं और सेवाओं का विक्रय नकद होता है, अतः इन्हें अशोध्य ऋण के संबंध में चिंता नहीं होती। कुछ स्थितियों में निर्धारित अवधि के अंतर्गत यदि भुगतान नहीं होता तो उधार में सेवा करने से मना कर दिया जाता है। आम तौर पर इनके विक्रय में बिचौलिये की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये उपभोक्ताओं को अपनी वस्तुओं पर सेवाओं का विक्रय सीधे करते हैं।

चूँकि लोकोपयोगी उपक्रमों का संबंध जनता की आवश्यक वस्तुओं के साथ होता है अतः उन्हें सरकारी विनियमन और नियंत्रण के अधीन कार्य करना होता है। सरकारी विनियमन का उद्देश्य यह होता है कि सेवाओं की किस्म बिगड़ने न पाए तथा उचित कीमत पर उनकी पूर्ति निरंतर होती रहे।

20.9 उपयोगी शब्दावली

- **लोकोपयोगी सेवा संस्थाएँ (Public utilities):** वे व्यावसायिक उपक्रम जो जनहित के लिए होते हैं तथा गैस, जल, बिजली, आदि जैसी अनिवार्य वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति करते हैं।

- **सेवा लागत सिद्धांत (Cost of service principle):** किसी वस्तु या सेवा की कीमत का इस आधार पर निर्धारण कि उसकी पूर्ति करने में संबंधित प्रतिष्ठान की कितनी लागत होती है।

- **विशेषाधिकार (Franchise):** सरकार द्वारा किसी लोकोपयोगी उपक्रम को दिया गया अधिकार पत्र जिसमें यह व्यवस्था होती है कि उन्हें क्या शक्ति, विशेषाधिकार या अधिकार पत्र दिए गए है तथा उनके क्या कर्तव्य और दायित्व हैं जिनके लिए वे सरकार के प्रति जिम्मेदार हैं।

- **एकाधिकारी या अर्ध–एकाधिकार स्थिति (Monopolistic or semi monopoistic position):** प्रतिस्पर्धी उद्यमों से प्रतिस्पर्धा का अभाव या एक या दो प्रतिस्पर्धियों का होना।

- **कीमत विभेद (Price discrimination):** एक ही वस्तु के लिए विभिन्न बाजारों में या एक ही बाजार में विभिन्न ग्राहकों से अलग–अलग कीमतें लेना।

- **उपभोक्ता–सामर्थ्य सिद्धांत (Principle of what the traffic will bear):** किसी वस्तु या सेवा की कीमत का इस आधार पर निर्धारण कि उपभोक्ता कितना मूल्य दे सकता है।

- **सार्वजनिक दायित्व (Public accountability):** अपने कार्य निष्पादन के संबंध में संसद या राज्य विधान मंडलों के प्रति लोकोपयोगी प्रतिष्ठानों उत्तरदायित्त्व का।

- **सार्वजनिक जवाबदेही:** संसद या राज्य विधान मंडल के विशेष अधिनियम द्वारा निर्मित स्वायत्त निगमित निकाय, जिसके कार्यों और शक्तियों का स्पष्टीकरण कर दिया गया हो।

- **भारत के नियंत्रक और महालेखापरीक्षकः** सरकारी संगठनों के लेखा के अंकेक्षण के लिए भारत के संविधान अधीन एक प्राधिकारी।

20.10 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. लोकोपयोगी संस्थायें क्या हैं? उनकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें।

प्रश्न 2. लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं की कीमत नीति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालें।

प्रश्न 3. ''लोकोपयोगी उपक्रमों की विक्रय और कीमत नीति अन्य संगठनों से भिन्न होती है''। इस कथन पर प्रकाश डालें।

प्रश्न 4. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि लोकोपयोगी उपक्रमों का स्वामित्व और प्रबंध गैर–सरकारी हाथों में होना चाहिए। यदि हाँ, तो क्यों?

प्रश्न 5. निम्नलिखित को संक्षेप में स्पष्ट करें :

क. लोकोपयोगी उपक्रम

ख. लोकोपयोगी सेवा संस्थाओं की एकाधिकारी स्थिति

ग. विशेषाधिकारी (Franchise)

घ. लोकोपयोगी उपक्रमों के सम्मुख समस्याएँ

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

- यदुकुल भूषण एवं ओ0पी0 अग्रवालः फण्डामेन्टल्स ऑफ बिजनेस आर्गनाइजेशन एण्ड मैनेजमेंट : सुल्तान चंद एंड संस, नई दिल्ली।
- जी0एल0जोशी, जी0एल0 शर्मा, एल0एस0सी0 जोशीः व्यावसायिक संगठनः श्री महावीर बुक डिपो, दिल्ली।
- प्रो0 जगदीश प्रकाशः पब्लिक इण्टरप्राइजेज इन इंडियाः प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
- प्रो0 जगदीश प्रकाशः राज्य एवं व्यवसायः प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
- ऐडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स कमीशनः रिपोर्ट ऑफ दी स्टडी टीम ऑन पब्लिक सेक्टर अंडर टेकिंग्स, नई दिल्लीः गवर्नमेंट ऑफ इंडिया,।
- घोष पी0के0: पब्लिक इंटरप्राइजेज़ इन इंडियाः कलकत्ता, बुक वर्ल्ड,
- पदमाकर स्थानाः व्यावसायिक संगठन प्रबन्ध एवं प्रशासन, साहित्य भवन, आगरा।

- यदुकुल भूषण एवं ओ0पी0 अग्रवालः व्यावसायिक संगठन के सिद्धांतः सुल्तान चंद एंड संस, नई दिल्ली।
- बी0पी0 सिंह एवं टी0एन0 छाबड़ाः व्यावसायिक संगठन एवं प्रबंध का परिचयः किताब महल, इलाहाबाद।
- जी0एल0 जोशी, जी0एल0 शर्मा एवं एस0सी0 जोशीः व्यावसायिक संगठन एवं प्रबंध : श्री महावीर बुक डिपो, दिल्ली।

रफ कार्य

PLONE-029

रफ कार्य